जैनेन्द्र साहित्य और समीक्षा

लेखक
डा० रामरतन भटनागर

१९५४
साहित्य प्रकाशन, दिल्ली

प्रकाशक
साहित्य प्रकाशन
मालीवाड़ा दिल्ली

मूल्य
सात रुपया पचास नये पैसे

मुद्रक
रामा कृष्णा प्रेस
कटरा नील
दिल्ली।

जैनेन्द्र साहित्य और समीक्षा

साहित्य प्रकाशन का आलोचना-साहित्य

हिन्दी एकांकी उद्भव और विकास	डा० रामचरण महेन्द्र	१२-५०
आचार्य कवि केशव	प्रो० कृष्णचन्द्र वर्मा	३-००
काव्य विवेचन	प्रो० सुरेशचन्द्र गुप्त	६-००
हिन्दी काव्य-दर्शन		६-००
साहित्य का स्वरूप		२-५०
रवीन्द्र साहित्य और समीक्षा	अवधप्रसाद वाजपेयी	३-००
जैनेन्द्र साहित्य और समीक्षा	डा० रामरतन भटनागर	७-५०
हिन्दी उपन्यास उद्भव और विकास		प्रेस में
प्रसाद साहित्य और समीक्षा	डा० रामरतन भटनागर	६-००
टैगोर साहित्य दर्शन	टैगोर	२-५०
साहित्यिक निबन्ध	यज्ञदत्त शर्मा	प्रेस में
हिन्दी कहानी उद्भव और विकास	"	प्रेस में
उपन्यासकार यज्ञदत्त शर्मा	श्री नरोत्तम नागर	प्रेस में

१

जैनेन्द्र की साहित्यिक विचारधारा

जैनेन्द्र के साहित्यिक व्यक्तित्व में विचारक और सर्जक दोनों इतने मिले-जुले सामने आते हैं कि दोनों को अलग करना कुछ कठिन ही है। वास्तव में उनके साहित्यिक व्यक्तित्व में विचार-पक्ष की इतनी प्रधानता हो गई है कि सर्जना का पक्ष दबा हुआ दिखलाई देता है। वह चिन्तन से भाव की ओर बढ़ते हैं भाव से चिन्तन की ओर नहीं। फलतः उनका साहित्य चिन्तनधर्मी है और रागात्मकता की मनोनिष्ठ और स्वाभाविक भूमि पर उसका विकास नहीं हो पाया है। इसीलिए वह कुछ रहस्यमय और अबूझ भी हो गया है। परन्तु इसीलिये यह भी आवश्यक हो गया है कि जैनेन्द्र के साहित्य की चिन्तनधर्मी पृष्ठभूमि को पहले संपूर्ण रूप से समझ लिया जाय और उनकी विचारभूमि की विशेषताओं और सीमाओं को स्वीकार कर के ही उनके साहित्य की परख की जाय।

जैनेन्द्र की विचारात्मक पृष्ठभूमि बड़ी व्यापक है और उनके निबंधों वार्ताओं प्रश्नोत्तरों और रेखाचित्रों में उसका विस्तार है। उनके साहित्य के अध्येता के लिए इस व्यापक पृष्ठभूमि से परिचित होना आवश्यक हो जाता है। परन्तु जैनेन्द्र का वैचारिक व्यक्तित्व उनके सर्जनात्मक साहित्य का निर्माण करता हुआ भी उससे बहुत कुछ अलग है और स्वतन्त्र रूप से अध्ययन का विषय बन सकता है। यहाँ हमें उनके उन विचारों को ही लेना है जो साहित्य कला और तत्सम्बन्धी जिज्ञासाओं से सम्बन्धित हैं और जिनका उनके कथासाहित्य पर सीधा प्रभाव है। जैनेन्द्र के विचारों का यह पक्ष उनके "साहित्य का श्रेय और प्रेय" ग्रंथ में सम्पूर्ण रूप से आ गया है। वैसे अन्य प्रकीर्णक सामग्री से भी उसकी पुष्टि की जा सकती है। हमें यह देखना है कि कला और साहित्य उनकी प्रक्रियाओं उनके विभिन्न पक्षों मुख्यतः उपन्यास कहानी और उनके उद्गम और लक्ष्य के संबंध में जैनेन्द्र को क्या कहना है। यह सम्भव है कि उनके साहित्य-सम्बन्धी मत उनके गंभीर चिन्तन के फल हैं और कालक्रम में सृजन के बाद ही वे पल्लवित हुए हैं परन्तु इसमें संदेह भी नहीं कि जैनेन्द्र ने अपने साहित्य को सामने रखकर ही उन्हें पल्लवित किया है और उन्हें हम एक प्रकार से उनके साहित्यिक [illegible]" के रूप में ग्रहण कर सकते हैं।

प्रारम्भ में हमें यह ध्यान रखना होगा कि जैनेन्द्र साहित्य को उपयोगितावादी दृष्टि से नहीं देखते। उनका प्रादुर्भाव छायावाद-युग में हुआ और साहित्य में व्यक्तित्व की पुकार उनके लेखों में भी उसी प्रकार सुनी जा सकती है जिस प्रकार प्रसाद पंत और निराला में हम उसे पहली बार सुनते हैं। परन्तु जहाँ स्वच्छन्दतावादी काव्य के प्रमुख कवि और उनके पोषक आलोचक अपने व्यक्तिवाद की परिसमाप्ति कलावाद में करते हैं और कला को ही अंतिम लक्ष्य मानते हैं वहाँ जैनेन्द्र अपने कलावादी मंतव्य पर अध्यात्मवाद का आरोप करते हैं और इस प्रकार उसे रहस्यमय और अबूझ बना देते हैं। उन्होंने अपनी साहित्य और कला की व्याख्या में विशेषतः उनके मूल स्रोतों और तत्वों पर विचार करते हुए अपने युग की मनोवैज्ञानिक उपलब्धियों को भी अंशतः स्वीकार कर लिया है और फ्रायड के अवचेतनवाद और कामविज्ञान को भी महत्व दिया है। इस तरह उनकी दृष्टि अध्यात्म और मनोविज्ञान की दो विरोधी और भिन्न स्तरों की मान्यताओं में उलझकर अस्पष्ट हो गई है। जैनेन्द्र का व्यक्तित्व और उनकी विशिष्ट कला ही इन दो विरोधी तत्वों को जोड़ते हैं।

कला

कला को जैनेन्द्र व्यवहारोपयोगिता के विपरीत में रखते हैं और उसका ध्येय केवल आनन्द भोग बतलाते हैं। प्रयोजनीय जो नहीं जो केवल सुन्दर होकर ही हमारे लिए सार्थक है वही कलामय है कला की चीज है। वृन्त पर खिला हुआ फूल केवल खिल कर ही कलाकार के अपार आह्लाद का विषय है। व्यवहार के लिए उपयोगिता मात्र सत्य है कला के लिए सौन्दर्य ही सत्य है।

विज्ञान को भी उन्होंने कला के विरुद्ध रखा है। विज्ञान का बल है तर्क-संगति बुद्धि-वैभव विश्लेषण। कला भीतर के आनन्द-बोध द्वारा अंतरंग अनुभूतियों के सूक्ष्म तन्तुओं द्वारा सत्य को हृदयंगम करती है। उसके लिए सत्य ज्ञेय नहीं प्रेय है। कला में बुद्धि का उपयोग नहीं यह बात नहीं परन्तु बुद्धि अंताम पर समाप्त होती है। कला अज्ञान है परम आस्तिक है नास्तिक होने पर भी आस्तिक है। इसीलिए वह हमें इतनी नहीं कर्मण्य बनाती है। कला क्या है पृ० ११ १७ परन्तु यह कर्मण्यता भाव की है कर्म की नहीं। कलावादी एक सूत्र की चर्चा बराबर करते हैं सत्यं शिवं सुन्दरं। जैनेन्द्र ने इसी नाम से एक लेख लिखकर तीनों के भेद को समझाया है।— "वे कलात्मक प्रवृत्तियाँ जिनका लक्ष्य सुन्दर है उन वृत्तियों के साथ समन्वय पावें जिनका लक्ष्य कल्याण-साधन है। दूसरे शब्दों में कला नीति-समन्वित हो। धर्म का आधार यही समन्वय नहीं —"धर्म अर्थात् प्रेम-धर्म। सत्यं शिवं सुन्दरं पृ ६२ ६६ भय वर्जित है शिव उससे सरल सुन्दर और भी सहज स्वाभाविक। अतः सत्य की उपासना के लिए सुन्दर से चलना है। कला सुन्दर की उपासिका है। परन्तु वह शिव

की उपेक्षा नहीं कर सकती। विज्ञान केवल मात्र सत्य का उपासक होने के कारण किसी भी प्रकार की मर्यादाओं से ऊपर है। वह जीवन की रंगीनी नहीं देखता उसका आनन्द और उपभोग का पक्ष नहीं देखता। नैतिक-अनैतिक के प्रश्न में नहीं पड़ता। परन्तु कला नीति को लेकर चलती है। यह उसकी टेक है। नहीं तो वह विज्ञान है कला नहीं है।

परन्तु नैतिकता को स्वीकार कर कलाकार आत्म-नियंत्रण को स्वीकार करेगा किसी बाहर के नियंत्रण को नहीं। कला में तात्कालिकता और उपयोगिता से ऊपर उठ कर सब देश सब काल को छूने की जो क्षमता है वही कला का अमरत्व है उसका बल है। कला के द्वारा लोक-मंगल की साधना की बात भी कही जाती है। परन्तु जैनेन्द्र इस लोक-मंगल को कोई "वाद" नहीं मानते। सौन्दर्य के भीतर से कला लोक-जीवन को जो संस्कार देती है, वह लोक-मंगल का साधन नहीं तो और क्या है ? उससे अलग या उससे बढ़कर और किस लोक-मंगल की आकांक्षा की जाय। 'कला-नियंत्रण पृ० २१८-२२१ जैनेन्द्र के विचार में कला की सार्थकता यही है कि वह बंधनों से उत्तीर्ण करने वाली हो स्वयं निरंकुश हो अपने ऊपर बंधन लेकर नहीं चले। 'साहित्य और कला पृ २२७-२३०।

श्री प्रभाकर माचवे को लिखे पत्रों में जैनेन्द्र ने कला और जीवन के सम्बन्ध में विशद व्याख्या उपस्थित की है। उनके मत में कला मात्र स्वरूप नहीं है। वह "वास्तव" "यथार्थ" से पुष्ट होती है "वास्तव" को संस्कृत करती है। उसमें भावी बोध रहता है। उसमें आत्मदान है। वह सुधार, उपकार, नीति और धर्म से बँधी नहीं है। यद्यपि वह इन्हें ही अपने ढंग पर पुष्ट करती है। फिर वह कलाकार से अलग अभिन्न भी नहीं है। कलाकार का व्यक्तित्व या अस्तित्व' ही उसकी कला में ध्वनित और चित्रित होता है। परन्तु यह अहेतुक रूप से। इसलिए, कि ऐसा तो उसे होना ही है। 'कला और जीवन पृष्ठ ४२८ ४३०।

इस प्रकार यहाँ भी कलाकार के व्यक्तित्व के माध्यम से कला और 'वास्तव" या 'लोक-जीवन का नाता जोड़ा गया है। सच तो यह है कि जैनेन्द्र कला को अंतरंगी वस्तु मानते हैं बहिरंगी नहीं। बाहर भी भीतर का ही प्रसार है, ऐसी उनकी मान्यता है। इस मान्यता से बच कर कला कलाकार और लोक-जीवन का समीकरण उपस्थित करने में उन्हें सहूलियत हो जाती है। 'कला क्यों" का प्रश्न इसी समाधान से उन्होंने सुलझाया है यह कह कर कि लेखक की महत्ता यही है कि जो उसमें सुन्दर है शिव है सत्य है—जो उसमें उत्कृष्ट है और विराट् है उसी को वह सबको अर्पण दे जाय। उसे अपना और अपने नाम का मोह न हो वह अपने आदर्श के प्रति सच्चा हो स्वत्व के प्रति मरा हो। उसका आदर्श हो अन्तर फिर विराजे पूजनीय हो—इसी में लेखक की संतृप्ति है सफलता है और सार्थकता है। जिसके लिए लिखे,

पृ० २८२ ऐसा कहने से 'सत्य शिव सुन्दर' की खोज बाहरी जगत् की खोज न होकर कलाकार के अपने भीतर की खोज बन जाती है और तब कला आत्मनिष्ठ अपने प्रति ईमानदारी का ही दूसरा नाम है।

एक वर्ग कला का सम्बन्ध "टैकनीक" से जोड़ता है। जैनेन्द्र इस अर्थ से सहमत नहीं हैं। उन्होंने कहा है "टैकनीक दिखावा है अपने अन्दर का।" 'विविध' पृ० ११७। एक दूसरे स्थान पर उन्होंने यों भी कहा है "टैकनीक तो होती भी है और नहीं भी होती। वह तो अपने आप ही बन लेती है। इसके लिए खास प्रयत्न नहीं करना पड़ता। यदि हमारी अनुभूति सत्य है तो हम निस्सन्देह सही रास्ते पर आयेंगे।" 'कहानी कला' पृ० १७८ उन्होंने 'टैकनीक' को 'रूप' भी कहा है और इस 'रूप' में भाषा शैली मुहावरे व्यंजना के साधन भी आ जाते हैं। इस प्रकार "टैकनीक" बहिरंगी वस्तु है जो अन्तरंग से जुड़ कर ही सार्थकता प्राप्त करती है। शरीर आत्मा को प्रकट करे, तभी सार्थक है। कोरी साज-सज्जा आत्मा के प्रति अपमान भी कर सकती है। अलंकारों की परिसज्जा में भुलाकर हम आत्मा के प्रति उदासीन हो जाते हैं। स्पृहणीय वस्तु है भीतर का भाव आत्मा का उल्लास अपरिहीन सहानुभूति। केवल शिल्प-कौशल स्पृहणीय वस्तु नहीं है। जैनेन्द्र के शब्दों में "शिल्प चमत्कारक नहीं है। कारीगरी को छोटी चीज नहीं समझा जा सकता। लेकिन उससे किनारे बनते हैं नदी का पानी नहीं बनता।" 'मैं और मेरी कला' पृ० १२२ में इसी दृष्टिकोण को विकसित करते हुए उन्होंने भीतरी अनुभूति के प्रति सचाई को कला की पहली आवश्यक शर्त माना है।

साहित्य

जैनेन्द्र के अनुसार 'प्रगतिशील अनुभूतिशील जीवन का लिपिबद्ध व्यक्तिकरण साहित्य है।" 'साहित्य क्या है' पृ० १९ 'वह व्यक्तिगत तृष्णा के बनने अहंभाव अहंकार, से शुरू होता है और समस्त विराट् का भीतर समेटने की आकांक्षा लेकर चलता है। उसके एक छोर भेद है दूसरी छोर अभेद है। विराट् से एक होकर अपने भीतर भी विराटता की अनुभूति जगाने की व्यग्रता "धर्म कला साहित्य और विज्ञान को जन्म देती है" यह जैनेन्द्र का कहना है। इस प्रकार साहित्य के द्वारा क्षुद्र विराट् बनता है। "स्व" "पर" हो जाता है। यही आत्मलाभ साहित्य का ध्येय होना चाहिए। परन्तु यह आत्मलाभ बुद्धि द्वारा संभव नहीं है। अभेद की अनुभूति को भी मनुष्य बुद्धि में ग्रहण करता है परन्तु वह उसे अपने व्यक्तित्व का अंग बनाकर उसे आचरण का विषय नहीं बना पाता है। जैनेन्द्र के शब्द हैं "मानव की चरम सिद्धि है मानव को विश्व के साथ एकाकार कर देना और विश्व को अपने भीतर प्रतिष्ठित देख लेना। बुद्धि के उपयोग द्वारा भी वह मनुष्य को अभेद अनुभूति तक पहुँचा

है। परन्तु मानव-बुद्धि उस तक की वस्तु है जहाँ का सत्य विभेद है अभेद नहीं। वह अन्वय द्वारा चलती है खंड-खंड करके संसार को समझती है। अहंकार उसकी भूमिका है और प्रेम का पार्थक्य उसकी शर्त।" 'साहित्य क्या है' पृ० १८ तात्पर्य यह है कि खंड कीअनुभूति मात्र मत बुद्धि का विषय है, अखण्ड अथवा विराट् की अनुभूति भाव का विषय है। मनुष्य अपने में सिमट कर क्षुद्र है तो सबसे संबंध जोड़कर विराट् का बनकर स्वयं विराट् है। यह सबका बनना ही मनुष्य की अनन्य साधना है। उसकी प्राप्त्योपलब्धि है। इसे हृदय के रस-बोध में प्रेम में पाना होगा। वहीं साहित्य आता है जो रस-बोधक देता है प्रेम देता है। अहंकार की टेक बना कर अपने को क्षुद्र और सबसे पृथक् करके मनुष्य सब प्रकार की समस्याएं खड़ी करता है। सब कुछ पाकर भी वह कुछ नहीं पाता। उसके भीतर एक अतृप्ति बनी रहती है। वह अभेद की अनुभूति चाहता है। विराट् से एक होकर अपने भीतर भी विराटता की अनुभूति जगाने की पीड़ा उसमें जाग्रत होती है। यहीं से धर्म कला, साहित्य सब उत्पन्न होते हैं। मनुष्य की सारी कलात्मक चेष्टाओं के पीछे जैनेन्द्र ने अभेदत्व की यही पीड़ा देखी-परखी है। उनके शब्दों में 'मनुष्य की मनुष्य के साथ, समाज के साथ राष्ट्र और विश्व के साथ और इस तरह स्वयं अपने साथ जो एक सुन्दर सर्वांगसता समरसता समस्वरता 'हारमोनी, स्थापित करने की चेष्टा चिरकाल से चली आ रही है वही मनुष्य जाति की समस्त संग्रहीत निधि की मूल है। मानव जाति की इस अनन्त निधि में जितना कुछ अनुभूति आप्कार लिपिबद्ध है वही साहित्य है। 'वही' पृ० ८०।

"विज्ञान और साहित्य" शीर्षक निबंध में जैनेन्द्र ने विज्ञान और साहित्य के विभेद को स्पष्ट करते हुए दोनों की मौलिक समानता पर बल दिया है। विज्ञान सत्य है, साहित्य स्वप्न। मनुष्य के विकास की आरम्भिक अवस्था में सत्य और स्वप्न में कोई अंतर नहीं था। फलस्वरूप प्रारम्भ में विज्ञान अनुभूतिमय ही रहा और रूपकों कहानियों और श्लोकों द्वारा उसे प्रगट किया गया। बहुत पीछे जाकर उसने व्यवस्थाबद्ध विज्ञान का रूप ग्रहण किया और अनुभूति का तत्व विज्ञान से निकल गया। वह तथ्य मय बन गया। जैनेन्द्र का कहना है कि जहाँ विज्ञान की परिणति है वहाँ केवल बुद्धि का व्यापार नहीं है वहां वह 'सर्वथा प्रज्ञामय रहस्यमय और मानो ईश्वराभिमुख है।" 'विज्ञान और साहित्य' पृ० ८४। इस प्रकार विज्ञान अपने आरम्भ और अंत में साहित्य से अभिन्न है। इस संबंध में उनकी साहित्य-संबंधी धारणा यह है कि वह शुद्ध अनुभूतिमय है उसमें सृष्टा ज्ञाता ही नहीं बरन् वह अपनी सृष्टि से तदाकार है। वास्तव में साहित्य में सृष्टा और सृष्टि की एकता है। विज्ञान का जानना आरम्भगत होता है साहित्य का जानना स्वयं परिणति है अपने को पाना है अतः आत्म-परिणति है जो अनुभूतिमयी चेतना है।

जैनेन्द्र ने साहित्य मे महत् स्वप्न और सूक्ष्म यथार्थ का गठबन्धन देखा है।

उन्होंने साहित्य में सृजनशील कल्पना को अनिवार्य माना है। बाह्य यथार्थ उसका अनुगामी है। साहित्यकार के स्वप्न ही यथार्थ को गति और दिशा देते हैं। स्वप्न के संपात के बिना वस्तु-सत्य निष्क्रिय पदार्थ है। वह आत्मनिष्ठ या स्वप्ननिष्ठ बनकर ही गतिमान् बनता है। यह कहा जाता है कि नग्न यथार्थ साहित्यकार को कुण्ठित कर देता है उसे असमर्थ बना देता है। जीवन में इतना कुछ कठोर है कि हम प्रताड़ित हो जाते हैं। जैनेन्द्र का दृष्टिकोण इसके विपरीत है। उनका कथन है "जिसने स्वप्न में सत्य के दर्शन किये वह यथार्थ की विकटता से कैसे निरुत्साहित हो सकता है। उसका तो उसके निकट भ्रम-जैसा भी मूल्य नहीं। असमर्थता की बात हो इस तरह उसे दुस्साध्य हो जानी चाहिए। श्रद्धा जिसके पास है असमर्थता फिर उसके पास कैसे फटक सकती है?" 'स्वप्न और यथार्थ' पृ० ४८-४९। "साहित्य की सचाई" में यही बात और भी स्पष्टता से कही गई है। सत्य हमें स्तब्ध कर देता है दुख देता है। तब हमें श्रद्धा की "रस" की आवश्यकता का अनुभव होता है। वही "श्रद्धा" अथवा वही "रस" साहित्य हमें देता है। तथ्य बाहर है, परन्तु उसकी कुंजी "रस" है आनन्द है जो मनुष्य के हृदय के भीतर ही है। सूत्र है 'ज्ञान जानने में नहीं वैसा बनने में है। 'मासेव इव वीर न। असली आत्मा जाता है तद्रूप तन्मय हो जाता है।" 'साहित्य की सचाई' पृ० ७९, "साहित्य हमें मनुष्यता की परिभाषा नहीं देता, हमें मनुष्य बनाता है। प्राणी-मात्र के सुख-दुख से तद्रूप होकर ही हम मनुष्य हो पाते हैं। यही साहित्य की चरम उपादेयता है।"

यह स्पष्ट है कि यहाँ जैनेन्द्र रोमांटिक कलाकारों के साथ हैं। वह अपने भीतर की वेदना को ही सत्य मान लेते हैं। उसी को पाना उनका ध्येय हो जाता है। छायावादी कवि की भूमिका पर से उन्होंने कहा है "व्यक्ति को वेदना की दुनिया पाने दो और पाकर उसे व्यक्त करने दो जिससे कि लोगों के छोटे-छोटे दिल दर्द से भुनिए जावें और प्रेम से भरकर वे अनन्त मूल्य की ओर उठें।" वही पृ० ८०। इस "वेदना की दुनिया" से यदि उनका तात्पर्य प्रेम की पीड़ा से है तो वह रहस्य-साधना का विषय है साहित्य का नहीं। परन्तु जैनेन्द्र की विचारधारा की यह विशेषता है कि वह सीमान्त नहीं मानती और इतर धर्म साहित्य-चिन्तन और जीवनानुभूति की विभिन्न दिशाओं को "अखिलत्व" "ईश्वर" "अभेदत्व" "आत्मदान" जैसी अमूर्त इकाइयों में पर्यवसित कर देती है—विशेषतया वे उनके भीतरी बोध को पकड़ना धर्म सब है। जहाँ दृष्टिकोण यह है वहाँ न कल्पना है न परलीनता न कुछ भाव-प्रभाव। सब आत्मदान का साधन मात्र है। इस आत्मदान का एक रूप यह है कि साहित्य हमारे लौकिक अज्ञान और अहंभाव को दूर कर हमारे हृदय और प्राण को प्रशस्त करता है। दूसरे, वह खुली हवा के आने में वहाँ तक आने-जाने के लिए राह खोलता रहता है। वह मन को शान्तिशील बनाता है। जैनेन्द्र सुख और तृप्ति को

साहित्य का ध्येय नहीं मानते। साहित्य सीधी पोषक और मौलिक या आधारभूत चीज है घटनी नहीं है। 'जीवन और साहित्य' पृ० ८५, ऐसा क्यों है ? ऐसा इसलिए है कि साहित्य का अपना उद्देश्य है।"

इस उद्देश्य की व्याख्या "साहित्य का उद्देश्य" निबंध में मिलती है कि "साहित्य यह बुद्धि के द्वारा या सत्ता के कचन के या कामिनी के रास्ते से हमारे जीवन में जो फाके या द्वन्द्व पैदा हो जाते हैं, साहित्य का काम उनका संयोजन है, भिन्न मिटाना है।" 'साहित्य का उद्देश्य पृ ८८। यही जैनेन्द्र के साहित्य का मूलमंत्र भी हमारी पकड़ में आता है कि "साहित्य वह है जो यथार्थ नहीं मींचना चाहता पर स्वप्न तो आदर्श के ही लेता है। इसी प्रकार के त्याग द्वारा योग का उपनिषद् ने भी विधान किया है। साहित्य इस प्रकार आदर्श को यथार्थ से और यथार्थ को आदर्श से सावता और जोड़ता रहता है।" 'वही।

इन्हीं तथ्यों और मान्यताओं को जैनेन्द्र के 'साहित्य की कसौटी' शीर्षक रूपकात्मक निबंध में इस प्रकार निरूपित किया गया है

तो मैं यह मानता हूँ कि—

१—जीवन एक है। जीवमात्र एक है।

२—वह एकता हमें अगोचर है बीच में अहंकार का पर्दा है।

३—जान-अनजाने हमारे अहं की परिधि बढ़ती जा रही है। जितनी परिधि बढ़ती है उतना ही अहंकार हलका होता है।

४—अहंकार, विग्रह विद्वेष मद और मत्सर आदि विकारों को जन्म देता है।

५—अहंकार की क्षीणता में स्नेह बंधुता नम्रता सरलता आदि गुण प्रगट होते हैं।

६—स्वराज और परात्मोपन की वृत्ति यहं जन्य है।

७—साहित्य इस वृत्ति को मंद करता और मन को उदार बनाता है।

८—बहु-लोक-हितैषय की भावना में से आता है और उसी भावना को जगाता है।

९—इसलिए साहित्य की कसौटी वह संस्कारशील है जो हृदय से हृदय का मेल चाहती है और एकता में निष्ठा रखती है। सहृदय का चित्त मुदित करता है वह साहित्य खरा। संकुचित करता है वह खोटा। सहृदय का लक्षण करने की आवश्यकता नहीं है। जो पर दुखकातर है उसका जीवन अनायास सेवापरायण होता है।" पृ १३२-१३३।

साहित्य के इस ऊँचे ध्येय को लेकर चलने से अनेक मान्यताएँ अपने आप फूटती हैं जैसे जैनेन्द्र प्रेमचंद की तरह साहित्य को राजनीति से बड़ा ही नहीं

राजनीति का संचालक मानते हैं। 'राजनीति का संशोधक साहित्य' पृ० १०४-११०। वह विषयगत अश्लीलता के समर्थक नहीं हैं। वह घृणा को ही मात्र अश्लील मानते हैं। साहित्य और नीति' पृ० १२० उनका कहना है कि "घटना-घटना होती है। अपने आप में न वह अश्लील होती है न शिष्ट। हमारा उस घटना के साथ क्या नाता है उसके प्रति क्या वृत्ति है—अश्लीलता इस पर निर्भर है। वही पृ० १२१। "अश्लील और अश्लीलता' शीर्षक निबंध 'पृ० ४०५-४१५ में इस मन्तव्य का विस्तार पूर्वक समझाया गया है। स्वयं जैनेन्द्र की रचनाओं विशेषतया 'सुनीता' की नग्नता के संबंध में यह प्रश्न उठा है। इस प्रश्न पर जैनेन्द्र के समाधान को समझ लेना आवश्यक है।

जैनेन्द्र का विचार है कि अश्लीलता यदि है तो वस्तु में नहीं व्यक्ति में है। व्यक्ति में भी अश्लीलता का मूल तथा-कथित पापाचार या वीर्य-नाश में नहीं है। अश्लीलता छल के साथ है। "जहाँ शरीर-संबंधी असत्य है उसके वर्णन में विचार में व्यवहार-व्यवहार में दर्शन-स्मरण में असत्य है कपट है वही अश्लीलता है।" अश्लील और अश्लीलता' पृ० ४११। उनका कहना है कि शरीर-व्यवहार स्वयं साध्य नहीं है मनोवृत्तियों को समझने-समझाने अथवा उससे भी आगे बढ़कर उनके भीतर से आत्म-धर्म की खोज या प्रतिष्ठा का प्रयास है वहाँ अश्लीलता नहीं है। महान् साहित्य में ऐसे अनेक स्थल आते हैं जहाँ शरीर-धर्म को निःसंकोच भाव से कह दिया गया है। वही स्थल आत्मस्फूर्ति और धर्म-प्रेरणा के भी स्रोत बन सकते हैं। फिर उनमें अश्लीलता नहीं होगी। इसी से जैनेन्द्र अश्लीलता की व्याख्या मन की भूमि पर से करते हैं "जो अश्लील है उसमें या तो दुराचारी है या सीनाजोरी। वहाँ या तो चुनौती के साथ खोखलेपन से शरीर का निरंकुश वर्णन होगा नहीं तो धर्म के तक आडम्बर के पीछे भाव-लपेट के साथ ऐसा कुतूहल पैदा करने की बात होगी। जहाँ दाँव-पेंच सूचन है जहाँ ठाठ से काम लिया गया है वहाँ दौरान चाहे फिर भगवान के ही हों विशाप काम में लाए गए हों वहाँ अचूक अश्लीलता है।" वास्तव में मन का दारिद्र्य ही अश्लीलता को जन्म देता है। उसमें ही दम्भ और दर्प का निवास है। समाज-निषिद्ध कर्म में अश्लीलता नहीं है परन्तु कहीं-कहीं सत्य के आग्रह से समाज-निषिद्ध कर्म भी श्लील बन जाता है ऊपर से चाहे वह कितना अश्लीलता दिखाई दे। इस प्रकार श्लील अश्लील की जाँच धर्म की सूक्ष्म जाँच है। अश्लील देह की नहीं मन की है अंतःकरण की पाप-परायणता है कपटाचार है। ऐसे वेश्या भी अश्लील नहीं है। धर्म के सूक्ष्म संदर्भ में ही इसे समझना होगा। इस दृष्टि से अश्लीलता कम या बेश होगी। इसी से जैनेन्द्र ने अश्लीलता से बचने के लिए अपने प्रति ईमानदार रहने का आदेश दिया है। अश्लीलता पर कुछ व्यावहारिक सुझाव। पृ० ४१६।

"सुनीता" के सर्वांग में अश्लीलता का प्रश्न उठाया गया है। जैनेन्द्र ने भी इस सन्दर्भ में स्पष्ट कहा है कि नग्नता नाम की चीज भीतरी है और हम सबके भीतर नग्नता मौजूद है। फिर उन्होंने यह भी कहा है कि सुनीता का नग्न होना किसी व्यक्ति की नहीं प्रतीक की नग्नता है। तात्पर्य यह है कि वह सुनीता वास्तव में नग्न नहीं है परिधान के आवरण से ढकी हुई है तो देह की नग्नता कोई अर्थ नहीं रखती। तीसरा दृष्टिकोण यह भी रखा है कि उपन्यास के पात्रों में मानसिकता और भावना ज्यादा होती है शरीर की मर्यादा कम। इस प्रकार सुनीता की नग्नता का समर्थन किया गया है। सुनीता के मन में पति बैठा है इसलिए हरिप्रसन्न के सामने आवरण हीन बनने में उसे कोई भी अड़चन नहीं है। फिर सुनीता तो उपन्यासकार के लिए किसी सिद्धान्त या मत की प्रतीक है—मानी नारी की प्रतिनिष्ठा "बीइट" का प्रतीक। इससे जैनेन्द्र को उसे चरम सीमा तक ले जाते हुए असुविधा नहीं होती। सच तो यह है कि "सुनीता" में हरिप्रसन्न के भीतर की नग्नता ही चूरी है सुनीता के देह की नग्नता ने तो उसके भीतर को और भी सुन्दर परिधान दे दिये हैं। जो हो यह जैनेन्द्र का अपना दृष्टिकोण है।

"साहित्य और समाज" निबंध में जैनेन्द्र ने साहित्य और समाज के संबंध की विशद व्याख्या उपस्थित की है। उनके अनुसार साहित्य और साहित्यकारों की दो श्रेणियां हैं एक समाज को स्वीकार करता है फलतः उसका मनोरंजन अपना कर्तव्य समझता है दूसरा समाज की मान्यताओं एवं स्थितियों के प्रति विद्रोह करता है। दोनों ही कोटियां समाज के लिए आवश्यक हैं। एक उसे स्थायित्व देती है, दूसरी गतिशीलता। एक में वर्तमान-दर्शन है दूसरी में भावी-दर्शन। एक में लोकप्रियता और सुस्वादुत्व है, दूसरी में औषधि की कटुता और असाताकरता। परन्तु औषधि कटिन और गरिष्ठ होने पर भी औषधि अस्वास्थ्यकर नहीं है यह कौन कह सकेगा। जैनेन्द्र मनोरंजन और विलास को साहित्य का कोई बड़ा ध्येय नहीं मानते। वह उसे "एन्द्रिय साहित्य" या वैयक्तिक व्यसनशील साहित्य कहते हैं जो इन्के दे जाते और सुलाने में डालने वाला साहित्य है। जो साहित्य के इस रूप को अपनाते हैं वे समाज के अनुरंजक हैं समाज-जीवन के हृदयजीवी हैं। इसके विपरीत जो समाज के प्रति ऊपर से कठोर दिखलाई देते हैं वे भीतर से मृदु हैं करुणाप्रेप्सु हैं। वे निष्काम और हित काम हैं। उन्हें समाज के हृदय की गहरी वेदना के साथ तादात्म्य पाने की चिन्ता है। साहित्य उनके लिए तप है। जैनेन्द्र को साहित्य का यह दूसरा रूप ही प्रिय है। उसमें तप्यान्वेषण है गहराई है सत्य की प्रतिष्ठा का आग्रह है। यह अवश्य है कि समाज के प्रति विद्रोही ये कलाकार प्रारम्भ में उपेक्षा लांछा और बहिष्कार के पात्र होते हैं, परन्तु अंत में समाज उनकी उपयोगिता को समझ लेता है और उनके प्रति नमित होता है। यही स्पृहणीय स्थिति है। निष्कर्ष इस प्रकार है "साहित्य दोनों प्रकार

के प्रयोजनीय है। लेकिन यदि अधिक आवश्यक अधिक सप्राण अधिक साधनाशील और अधिक चिरस्थायी किसी को हम कहना ही चाहें तो उस साहित्य को कहना होगा जो अपने ऊपर खतरे स्वीकार करता है और चाहे भावुक भी कोई क्यों न हो समाज को आगे बढ़ाता है। वह साहित्य आदर्शप्राण होता है भविष्यदर्शी होता है चिरनूतन होता है,—किन्तु ऐसा साहित्य सहज-मान्य नहीं होता।" साहित्य और समाज पृ० २७।

परन्तु समाज की साहित्य के प्रति मांग क्या इतनी कठोर होगी कि वह सब मान ले ही सब कुछ लेगा। साहित्य लोक-रुचि का प्रतिबिम्ब करे या उन्नयन। जैनेन्द्र आदर्शवादी कलाकार हैं। वह "प्रतिबिम्ब" की सीमाएं जानते हैं। उनका कहना है कि साहित्य यथार्थ का अक्स उतार कर हमारे सामने पेश करे, त्याज्य कुत्स्य और घृणास्पद भी वह स्वीकार करे, परन्तु आगे बढ़कर या ऊपर उठकर वह स्वप्न की ओर भी गतिवान् हो। साहित्य प्रतिबिम्बित करे, परन्तु प्रतिबिम्ब पर रुक नहीं। वर्तमान के उन्नयन का दायित्व वह अपने ऊपर लें। वह यथार्थ पर नहीं रुके वरन् संभाव्य को सामने लाए, भविष्य की अवतारणा करे—"मनुष्य की निकृष्टता में उसे दिलचस्पी नहीं है अपनी उत्कृष्टता की श्रद्धा मनुष्य में जगा देता है। अपने विकारों से व्यक्ति पराजित है तो इसीलिए कि अपनी निर्विकारता की निष्ठा उसमें मूर्छित हो गई है। व्यक्ति में अपनी ही संभावनाओं को जाग्रत करना है। सही है वह तुच्छ नहीं है निकृष्ट नहीं है तुच्छ। वह उज्ज्वल आत्म-स्वरूप है। विकारों को अपने से भूल बैठा है। उन्हीं की याद दिला कर उसकी दृष्टि को सीमित कर दिया जा सकेगा। इस गर्त् में से उसे उबारने के लिए उसमें से विराटता का स्वप्न जगा उठाना होगा। वह क्षुद्र नहीं है हीन नहीं है। बीभत्स और असुन्दर नहीं है। वह निर्मल है सुन्दर है और आकाश की भांति महान् है। 'प्रतिबिम्ब या उन्नयन पृ० २२। इस दृष्टिकोण से यथार्थ न रहकर उपन्यासकार के लिए आत्मोन्नयन या समाजोन्नयन का साधन बन जाता है। वह मात्र प्रतिबिम्ब नहीं रह जाता। फलस्वरूप तथ्यमयी वास्तविकता अथवा मनोवैज्ञानिक सैद्धान्तिकता के द्वारा उसकी सचाई की परख नहीं हो सकती। उपन्यास में सम्भावना के सूत्र कहाँ तक विकसित हुए हैं और जीवन के उन्नयन की ओर उपन्यासकार की दृष्टि कहाँ तक गई है यही मात्र स्पष्ट है। जैनेन्द्र साहित्य के उस रूप की कल्पना करते हैं जिसमें नास्तिक आस्तिक बन जाता है और बहुमुखी तथा अन्तर्मुखी प्रवृत्तियां एक हो जाती हैं। जैनेन्द्र के साहित्य को क्रान्तिकारी साहित्य कहा गया है परन्तु उनके विचारों के सम्यक अध्ययन से यह दृष्टिकोण भ्रामक जान पड़ता है। व्यक्ति की महत्ता को स्वीकार करते हुए भी समाज और हित को नहीं भूले। यह दूसरी बात है कि वह समस्याओं का समाधान उपस्थित नहीं करते

और सबके आगे "ईश्वर" को रखकर तर्कहीन आधुनिक जिज्ञासा को मुक्त कर देते हैं।

जो हो यह स्पष्ट है कि जैनेन्द्र साहित्य से ऊँची माँग लेकर चले हैं और उन्होंने साहित्यकार के व्यक्तित्व को सर्वोपरि रखते हुए भी समाज-हित को भुला नहीं दिया है। वह साहित्य कला को प्रतीक-कला मानते हैं और उनके अनुसार घटनाएं और पात्र वास्तविकता तक सीमित न रह कर सामान्य और आदर्श की ओर इंगित करते हैं और यही उनकी सार्थकता है। "पर" को "स्व" बनाना ही उनके साहित्य का ध्येय है। परन्तु यह "स्व" व्यक्तिवादी लेखकों का कुंठित अहम् नहीं है। वह व्यापक आत्मभाव है जो सब की पीड़ा को अपने भीतर टटोलता है और पाता है।

उपन्यास

"उपन्यास में वास्तविकता" 'व्यक्ति और टाइप' "उपन्यास-लेखक में तत्व चाहिए" जैसे निबंधों में और अन्य लेखों में बीच-बीच में स्फुट प्रकरणों एवं तत्संबंधी उत्तरों में जैनेन्द्र ने उपन्यास-कला के संबंध में अपने विचार प्रकट किए हैं। उनकी अपनी उपन्यास-कला को समझने के लिए उन सूचनाओं से बड़ा सहारा मिलता है। हमें इन निबंधों में काफी सामग्री मिलती है।

जैनेन्द्र उपन्यास को बहुत ऊँची भूमि से देखते हैं। उपन्यासकार को वह "निर्वैयक्तिक जीवन-साधना में तिल-तिल अपने अहंकार को तपाने वाला ऋषि" कहते हैं। उपन्यास-लेखक की निर्वैयक्तिकता या तटस्थ दृष्टि को ही उन्होंने "तप" कहा है। उपन्यासकार पात्रों में डूबकर अपने "अहं" का नाश करता है। वह सबके साथ है इसलिए कि वह अपने में कुछ भी नहीं है। इस प्रकार उनके लिए उपन्यास आत्मसाधन या आत्मविकास का एक साधन बन जाता है। उसी के द्वारा उपन्यास "सत्य" जिसे जैनेन्द्र "ईश्वर" कहते हैं की प्राप्ति करता है। परन्तु इस सत्य की व्याख्या उन्होंने अपने ही ढंग पर की है। "सत्यानुसंधान की इस वृत्ति को लेखक में मैं पहले खोजता हूँ। ध्यान रहे कि यह दार्शनिक का सत्य नहीं है जो निस्तंत्र हो सकता है। यह तो सजीव चिन्मय सत्य है जो हर स्त्री-पुरुष के हृदय में हर श्वास के साथ धड़कता सुन पड़ सकता है। और मैं मानता हूँ कि इस वृत्ति के भीतर समाज या राष्ट्र या जाति या विश्व गरीब या अमीर सबके हित की बात आ जाती है। अलग से किसी और उपयोगिता को पकड़ रखने की जरूरत नहीं पड़ती।" उपन्यास लेखक में तत्व चाहिए, पृ० ४३५. वास्तव में सत्य-दर्शन के लिये जिस तटस्थता की आवश्यकता है वह उपन्यासकार में हो परन्तु उसमें साथ ही सहानुभूति भी हो तभी उपन्यास का सत्यानुसंधान मार्मिक और रसात्मक बन सकता है। जैनेन्द्र के शब्दों में "दार्शनिक मीमांसक है। वह दृष्टि को सीख सकता है। व्यवहार की ओर से आँख मींच सकता

१८२। जैनेन्द्र मनोविश्लेषण पर आधारित उपन्यास-कला के विरोधी हैं। अपनी खातिर मन की वृत्तियों का खालना वह व्यसन और मोहदर्शना मानते हैं। व्यक्ति के मन को कुएँ की भाँति लेकर उसके अंधेरे में दृष्टि गाड़ कर नीचे से उतरने के प्रयास को वह हास्यास्पद कहते हैं। वह मनोविज्ञान को उपन्यास से बड़ा नहीं मानते उनका कहना है "मनोविज्ञान को साध्य बना कर चलने में खतरा है। उपन्यास मनोविज्ञान का अनुचर नहीं है। मनोविज्ञान उसके पीछे लगा चले यह दूसरी बात है। उपन्यास का लक्ष्य दूसरा है। जीवन को स्फूर्ति देकर उसे ऊर्ध्वगामी बनाना उसका काम है और यदि जीवन के भीतरी भेदों को सुलझाने का उसका प्रयास है तो इसीलिये कि जीवन अपनी पकड़ से छूटे और ऊपर उठने में समर्थ हो।" वही पृ १८३। वास्तव में वह यहाँ भी रूपक या प्रतीक ही चाहते हैं। जैसे घटनाएँ प्रतीक हैं वैसे पात्र भी प्रतीक हैं। व्यक्ति का व्यक्तित्व क्या है इसका विश्लेषण वह इस प्रकार करते हैं "व्यक्ति असल में क्या है? क्या वह प्रतीक ही नहीं है। अपने समय और अपनी परिस्थिति में संपमिष्ट प्रश्न-चिन्ह को एक जिज्ञासा को लेकर वह उठा है। उस उत्तर की खोज है। उसके भीतर कोई बन्द चीज होती तो जगत से उसका नाता कैसा बनता। पर जगत से वह कुछ लेता और कुछ देता है। इसी में उसका निजत्व और व्यक्तित्व बनता है। सच पूछा जाय तो इस आत्मदान के कर्तव्य में जितना अपने को रोके रखता है कुण्ठित न जाकर अपने को असत्य रखता है वह व्यक्तित्व की दृष्टि से उतना ही हीन बनता है।"—आदि वही पृ० १८४—८५।

ऊपर के विवरण से जैनेन्द्र की उपन्यास कला के अतरंग के संबंध में यह ज्ञात होता है

(१) वह उपन्यास में तटस्थ परन्तु सहानुभूति पूर्ण चित्रण के पक्षपाती हैं। तटस्थता के कारण निर्ममत्विकता आएगी और सहानुभूति के कारण रस पुष्टता।

(२) वह उपन्यास में वस्तु जगत के अनुभव को बुद्धि मीमांसा और कल्पना से पुष्ट करके जीवन का संभाव्य रूप दिखलाना चाहते हैं। सामयिकता में बंधना उनका ध्येय नहीं है।

(३) वह वस्तु जगत के सत्य की अपेक्षा भाव जगत के सत्य पर अधिक बल देते हैं।

(४) उनके लिए घटनाएं और पात्र प्रतीक मात्र हैं उन्हें वास्तविकता इसलिए दी जाती है कि पाठकों को वे मन-गढ़ंत न लगें।

(५) चरित्र की मानसिकता और व्यक्तित्व की भीतरी व्यथा और गहनता को उभारना ही उनका सबसे बड़ा उद्देश्य है।

(६) चरित्र चित्रण को सर्वोपरि मानने के कारण चरित्र प्रधान को ही वह प्रधान मानते हैं। अनेक केवल कुछ ही पात्रों को, उनके अनेक उपन्यासों में कहीं पात्र

ही बतलाए गए हैं, लेकर चलते हैं। वह बहिर्जगत को छोड़कर व्यक्ति के अन्तर के कलाकार क्यों बने इसे उन्होंने यों समझाया है "बहिर्जगत को प्रमाण करके चुका देना कठिन है। उसका पूरा ज्ञान प्राप्त करना समय नहीं।""" वस्तुतः बहिर्जगत एक मुगालता है। बहिर्जगत के नाम पर यदि कुछ रचनाएं हुई हैं तो उनमें भी कलाकार बहिर्जगत के उपलक्ष से अपने को खोजता या व्यक्त करता है। वह दूसरा कुछ कर नहीं सकता। अन्तर यही है कि अपने लिए मैं इस अनिवार्यता को स्वीकार कर लेता हूँ। विविध पृ० ११२।

(७) पात्र की चारित्रिकता को वह मनोविज्ञ पर मनोविश्लेषण प्रधान अत साध्य न बनाकर चरित्र का स्वसाध्य बनाना चाहते हैं। कदाचित् जान-बूझ कर वह मनोवैज्ञानिक रूढ़ियों को तोड़ देते हैं जिससे उनके पात्र भाव-विलक्षण और विस्फोट मय बन गए हैं। इस प्रकार जैनेन्द्र का दावा है कि वह सृष्टि-कर्ता की सृष्टि की अनुकृति नहीं स्वयं सृष्टि बन जाते हैं। परन्तु तब यह प्रश्न होता है कि वे हमारे लिए मार्मिक कैसे होंगे। निश्चय ही वे हमारे लिए सृष्टा की सृष्टि की तरह अबूझ बने रहेंगे। फिर जैनेन्द्र बुझाना चाहते भी कब हैं? उनके लिए यह सृष्टि और उसका कार्य-व्यापार किसी ईश्वर की गढ़ी अबूझ पहेली है।

इस दृष्टिकोण को लेकर समीक्षक जैनेन्द्र की उपन्यास-कला की परीक्षा कर सकता है। परन्तु प्रश्न यह है कि यह दृष्टिकोण क्या जैनेन्द्र की उपन्यास-कला के मूल में स्थित है या उनके उपन्यासों पर उनकी बुद्धि द्वारा आरोपित। जो हो यह अवश्य है कि जैनेन्द्र की औपन्यासिक विचारधारा एकांगी होते हुए भी स्वानुभूतिजन्य और स्पष्ट है और एक हद तक उनकी रचनाओं को समझने में सहायक हो सकती है। प्रत्येक कलाकार अपनी अभिरुचि और सृजन-प्रक्रिया के संदर्भ पर ही साहित्य का देख सकता है फिर चाहे तो उसके दृष्टिकोण पर एकांगीपन का आरोपण क्यों न हो। जैनेन्द्र का दृष्टिकोण एकांगी है परन्तु वह उनके लिए लांछन नहीं ठहराए जा सकते। उन्होंने अपनी दुर्बलताओं में ही महानता देखी हो यह तो संभव है क्योंकि व्याख्या बुद्धिमूलक और भाई-बन्द वस्तु है परन्तु इसमें कोई संदेह नहीं कि उपन्यास की अनेकानेक कोटियों में से उनके उपन्यासों की भी अपनी कोटि हो सकती है और उपन्यास-जगत में उसकी भी शरण रहेगी। उन्होंने कहा भी है "उपन्यास की परिधि रेखा ठीक कहाँ रुक जाती है इसका मुझे ज्ञान नहीं। उपन्यास-लेखक में तप चाहिए।" पृ० ११२।

कहानी

उपन्यास के संबंध में जैनेन्द्र ने जो कहा है वह कहानी पर भी लागू होता है। उसमें भी यथार्थ और आदर्श नीति और अनीति व्यक्ति और टाइप के वे ही प्रश्न

उठते हैं जो उपन्यास में। समाधान दोनों का एक ही है। उपन्यास की तरह कहानी को भी जैनेन्द्र प्रयोग ही मानते हैं। जीवन-जिज्ञासा की भूमि पर से, उपन्यासों की तरह कहानियों की भी सृष्टि होती है, जीवन-चित्रण नहीं जीवन-दर्शन उनका ध्येय बन जाता है। इसीसे कहानियों का रूपक-रूप उन्हें अधिक प्रिय है। इस प्रकार प्रेमचन्द जैसे बड़े सधे कहानीकार के विपरीत उनकी कला है। प्रेमचन्द जीवन के प्रति उन्मुख हैं, भावुक हैं, इसलिए जीवन पकड़ते हैं। सिद्धान्त बनाकर वह नहीं चलते। कहानी में जीवन जैसा झलक आता है उसी पर से वह सिद्धान्त मान लेते हैं। जैनेन्द्र सिद्धान्त के अनुसार जीवन गढ़ते हैं। जो जैनेन्द्र के लिए प्रारम्भ है वह प्रेमचन्द के लिए अंत था। फलतः उनके साहित्य में निबंध और कहानी की रूपरेखाएं एक हो गई हैं और चित्रण के संबंध में मन में शंका बनी ही रहती है कि यह अनुभूत है कि कल्पित। जैनेन्द्र की अस्पष्ट भाषा-शैली जीवन की वास्तविक स्थिति का भ्रम बराबर बनाये नहीं रख पाती। उनकी घटनाएं और उनके पात्र जीवन से असंपृक्त मात्र मन की सृष्टि जैसे लगते हैं, और बहुत कुछ अबूझा अजाना अप्राप्त रहता है जो पाठक का असन्तुष्ट ही करता है।

स्वयं जैनेन्द्र ने 'कहानी क्यों लिखते हैं' का उत्तर देते हुए कहा है "वह कहानी जो एक भूख है निरंतर समाधान पाने की कोशिश करती रहती है। कहानी उस खोज के प्रयत्न का एक उदाहरण है। वह एक निश्चित उत्तर ही नहीं देती पर यह अलबत्ता कहती है कि शायद उत्तर इस रास्ते से मिले। वह सूचक है, कुछ सुझा देती है। और पाठक अपनी चिन्तन क्रिया के सहारे उस सूझ को ले बैठे हैं।" (कहानी क्या पृ० १७८)। इस दृष्टिकोण से कहानियों में कहानीकार दुनिया को और अपने अपने को समझने का प्रयत्न करता है और उसके रास्ते तथा समाधान ढूंढता है। कहानी की सार्थकता उसकी व्यंजना शक्ति में है। वह उद्बोधन दे कुछ सुझाए मन को गति दे तभी सार्थक है। संक्षेप में जैनेन्द्र कहानी में बुद्धि-तत्त्व का आग्रह रखते हैं। केवल मनोरंजन या चारित्रिक चित्रण मात्र नहीं मनुष्य और उसके प्रश्नों तथा समस्याओं को समझने का प्रयत्न ही कहानी के मूल में रहता है। परन्तु समाधान एक भी हो सकता है और अनेक समाधान भी संभव हैं। अतः कहानीकार जैनेन्द्र की दृष्टि में समाधान उतना मूल्यवान नहीं है। प्रश्न को उठाना और भीतर के क्षोभ को जाग्रत करना ही कहानीकार का काम है। "मैं और मेरी कृति" शीर्षक निबन्ध में जैनेन्द्र ने जो लिखा है वह उनकी प्रारम्भिक कहानियों के निर्माण-तत्त्वों और उनकी सर्जन-क्रिया पर प्रकाश डालता है। उन्होंने स्पष्ट कहा है कि उनका और उनकी कृतियों का संबंध दूरी का नहीं है यद्यपि उस संबंध के मूल कारण हैं। बुद्धि की भूमि पर वह बराबर नहीं चले हैं। प्रश्न बौद्धिक है तो कहानी के रूप में उन्हें जो समाधान सूझा है वह नितान्त अबौद्धिक है। इस दृष्टि से वह अपनी कहानियों में रोमान्टिक हैं। इस ओर

को वह स्वीकार भी करते हैं। कहते हैं "रोमांटिक होना मुझे स्वीकार है। इसमें कर्त्ता और कृति का संबंध आत्मीय ही रहता है। रोमांस का संबंध सजीव है कृत्रिम नहीं। कोरा दिमाग का संबंध जरूर कृत्रिम हो जाता है। उसमें लेखक और उसके लेख के बीच में अनात्मीयता का फासला पड़ जाता है।" 'मैं और मेरी कृति' पृ० ३१२।

यही दृष्टिकोण जैनेन्द्र को "टेकनीक" के प्रति असहिष्णु बना देता है। वह शिल्प को अनावश्यक नहीं मानते परन्तु कारीगरी छोटी चीज न होकर भी इतनी बड़ी चीज नहीं है कि कहानी पर छा जाय। इन्होंने कहानी का मूल तत्त्व माना है 'प्राण' जो कहानी को चलन्त देती है जो खुद जीती और दूसरे को जिलाती है। 'मैं और मेरी कला' पृ० ११५। आगे इसे ही स्पष्ट करते हुए वह कहते हैं "अपने अनुभव से मुझे जान पड़ता है कि कहानी में ध्रुव वस्तु वह 'प्राण' है। अपने प्राणों के सिवाय कहीं और से वह चीज रचना में नहीं पहुँच सकती। भीतर प्राण हो तब ऊपर रूप-सौन्दर्य की झलक का हो पाना भी दुर्लभ नहीं रहता। असल में रूप-सौन्दर्य की प्राण से स्वतन्त्र स्थिति ही नहीं है। भाखर प्रकार की साज-साज सामान-सज्जा प्राण के अभाव में कहानी को पैदा नहीं सकते। वह बल्कि तब उसके व्यंग और विडम्बना बन जाती है।" कहानी-लेखन की अपनी प्रक्रिया को उन्होंने यों समझाया है "कहानी लेखक किसी घटना को सत्य को या भाव को अनुभव करता है और सहसा उसे पकड़ लेता है—वह उसके मन में पैठ जाता है। बस इसी बिन्दु से कहानी शुरू हुई और अपने आप ही बढ़ती गई। जहाँ खत्म होना है वहाँ खत्म हो गई जहाँ उस रोका टैक्नीक बिगड़ गई।" 'कहानी क्या' पृ० १०८।

कहानी-लेखन में जैनेन्द्र कहाँ पर हैं, यह कहना कठिन है। रूसी और फ्रेंच कहानी की तुलना करते हुए उन्होंने रूसी कहानी के चोर, आवारा जान पैसन की प्रशंसा की है और फ्रेंच कहानी के व्यक्तिकरण की "पर्सनेलिटी" प्रकट करने के सुन्दर सुहावने ढंग का पसन्द किया है जो कहानीकार के भीतर के प्रमोद अथवा आनन्द का प्रकाशन है। जैनेन्द्र में दोनों वर्गों का थोड़ा-बहुत अंश है परन्तु ढंग बहुत कुछ उनका अपना हो गया है जो प्रेमचन्द की अपेक्षा रवि बाबू की कला के अधिक निकट है। परन्तु जैनेन्द्र का क्षेत्र गुरुदेव के क्षेत्र से अधिक विस्तृत है और उन्होंने *निबन्ध रेखा चित्र संस्मरण रूपक* सभी ढंग अपनाये हैं और कहानी *के विकास की सारी उद्धरिणी* उनके साहित्य में हो गई है।

प्रेमचन्द से कहीं अधिक जैनेन्द्र की कहानी भारतीय कहानी के प्राचीन गौरव का पुनरुद्धार करती है। भारतवर्ष कहानी की जन्मभूमि रहा है और कहानी कहने की विविध विभिन्न और अनेक रूपी शैलियों के निर्माण में वह बेजोड़ है। यही जैनेन्द्र की कहानी-कला का मर्म है। उनके साहित्य में कहानी आत्मचिन्तन है रूपक है, घटना

उठते हैं जो उपन्यास में। समाधान दोनों का एक ही है। उपन्यास की तरह कहानी को भी जैनेन्द्र प्रयोग ही मानते हैं। जीवन जिज्ञासा की भूमि पर से उपन्यासों की तरह कहानियों की भी सृष्टि होती है जीवन-चित्रण नहीं जीवन-दर्शन उनका ध्येय बन जाता है। इसीसे कहानियों का रूपक-रूप उन्हें अधिक प्रिय है। इस प्रकार प्रेमचन्द जैसे बने सधे कहानीकार के विपरीत उनकी कला है। प्रेमचन्द जीवन के प्रति उन्मुक्त हैं भावुक हैं इसलिए जीवन पकड़ते हैं। सिद्धान्त बनाकर वह नहीं चलते। कहानी में जीवन जैसा झलक जाता है उसी पर से वह सिद्धान्त बना लेते हैं। जैनेन्द्र सिद्धान्त के अनुसार जीवन गढ़ते हैं। जो जैनेन्द्र के लिए आरम्भ है वह प्रेमचन्द के लिए अंत था। फलतः उनके साहित्य में निबंध और कहानी की रूपरेखाएं एक हो गई हैं और चित्रण के संबंध में मन में शंका बनी ही रहती है कि वह अनुभूत है कि कल्पित। जैनेन्द्र की अस्पष्ट भाषा-शैली जीवन की वास्तविक स्थिति का भ्रम बराबर बनाये नहीं रख पाती। उनकी घटनाएं और उनके पात्र जीवन से असंपृक्त जैसे मात्र मन की सृष्टि जैसे लगते हैं और बहुत कुछ अबूझ पहेली अभाव रहता है जो पाठक को असन्तुष्ट ही करता है।

स्वयं जैनेन्द्र ने "कहानी क्यों लिखते हैं" का उत्तर देते हुए कहा है "वह कहानी भी एक भूख है निरंतर समाधान पाने की कोशिश करती रहती है। कहानी उस खोज के प्रयत्न का एक उदाहरण है। वह एक निश्चित उत्तर ही नहीं देती पर यह अलबत्ता कहती है कि शायद उत्तर इस रास्ते से मिले। वह सूचक है कुछ सुझा देती है। और पाठक अपनी चिन्तन क्रिया के सहारे उस सूझ को ले लेते हैं। कहानी क्या पृ० १७८। इस दृष्टिकोण से कहानियों में कहानीकार दुनिया को और उस प्रश्न को समझने का प्रयत्न करता है और उसके रास्ते तथा समाधान ढूंढता है। कहानी की सार्थकता उसकी व्यंजना शक्ति में है। वह उद्बोधन दे कुछ सुझाए, मन को गति दे तभी सार्थक है। संक्षेप में जैनेन्द्र कहानी में बुद्धि-तत्त्व का आग्रह रखते हैं। केवल मनोरंजन या वास्तविक चित्रण मात्र नहीं मनुष्य और उसके प्रश्नों तथा समस्याओं को समझने का प्रयत्न ही कहानी के मूल में रहता है। परन्तु समाधान एक भी हो सकता है और अनेक समाधान भी संभव हैं। अतः कहानीकार जैनेन्द्र की दृष्टि में समाधान उतना मूल्यवान नहीं है। प्रश्न को उठाना और भीतर के बोध का जागरण करना ही कहानीकार का काम है। "मैं और मेरी कृति" शीर्षक निबन्ध में जैनेन्द्र ने जो लिखा है वह उनकी प्रारम्भिक कहानियों के निर्माण-तत्त्वों और उनकी सर्जन-क्रिया पर प्रकाश डालता है। उन्होंने स्पष्ट कहा है कि उनका और उनकी कृतियों का संबंध पूरी तरह नहीं है यद्यपि उस संबंध के सूत्र अदृश्य हैं। बुद्धि की भूमि पर वह बराबर नहीं चले हैं। प्रश्न जीवित है तो कहानी के रूप में उसका जो समाधान सूझा है वह नितान्त अजीवित है। इस दृष्टि से वह अपनी कहानियों में रोमान्टिक हैं। इस आरोप

को वह स्वीकार भी करते हैं। कहते हैं "रोमांटिक होना मुझे स्वीकार है। इसमें कर्ता और कृति का सम्बन्ध आत्मीय ही रहता है। रोमांस का सम्बन्ध सजीव है, कृत्रिम नहीं। कोरा दिमाग का संबंध अक्सर कृत्रिम हो जाता है। उसमें लेखक और उसके लेख के बीच में अनात्मीयता का फासला पड़ जाता है।" 'मैं और मेरी कृति पृ १५२।

यही दृष्टिकोण जैनेन्द्र को 'टेकनीक' के प्रति असहिष्णु बना देता है। वह शिल्प को अनावश्यक नहीं मानते परन्तु कारीगरी छोटी चीज न होकर भी इतनी बड़ी चीज नहीं है कि कहानी पर छा जाय। उन्होंने कहानी का मूल तत्व माना है "जान जो कहानी को धड़कन देती है जो खुद जीती और दूसरे को जिलाती है। 'मैं और मेरी कला पृ ११५। आगे इसे ही स्पष्ट करते हुए वह कहते हैं "अपने अनुभव से मुझे जान पड़ता है कि कहानी में मूल वस्तु यह 'जान' है। अपने प्राणों के सिवाय कहीं और से यह चीज रचना में नहीं पहुँच सकती। भीतर प्राण हो तब ऊपर रूप-सौन्दर्य की झलक का हो जाना भी दुर्लभ नहीं रहता। असल में रूप-सौन्दर्य की प्राण से स्वतंत्र स्थिति ही नहीं है। आकार प्रकार की साज-सज्जा साधन-सज्जा प्राण के अभाव में कहानी को जेता नहीं सकते। वह बल्कि तब उसके भ्रम और विडम्बना बन जाती है। कहानी-लेखन की अपनी प्रक्रिया को उन्होंने यों समझाया है 'कहानी लेखक किसी घटना को सत्य को या भाव को अनुभव करता है और सहसा उसे पकड़ लेता है—वह उसके मन में पैठ जाता है। बस इसी बिन्दु से कहानी शुरू हुई और अपने आप ही बढ़ती गई। जहाँ खत्म होना है वहाँ खत्म हो गई' वहाँ उसे रोका टैक्नीक बिगड़ गई।" 'कहानी क्या पृ० १७८।

कहानी-लेखन में जैनेन्द्र कहाँ पर हैं यह कहना कठिन है। रूसी और फ्रेंच कहानी की तुलना करते हुए उन्होंने रूसी कहानी के जोर, भावना जान देने की प्रशंसा की है और फ्रेंच कहानी के व्यक्तिकरण की "फैसेसिटी' 'प्रकट करने के सुन्दर सुहावने ढंग को पसन्द किया है जो कहानीकार के भीतर के प्रमोद अथवा [illegible] प्रकाशन है। जैनेन्द्र में दोनों गुणों का थोड़ा-बहुत भाग है परन्तु ढंग [illegible] [illegible] अपना हो गया है जो प्रेमचन्द की अपेक्षा रवि बाबू की कला के [illegible] है। परन्तु जैनेन्द्र का क्षेत्र गुलेरी के क्षेत्र से अधिक विस्तृत है और उन्होंने [illegible] चित्र संस्मरण रूपक सभी ढंग अपनाये हैं और कहानी के [illegible] रिली उनके साहित्य में हो गई है।

प्रेमचन्द से कहीं अधिक जैनेन्द्र की कहानी भारतीय कहानी के [illegible] गौरव का पुरस्कार करती है। भारतवर्ष कहानी की जन्मभूमि रहा है और कहानी कहने की विविध विभिन्न और अनेक रूपी शैलियों के निर्माण में वह बेजोड़ है। यही जैनेन्द्र की कहानी-कला का बल है। उनके साहित्य में कहानी आत्मविश्वास है, रूपक है, [illegible]

है पात्र है तथ्य अथवा उपदेश है जीवन का वास्तविक कल्पित या संभाव्य चित्रण है अंकुर है और महान् वट वृक्ष है। वास्तव में उपन्यास की अपेक्षा उन्हें कहानी में अधिक सफलता मिली है। यही कदाचित् उनका प्रकृत क्षेत्र है। उपन्यासों में वह अबूझ हैं कहानियों में खुले-खाले। जीवन के उन सरकते हुए क्षणों को कुण्ठा और प्रेम की अतुल लहरियों को उन्होंने कहानी की जादूगरी से खूब पकड़ा है जिन जीवन की अतलस्पर्शी गहराइयों और अनेकरंगी स्थितियों का वह अपने उपन्यासों में निर्वाह नहीं कर सके।

अपनी कैफ़ियत" में उन्होंने प्रेमचन्द की कहानियों की एक विशेषता उनका व्यवहार-क्षम बतलाया है। उनकी कहानियों के चौखटे आस-पास के यथार्थ जीवन पर से उठाकर लिए गए हैं और उनके पात्र सामाजिक जीवन से ऊपर नहीं उठ पाते। समाज हितैषिता ही उनकी शक्ति और सीमा है। फलस्वरूप प्रेमचन्द जानते हैं कि वह क्या लिख रहे हैं और क्यों लिख रहे हैं। उनकी रेखाएं काफी उभार पर हैं। इस जैनेन्द्र ने 'कहानी गढ़ना' कहा है और उनका अपनी कहानी का आदर्श कदाचित् कहानी "निकास फेंकना" है। ऐसी तरलता कि पात्र हाथ में न आएं, जैनेन्द्र को प्रिय है। जीवन जैसा अबूझ है, कहानी वैसी ही अबूझ रहे। इसीलिए वातावरण की कहानियों को उन्होंने सुन्दर माना है और एक ऐसी ही कहानी के भीतर छिपे अपने अनुभव का विश्लेषण भी किया है। 'अपनी कैफ़ियत' पृ० १६१ ४। इस बात में अंत में कहानी के संबंध में उनकी धारणा ऐतिहासिक परिवेश में घुलती हुई सामने आती है। "तभी तो जो असम्भव की रेखा को छूती है और जो स्थूल भौतिक जगत् की सम्भवता की सीमाओं से पराजित नहीं है वह क्या आज काल के कितने स्थूल पटल को भेदती हुई शताब्दियों से अब तक जीवित बनी हुई है। पुराणों की देवता और राक्षस वाली कहानियां बालक की कथाएं और ईसप की पशु-पक्षियों की वार्ताएं जीकर हमारे नित्य प्रति के जीवन में घुल-मिल गई हैं। अब यथार्थता का आग्रह और अवलेप जिस पर जितना कम है वह कहानी समय की छलनी में छनती हुई उतनी ही देर भी ठहरे तो मुझे अचरज न होगा।" यह स्पष्ट है कि यह दृष्टिकोण कहानी को स्थूल वास्तविकता और यथार्थ के बन्धन से मुक्त कर देता है और उसे कला एवं कल्पना की चीज़ बना देता है। इसमें सन्देह नहीं कि जैनेन्द्र की कहानियों में ऐसी संगठन प्रतिभा रूप-निर्माण सत्य और बोध के क्षेत्र में प्राचीन सूत्रों को उभरता गया है। उनकी कहानियां उपनिषदों जातकों जैन-पुराणों मध्ययुगीन गाथाओं नानी-दादी की कहानियों परी-लोक की कथाओं और माफ-वार्ताओं को पुनर्जीवित करती हैं। उनकी कला सूक्ष्म के उद्बोधन में है स्थूल की बहुरंगी आकृतियों में नहीं। उनकी कहानियों में बाहर भीतर की रेखाएं बार-बार मिट गई हैं और भीतर न बाहर का पकड़ने के प्रयत्न ने उनकी कला को निरुपम बना दिया है।

२

जैनेन्द्र अपने साहित्य पर

अपने कितने ही निबंधों में[1] जैनेन्द्र ने अपने साहित्य के संबंध में ऐसे वक्तव्य दिये हैं जो हमारे लिए बड़े काम के हैं और जिनमें उन्होंने अकुंठित भाव से अपनी उपलब्धियों और असफलताओं को उल्लिखित किया है। जैनेन्द्र के अध्येता के लिए ये स्थल अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। (स्वयं जैनेन्द्र का कहना है कि वह अपने निबंधों में अधिक वक्तव्य की पकड़ में आते हैं अपने कथा-साहित्य में वह अबूझ बन गये हैं।[2] इस प्रकार इन निर्देशों का महत्व और भी बढ़ जाता है।

पहले हम साहित्य के संबंध में सामान्य बातों को लेंगे फिर उनकी विभिन्न रचनाओं को।

जैनेन्द्र ने अपने साहित्य के श्रेय पक्ष का उद्घाटन करते हुए यह कहा है कि वह स्वांत:-सुखाय पर अटकने को तैयार हैं लोक-हिताय तक न भी जाए तो भी कोई हानि नहीं देखते।[3] उनके अनुसार प्रारम्भ में लिखना उनके लिए "युद्ध अस्केप और पलायन था।"[4] इसे ही स्पष्ट करते हुए वह लिखते हैं पहला श्रेय मेरे साहित्य का यह हुआ कि उसने मेरी रक्षा की। मैं बचकर उसमें शरण ले सका, उसने मुझे बिलमाया। अपने भीतर की आत्मग्लानि हीन-भावनाएं और उनमें लिपटी हुई स्वप्नाकांक्षाएं —इस सबको कागज पर निकाल कर जैसे मैंने स्वास्थ्य का लाभ किया। जो

---

१ देखिए निबंध शीर्षक 'मेरे साहित्य का श्रेय और प्रेय" "अपनी कैफियत" "मैं और मेरी कृति" और "मैं और मेरी कथा।

२ "सीधा शब्दों द्वारा जो कहा गया वह निबन्ध-साहित्य तो मैं मानता हूँ मुझे पाठक के हाथों पकड़ाई में दे ही देता है। कथा में अलबत्ता व्यंजना और व्यंग का सहारा हो और उसके बारे में द्विधा होती हो परन्तु निबंधों में तो काफी प्रत्यक्ष और स्थूल रूप से मैंने अपनी धारणा के श्रेय को खोला और बताया है। 'मेरे साहित्य का श्रेय और प्रेय पृ० १५।

३ वही पृ० १ ।

४ वही

मेरे अंदर घुट रहा और मुझे भोग रहा था उसी को बाहर निकालने की पद्धति से देखा कि मैं उससे मुक्ति पा रहा हूँ। उसके नीचे न रह कर उसके ऊपर आ रहा हूँ। जो कमजोरी थी और मुझे कमजोर कर रही थी उसी को स्वीकार करके और रूप और आकार पहनाकर, मैं अ-कमजोर—क्या मजबूत—बन रहा हूँ। इस अनुभव से ही मैं कहूँगा कि साहित्य का पहला ध्येय है जीवन का लाभ। अपनी अंतरंगता की स्वीकृति और प्राप्ति अपने भीतर के विग्रह की शांति समन्वय की सम्प्राप्ति और व्यक्तित्व की उत्तरोत्तर एकनिष्ठता।"

इस विचार से साहित्य एक प्रकार का कैथारसिस है जो आत्मपरिष्कार का साधन बन जाता है। साहित्यकार अपने भीतर के अभावों कुण्ठाओं हीन भावनाओं से मुक्ति पाने के लिए ही साहित्य-सृजन करता है और इस प्रकार साहित्य आत्म-विकास की प्रक्रिया बन जाता है। वह "स्व"-निष्ठता है अपने भीतर को बाहर लाता है।

परन्तु क्या यह आत्म-दान नहीं है। यद्यपि जैनेन्द्र लिखते हैं कि "संदेश देने के लिए कुछ दे सकता है यह मेरी समझ में नहीं आता। (वही पृष्ठ १३ १४) परंतु देने के लिए देना" यह चाहे नहीं हो देना तो यह है ही। स्वयं जैनेन्द्र कहते हैं "हमारे अन्दर अनन्त सम्पत्ति है। जैसा उसमें है वैसा उसमें है। उस सबको स्वीकार करके धर्नैः धर्नैः उसे बाहर निकाल कर अपने को रिक्त करते जाना—मेरे ख्याल में वह काम बड़ा है। इससे अन्य दर्शन क्या होता होगा यह मैं जानता नहीं हूँ। वही पृष्ठ १२।

इसी सम्बन्ध में जैनेन्द्र ने अपने साहित्य के दूसरे प्रमुख पक्ष की ओर इंगित किया है। वह है भावदर्शवाद जिसे वह भावना-श्रेित चाहते हैं बौद्धिक नहीं। उनके शब्दों में "अपने साहित्य द्वारा वह (लेखक) कुछ न कुछ ध्येय या आदर्श की प्रतिष्ठा करना चाहता हो तो यह उसके कर्म से असंगत बात नहीं है। लेकिन फिर वह ध्येय या आदर्श उसके लिए बौद्धिक प्रतिपादन का विषय नहीं रह जाएगा। अर्थात् भावना से अधिक धारणा में था कि भावना से अलग भावना में उसकी स्थिति नहीं है। समूची मानसिकता में उसे रचा और समाया हुआ होना चाहिए।" वही पृ० १४।

तीसरा पक्ष है "बुद्धि की दुश्मनी।" "बुद्धि को किसी मोल में नहीं छोड़ सकता हूँ। लेकिन मेरे अन्दर सबसे गहरे में यह प्रतीति है कि बुद्धि परमानी है। अन्तर यह श्रद्धा की मानी है। इन्द्रियों की तरह बुद्धि भी पदार्थ के लिए है। अतएव के और पदार्थ के साथ निबटना ही उसका क्षेत्र है। शेष में उस पूरी तरह श्रद्धा के अंकुश में रह कर चलना होगा। "बुद्धि द्वैत पर चलती है। इसलिए मेरे साहित्य का परम ध्येय तो हो रहता है अखण्ड और अद्वैत सत्य। इसी का व्यावहारिक रूप है समस्त चराचर जगत् के प्रति प्रेम अनुकम्पा मानो अहिंसा।" वही पृ० १५।

इस प्रकार लेखक ने अपने साहित्य के चार तत्व माने हैं

१ आत्म-परिष्कार अथवा आत्मोपलब्धि ।

२ भावनासिद्ध आदर्श ।

३ बुद्धि की दुश्मनी ।

४ अहिंसा अर्थात् समस्त चराचर जगत् के प्रति प्रेम ।

अन्य स्थलों पर उसकी कुछ अन्य मान्यताएँ भी सामने आती हैं

५. अपने भीतर के कुण्ठा-भाव और उभार को वाणी देकर हलका करने का प्रयत्न ।

६ सत्यानुसंधान भाव भूमि पर से ।

७ वस्तु-जगत् के प्रति व्यापक जिज्ञासा जो बाहर को भीतर की सहायता से पाना चाहती है और जिसमें मनोनिष्ठता है ।

८ ईश्वर-बोध ।

अपने साहित्य के मूल स्रोतों पर भी लेखक ने अपना विचार प्रकट किया है । वह अनुभूत सत्य को वाणी देना साहित्य का धर्म मानता है और इस धर्म को ही उसने साहित्य में निभाया है । वह कहता है, "कोई सामाजिक प्रतिष्ठा मेरे पास नहीं । जो मेरा अभाव था वही मेरा सौभाग्य बना । ज्ञान और भाषा के अभाव में मैं वही कह सकता था जिसका मुझे अनुभव था । व्यक्तिगत अनुभव मैंने कहे इसलिए लोगों के मन को उसने छुआ होगा । राष्ट्र-भाषा और प्रांतीय भाषाएँ पृष्ठ १४ । परन्तु यह अनुभव स्वयं किन सीमाओं में बंधा है यह भी हमें देखना होगा । प्रेमचन्द की तरह जैनेन्द्र वस्तुवादी कलाकार नहीं हैं । वह अपने चारों ओर से उस रूप में रस ग्रहण नहीं करते जिस रूप में प्रेमचन्द रस ग्रहण करते हैं । अपनी कैफ़ियत देते हुए जैनेन्द्र ने प्रेमचन्द की उपन्यास लिखने की सलाह का उल्लेख करते हुए कहा है कि वह प्रेमचन्द की इस सलाह को "अरे, घर के नाते-रिश्तेदार जो हों बस उन्हीं को लेकर लिख दो । —लेकर नहीं चल सके । न लिख सके न लिख ही पाते हैं । वास्तव में यहीं से प्रेमचन्द जैनेन्द्र की कला का भेद शुरू होता है । जैनेन्द्र तथ्यवादी नहीं भाववादी हैं । वह भीतर झुकते हैं विचार में भाव में तथ्य में नहीं । तथ्य को भी वह भावना और विचार में रंग कर विलक्षण बना देते हैं । यह उनकी मजबूरी है या विशेषता है जो कहिए । फिर इसी लेख में उन्होंने प्रेमचन्द का उल्लेख करते हुए बताया है वह साधनापूर्वक साहित्यकार बने थे । साहित्य उनके लिए कभी विलास का रूप न था । वह कहानी गढ़ते थे तैयार करते थे । उस विकास नहीं देखते थे । 'साहित्य का श्रेय और प्रेय पृष्ठ १४० । परन्तु जैनेन्द्र की साहित्य-प्रक्रिया ही दूसरी है । 'अंधे का भद' कहानी की सर्जन प्रक्रिया बताते हुए उन्होंने स्पष्ट किया है कि किस प्रकार एक अन्धे को लेकर, कल्पना के बल पर, उन्होंने अपने भीतर से

कहानी निकली। "वर्तमान पर जो वह ऊँचा आया था उसको तनिक अतीत और ज़रा अनागत की ओर फैलाकर देखा कि कहानी हाथ आ गई।" यह साफ़ है कि इस प्रकार की रचना जीवन के साथ न्याय नहीं कर सकती। वह भाव-सत्य ही देगी वस्तु-सत्य नहीं। साहित्य का सत्य भाव-सत्य ही है वस्तु-सत्य नहीं जो विज्ञान और रेखागणित का विषय है परन्तु वस्तु-सत्य पर ही भाव-सत्य को आधारित होना होगा। एकदम भाव-सत्य पर टिकी रचना आकर्षक भले ही हो उसका मेरु-दण्ड दुर्बल होगा। परंतु जैनेन्द्र का दृष्टिकोण दूसरा है। उनकी रचनाओं से यह स्पष्ट है कि उनका जीवन का अनुभव वस्तु वास्तविक नहीं है, व्यापक तो कदाचित् है ही नहीं। वस्तु उनके चिन्तन को उभार कर आँख के सामने से हट जाती है परन्तु जैनेन्द्र ने अपनी इस त्रुटि को ही कला बना लिया है। उन्होंने अपनी कहानी के सम्बन्ध में जो लिखा है वह उनके सम्पूर्ण कथा-साहित्य पर लागू है 'कहानी इतिवृत्त ही तो है। यानी उसमें स्थिति से स्थित्यन्तर अर्थात् जीवन-गति होनी चाहिए। काल का कुछ स्पन्दन कुछ तनाव कुछ अनुभव हो वही तो कहानी का रस है। यह घटना द्वारा अनुभव कराया जाय या चाहे तो बिना घटना के ही अनुभव करा दिया जाय। दुनिया में ऐसी भी सफल कहानियाँ हैं जिनमें खोजो तो घटना तो है नहीं फिर भी रस भरपूर है।" 'अपनी दृष्टि-मत [illegible] १४२ अपनी अन्तर्मुखी प्रकृति के कारण उन्होंने यह मान लिया है कि जिन रचनाओं में दैहिकता स्वल्प और भावात्मकता ही उत्कट है उनमें स्थायित्व भी अधिक होगा। "जो असम्भव की रेखा को छूती है और जो स्थूल भौतिक जगत् की संभवता की सीमाओं में पर्याप्त नहीं है वह कथा आने काल के कितने स्थूल तथ्यों को भेदती हुई शताब्दियों से अब तक जीवित बनी हुई है। पुराणों की देवता और राक्षस वाली कहानियाँ जातक की कथाएँ और ईसप की पशु-पक्षियों की वार्ताएँ पैठ कर हमारे निम्न प्रति के जीवन में घुल-मिल गई हैं। अतः यथार्थता का आलम्बन और अवलेप जिस पर जितना कम है वह कहानी समय की छलनी से छनती हुई उतनी ही ऊँचे भी ठहरे तो मुझे अचरज न होगा।" वही पृष्ठ १४४।

ऊपर के अवतरण से यह सिद्ध है कि जैनेन्द्र अर्थमय सूक्ष्म अन्तर्मुखी और भावुक जीवन के चितेरे हैं। उन्होंने कवि का लोक अपनाया है। पद उनकी गिरी नीरस है। परन्तु उसके भीतर का उनका विचक्षण भाव जगत् हो केन्द्र में बैठा है। इसी से वह प्रेमचन्द के बिल्कुल विपरीत पड़ते हैं। प्रेमचन्द बाहर अधिक रह जाते हैं। वह भीतर कम प्रवेश करते हैं। जैनेन्द्र की सूक्ष्म अंतर्दृष्टि और रहस्य भावना हमारा साथ छोड़ देती है। इस बात को उन्होंने यों स्पष्ट किया है "ऐसा भी लगता है कि अंदर की प्राप्ति के अनुपात में ही बाहर का जितना अभाव प्राप्त होता है उतना ही वास्तव बनता है। अन्यथा वह अवास्तव है और वास्तव अवास्तव है। अपना अनुभव में आने वाला युग युग के मार्ग से चल कर हृदय में जा नहीं उतरता वह प्रेत की तरह भ्रमता रहता है

अरसा पाकर वह सत्य या असत्य नहीं बन पाता। अन्दर की अपेक्षा में ही बाहर को मानने की लाचारी जैसे रोग की तरह घुन सी मुझ में बसी हुई है। जानता हूँ इसमें कारण मेरी शारीरिक और मानसिक कमजोरी है। लेकिन क्या कमजोरी को स्वीकार ही नहीं कर लेना चाहिए। मैं और मेरी कृति पृष्ठ १५०।

जैनेन्द्र कला में ईमानदारी और सच्चाई चाहते हैं। कला के प्रति उनका आग्रह नहीं। परन्तु यह ईमानदारी भीतर की वस्तु है, बहिर्जगत् की सच्चाई से उसका संबंध नहीं है। जैनेन्द्र का ही कहना है "देश-काल के चौखटे में देखी भोगी गई घटनाएं अपने आप में सत्य हैं भी तो नहीं। वे तो अनित्य हैं क्षणिक हैं। इससे उनमें फेर-फार कर देने से सत्य की क्षति नहीं होती।" इस प्रकार तथ्य में अथवा सत्य में कुछ परिवर्तन अपेक्षित हो जाता है। सच्चाई तो नाम और रूप में आती नहीं। ज्यों-की-त्यों बात कही नहीं जा सकती। प्रथम तो घटना ज्यों-की-त्यों पकड़ में नहीं आती। फिर उसको सर्वथा अपनी बेतैयारी हालत में प्रकट कर देने से दूसरी दिक्कतें पैदा हो सकती हैं। वहाँ पर जैसे छल की आवश्यकता होती है। उसी को कला कहिए तो कला कह लीजिए—कला इसलिए कि उस छल में कोई दोष नहीं है। सत्य के आविष्करण में वह छल सहायक होता है इससे वह स्वयं सत्य बनता है। 'मैं और मेरी कला' पृष्ठ १२६। आगे "परख" की कट्टो का उदाहरण देकर जैनेन्द्र अपनी बात को स्पष्ट करते हैं 'यथार्थ को ओट में रख कर काल्पनिक कट्टो को समक्ष करने में सत्य का कोई अपलाप नहीं देखता हूँ। फिर भी यथानाम और यथातथ्य तो वह है नहीं। इसीलिए शायद उसे कला कहा जाता हो तो मैं समझ सकता हूँ। नाम-धाम जहाँ केवल मात्र उपलक्ष्य रह जाय जहाँ उनकी पृथक प्रतीति ही मानो विस्मृत हो जाय और अपने ही मनोरम पुस्तक के पट पर चित्र-लेख से प्रत्यक्ष हो जायँ वहीं कहा जा सकता है कि रचनाकार का छल एक कौशल है और इस माया-सृष्टि द्वारा सत्य की किंचित् साधना और सेवा ही होती है। वही पृष्ठ १७२। कला की जैनेन्द्रीय व्याख्या में भीतरी अनुभूत के प्रति कलाकार की सच्चाई ही कला बन जाती है। उनके शब्दों में "जो जिसको कहते हैं सच्चाई, वह इस कला की पहली आवश्यक शर्त हो जाती है। सचाई बाहर के के प्रति नहीं क्योंकि बाहर तो सिर्फ अलग है और वह प्रति क्षण बदल रहा है। इसलिए उस बाह्य यथार्थ के साथ तो मनचाही स्वतन्त्रता लेने में कला के लिए कोई बाधा नहीं है। वह तो प्रकृत में यथार्थ रूप में विदित और वस्तु में परिणत कर देखने की सुविधा करने वाली काल्पनिकता है। वही "सत्य की साधना में ही यथार्थ को स्वप्न की ओर उठना होता है।" वही "स्वप्न करणी है उस कल्पना और उस पुरुषार्थ का जो उसको अपनी ऐन्द्रिय प्रतीति से उत्तीर्ण करके सत्यानुभूत संकल्प की ओर उठाती और इस प्रकार उसे परिपूर्णता प्रदान करती है। उन्होंने अपने पात्रों

के सम्बन्ध में यह स्पष्ट कर दिया है कि वे 'यथार्थ में से आकर भी उस यथार्थ का यथासंभव परिहार करके बने हैं।' वही पृष्ठ १२७।

इस प्रकार हम देखते हैं कि वस्तु-जगत् के प्रति जैनेन्द्र संशयालु हैं। वह भावना का सत्य चाहते हैं जीवन स्रोत के या व्यक्ति के भीतर का सत्य। उनके अनुसार यही भीतर का सत्य वस्तु के सत्य को उद्घाटित कर सकता है। वैसे सत्य तो निर्मम है। बुद्धि की रूपरेखाओं में उसका सत्य मृतवत् है। वह अपने को कम मानता है। स्पष्ट है कि यह दृष्टिकोण कलाकार का दृष्टिकोण नहीं है यह दार्शनिक का दृष्टिकोण है। कलाकार की परिभाषा देते हुए जैनेन्द्र ने कहा है 'अपने प्रति कलाकार सच्चा रहे। इस प्रयत्न में बाहर के प्रति सच्चा रहना असम्भव और सहज अनावश्यक होता जायगा। मन बाहर के प्रति विनयशील और स्नेहशील रह कर ही कलाकार का धर्म पूरा हो जाना चाहिए। संसार पकड़ में नहीं आता इससे उसे पकड़ने का मोह ही वृथा है।' वही पृ० १२८। यह नहीं कहा जा सकता कि संसार को पकड़ने में असमर्थ रहने पर इस प्रयत्न से हटकर आत्मनिष्ठ हो जाना उपन्यासकार के लिए कहाँ तक ठीक रहेगा। परन्तु जैनेन्द्र की कलाबोधिता को समझने के लिए उनके इस दृष्टिकोण की उपेक्षा नहीं की जा सकेगी। उनके कथा-साहित्य को हमें उनके दृष्टिकोण से भी देखना होगा उनके ही दृष्टिकोण से देखें यह बात नहीं। परन्तु आलोचक की पहली जिम्मेवारी तो लेखक के प्रति ही है।

जैनेन्द्र की रचनाओं का मूल उनके इस कथन के द्वारा हमारे हाथ में आ जाता है "जो कुछ मेरे पास रहा है—बाहर का देखना बुद्धि का विचारना और मन का चाहना—सब कुछ घुल-मिल गया है और किसी एक अनुभूति के तन्तु के चारों ओर जुड़ कर कहानी की रचना कर देता है। 'मैं और मेरी कला' पृ० २२९। कहानी बेकार है और सारा साहित्य बेकार है अगर मन को यहाँ की दिहाड़ी में बन्द रहना पड़े। साहित्य में अवश्य ही उस मन की क्रीड़ा को अवकाश है उसको निमंत्रण है जो बाहर की नपी-तुली जिन्दगी में घुल नहीं पाता है। उस कल्पना-क्रीड़ा के पीछे आवश्यक ईमानदारी की वृत्ति या सत्य जिज्ञासा ही होनी चाहिए। और भी दूसरी जगह अपने लिखने में मैंने यही किया है। दीख या सूझ के तत्व को लिया है अपनी भावना से उसे घेर दिया है और कल्पना में गढ़ कर फिर सबके लिए प्रस्तुत कर दिया है कि जिज्ञासा जुड़े और सहानुभूति पनपे। ऐसे आदमी व्यवहार की दीवारों से बाहर आकर खुली हवा में स्वास्थ्य का लाभ करते हैं।" वही पृ० १९।

इस प्रकार जैनेन्द्र ने कथा-कहानी और उपन्यास को आत्मलाभ का साधन माना है। अनुभव अनुभूति भावना कल्पना और सतत क्रियमाण जिज्ञासा के द्वारा उन्होंने बाहरी सत्ता को लेकर अपने भीतर टटोला है और बुद्धि से चलकर बुद्धि का धरातल

होते देखा है। अन्त में "जो है सो है" मानकर बुद्धि से छुटकारा पा लिया है और भावना को मुक्ति देने में ही कृति की सफलता मानी है। इस तरह जैनेन्द्र की बुद्धि वादिता या बुद्धिमूलक चेतना प्रश्नों के साथ जिन राजनैतिक आर्थिक सूत्रों से न उलझ कर अधो-अधी सैद्धान्तिकता और दार्शनिकता में डूब गई है। 'कहानी क्या है' निबंध में पृ० १७८-९ पर उन्होंने रूसी और फ्रेंच कहानी-कला की तुलना करने का प्रयत्न किया है जिससे यह स्पष्ट है कि वह रूसी कहानी में व्यक्तिकरण की ऊँचीचिड़ी प्रमोद और आनन्द का अभाव पाते हैं। फ्रेंच कहानी में प्रकट करने का तरीका बहुत ही सुन्दर, सुहावना है हम उसके साथ बह जाते हैं। परन्तु रूसी कहानी सोद्देश्य है उसमें ध्येय है भावना है जान है जो फ्रेंच कहानी में नहीं है। यह स्पष्ट है कि ध्येय या उद्देश्य का तत्व जैनेन्द्र में भी थोड़ा है अस्पष्ट है परन्तु वहाँ मूल में वह है उनकी कहानी में फ्रेंच कहानी के शेष तत्व सम्पूर्ण रूप से मौजूद हैं। परन्तु जैनेन्द्र में कहानी की सोद्देश्यता आत्मलाभ की सोद्देश्यता में खो जाती है। जो उनके अपने दृष्टिकोण से वांछनीय होकर भी पाठक या उपन्यास-साहित्य के विकास के दृष्टिकोण से वांछनीय नहीं है। 'कहानी क्यों लिखता हूँ' प्रश्न का उत्तर देते हुए जैनेन्द्र ने अपनी सर्जन प्रक्रिया पर काफी प्रकाश डाला है "कहानी तो एक भूख है जो निरन्तर समाधान पाने की कोशिश करती रहती है। हमारे अपने सवाल होते हैं शंकाएं होती हैं चिन्ताएं होती हैं और हमी उनका उत्तर उनका समाधान खोजने का पाने का सतत प्रयत्न करते रहते हैं। हमारे प्रयोग होते हैं। उदाहरणों और मिसालों की खोज होती रहती है। कहानी उस खोज के प्रयत्न का एक उदाहरण है। वह एक निश्चित उत्तर ही नहीं दे देती पर यह अलबत्ता कहती है कि शायद उत्तर इस रास्ते से मिले। वह सूचक होती है, कुछ सुझा देती है और पाठक अपनी चिन्तन-क्रिया के सहारे उस रूप को ले लेते हैं।" 'कहानी क्या' पृ० १०८। इस कथन में हम उनके साहित्य का अंतर्बोध पाते हैं। इस सूक्ष्म अन्तर्बोध को विकसित करने के लिए ही जैनेन्द्र का भाषा-वैशिष्ट्य सामने आता है।

'उपन्यास-लेखक में तप चाहिए' पृ० ४१०-७। लेख में जैनेन्द्र ने अपनी बात को कुछ और स्पष्ट करने की चेष्टा की है— 'बाहरी घटती घटनाएं यदि विचारणीय हैं तो इसीलिए कि वे कुछ भीतरी का प्रतीक हैं। भीतर की अपेक्षा में ही बाहर को समझा जा सकता। इसी तरह भीतर को बाहर से विरोधी बना कर देखने की जरूरत नहीं है। मानव-जाति का साहित्य धीरे-धीरे, पर निश्चय उसी ओर बढ़ रहा है। उत्तम उपन्यास इसके प्रमाण हैं।" वही पृ ४१२। यह बात कुछ थोड़ी समझ में भी आती है। यूरोपीय साहित्य के पिछले २ -२५ वर्षों के विकास से इसकी पुष्टि की जा सकती है। परन्तु जब लेखक इस बाहर-भीतर के पीछे ईश्वर की सत्ता की खोज करना चाहता है तो निश्चय है वह उपन्यासकार या कथाकार के क्षेत्र से हट जाता है। मनुष्य

के सम्बन्ध में यह स्पष्ट कर दिया है कि वे "यथार्थ में से आकर भी उस यथार्थ का यथाशक्य परिहार करके बने हैं।" वही पृष्ठ १५७।

इस प्रकार हम देखते हैं कि वस्तु-जगत् के प्रति जैनेन्द्र संशयालु हैं। वह भावना का सत्य चाहते हैं जीवन मात्र के या लेखक के भीतर का सत्य। उनके अनुसार यही भीतर का सत्य वस्तु के सत्य को उद्घाटित कर सकता है। वैसे सत्य तो निर्मम है। बुद्धि की करेखाओं में जकड़ा सत्य मृतवत् है। वह अपने को कब खोलता है। स्पष्ट है कि यह दृष्टिकोण कलाकार का दृष्टिकोण नहीं है यह दार्शनिक का दृष्टिकोण है। कलाकार की परिभाषा देते हुए जैनेन्द्र ने कहा है "अपने प्रति कलाकार सच्चा रहे। इस प्रयत्न में बाहर के प्रति सच्चा रहना असम्भव और बहुत असफलतात्मक होता जायगा। अतः बाहर के प्रति विनयशील और स्नेहशील रह कर ही कलाकार का धर्म पूरा हो जाना चाहिए। संसार पकड़ में नहीं आता इससे उसे पकड़ने का मोह ही वृथा है।" वही पृ॰ १२८। यह नहीं कहा जा सकता कि संसार को पकड़ने में अक्षम रहने पर इस प्रयत्न से हट कर आत्मनिष्ठ हो जाना उपन्यासकार के लिए कहाँ तक ठीक रहेगा। परन्तु जैनेन्द्र की कथाकोविदता को समझने के लिए उनके इस दृष्टिकोण की उपेक्षा नहीं की जा सकेगी। उनके कथा-साहित्य को हमें उनके दृष्टिकोण से भी देखना होगा उनके ही दृष्टिकोण से देखें यह बात नहीं। परन्तु आलोचक की पहली जिम्मेदारी तो लेखक के प्रति ही है।

जैनेन्द्र की रचनाओं का सूत्र उनके इस कथन के द्वारा हमारे हाथ में आ जाता है "जो कुछ मेरे पास रहा है—बाहर का देखना बुद्धि का विचारना और मन का चाहना—सब कुछ पुनर्निर्मित हुआ है और किसी एक अनुभूति के कण के चारों ओर जुड़ कर कहानी की रचना कर देता है। मैं और मेरी कला' पृ॰ १२१। कहानी बेकार है और सारा साहित्य बेकार है अगर मन को यहाँ की दिवारी में बन्द रहना पड़े। साहित्य में अवकाश ही उस मन की क्रीड़ा को पकड़ता है उसको निर्बन्धता है जो बाहर की गली-गली की जिन्दगी में घुस नहीं पाता है। उस कल्पना-क्रीड़ा के पीछे आवश्यक ईमानदारी की वृत्ति या सत्य विधायक है होनी चाहिए। और भी दूसरी जगह अपने निबन्ध में मैंने यही किया है। जीवन या मुझसे तथ्य भी लिया है अपनी भावना से उसे सेक दिया है और कल्पना में गढ़ कर फिर सबको ऐसे प्रस्तुत कर दिया है कि जिज्ञासा जगे और सहानुभूति जगे। ऐसे आदमी व्यवहार की दीवारों से बाहर आकर खुली हवा में स्वास्थ्य का लाभ पाता है।" वही पृ॰ २६।

इस प्रकार जैनेन्द्र ने कथा-कहानी और उपन्यास को आत्मलाभ का साधन माना है। अनुभव अनुभूति भावना कल्पना और सत्य जिज्ञासा के द्वारा उन्होंने बाहरी प्रश्न का भवन भीतर ठहराया है और बुद्धि के ऊपर बुद्धि को प्रधान

होते देखा है। अन्त में "जो है सो है" मानकर बुद्धि से छुटकारा पा लिया है और भावना को मुक्ति देने में ही कृति की सफलता मानी है। इस तरह जैनेन्द्र की बुद्धिवादिता या बुद्धिमूलक चेतना प्रश्नों के सामाजिक राजनैतिक आर्थिक सूत्रों से न उलझकर बधी-बधी सैद्धान्तिकता और दार्शनिकता में डूब गई है। "कहानी क्या है" निबन्ध में पृ० १०८-६ पर उन्होंने रूसी और फ्रेंच कहानी-कला की तुलना करने का प्रयत्न किया है जिससे यह स्पष्ट है कि वह रूसी कहानी में व्यक्तिकरण की ऐमीसिटी प्रमोद और आनन्द का प्रसाद पाते हैं। फ्रेंच कहानी में प्रगट करने का तरीका बहुत ही सुन्दर, सुहावना है हम उसके साथ बह जाते हैं। परन्तु रूसी कहानी सोद्देश्य है उसमें ध्येय है भावना है ज्ञान है जो फ्रेंच कहानी में नहीं है। यह स्पष्ट है कि ध्येय या उद्देश्य का तत्त्व जैनेन्द्र में भी थोड़ा है अस्पष्ट है परन्तु वहाँ मूल में यह है उनकी कहानी में फ्रेंच कहानी के श्रेय तत्त्व सम्पूर्ण रूप से गृहीत हैं। परन्तु जैनेन्द्र में कहानी की सोद्देश्यता आत्मलाभ की सोद्देश्यता में खो जाती है। जो उनके अपने दृष्टिकोण से वांछनीय होकर भी पाठक या उपन्यास-साहित्य के विकास के दृष्टिकोण से वांछनीय नहीं है। 'कहानी क्यों लिखते हैं' प्रश्न का उत्तर देते हुए जैनेन्द्र ने अपनी सर्जन प्रक्रिया पर काफ़ी प्रकाश डाला है "कहानी तो एक भूख है जो निरन्तर समाधान पाने की कोशिश करती रहती है। हमारे अपने सवाल होते हैं शंकाएं होती हैं चिन्ताएं होती हैं और हमीं उनका उत्तर उनका समाधान खोजने का पाने का सतत प्रयत्न करते रहते हैं। हमारे प्रयोग होते हैं। उदाहरणों और मिसालों की खोज होती रहती है। कहानी उस खोज के प्रयत्न का एक उदाहरण है। वह एक निश्चित उत्तर ही नहीं दे देती पर यह अलबत्ता कहती है कि शायद उत्तर इस रास्ते से मिले। वह सूचक होती है कुछ सुझा देती है और पाठक अपनी चिन्तन-क्रिया के सहारे उस रूप को ले लेते हैं। 'कहानी क्या' पृ० ३०८। इस कथन से हम उनके साहित्य का अंतर्बोध पाते हैं। इस सूक्ष्म अन्तर्बोध को विकसित करने के लिए ही जैनेन्द्र का भाषा-वैशिष्ट्य सामने आता है।

"उपन्यास-लेखक में क्या चाहिए" पृ० ४१०-७। लेख में जैनेन्द्र ने अपनी बात को कुछ और स्पष्ट करने की चेष्टा की है— "बाहरी घटनी घटनाएँ यदि विचारणीय हैं तो इसीलिए कि वे कुछ भीतरी का प्रतीक हैं। भीतर की अपेक्षा में ही बाहर को समझा जा सकता। इसी तरह भीतर को बाहर से विरोधी बना कर देखने की जरूरत नहीं है। मानव जाति का साहित्य धीरे-धीरे, पर निश्चय उसी ओर बढ़ रहा है। उत्तम उपन्यास इसके प्रमाण हैं।" वही पृ० ४२५। यह बात कुछ थोड़ी समझ में भी आती है। यूरोपीय साहित्य के पिछले २०-२५ वर्षों के विकास में इसकी पुष्टि की जा सकती है। परन्तु जब लेखक इस बाहर भीतर के पीछे ईश्वर की सत्ता की खोज करना चाहता है तो निश्चय है वह उपन्यासकार या कथाकार के क्षेत्र से हट जाता है। मनुष्य

के कार्य-व्यापार मूलतः मनोनिष्ठ हैं, फिर चाहे उनमें फ्रायडीय कुण्ठा या काम-चेतना का विकास हम मान लें परन्तु काम है ही नहीं भावना ही एक मात्र सत्य है यह प्रतिवाद है। फिर जब इस प्रतिवाद में ईश्वर घुस जाता है तो बड़ी कठिनाई होती है और समझना-समझाना असंभव हो जाता है। किस रूप से जैनेन्द्र उपन्यास की कार्य-कारण शृंखला में ईश्वर को प्रतिष्ठित कर देते हैं यह कहना कठिन है। इससे कथा-क्षेत्र में रहस्यवाद की सृष्टि होती है। सुलझता कम है उलझता ज्यादा है। जैनेन्द्र 'दुनिया में बहुत कुछ घटित हो रहा है। उसको घटना कहते हैं। वह क्यों घटित हो रहा है शायद उसके कारण को भावना कह कर हम चीन्ह सकें। बुद्धि कार्य के कारण की खोज चाहती है। आदमी मशीन नहीं या मशीन है तो मन वाली मशीन है। उसके द्वारा होने वाले व्यक्ति-व्यापार का उसके मन की अव्यक्त भावना से सीधा सम्बन्ध है। जगत् के मनोभाव ही जगत्-कर्म में प्रस्फुटित होते हैं। घटना यदि कार्य है तो भावना कारण। उस कार्य-कारण की सूक्ष्म शृंखला को पकड़ना ज्ञान का लक्ष्य है। पूरी तरह तो वह समझ की पकड़ में आ नहीं सकती। क्योंकि अन्त में कार्य कारण भेद ही भ्रान्ति है। इसी से कहना होता है कि सब का अन्तिम नियम और अन्तिम नियंता ईश्वर ही है पर उस ईश्वर को दुरधिगम्य प्रतीति न रखते हुए भी उसे अधिकाधिक रहस्य से प्रकाश में और कल्पना से समझ में लाने की आवश्यकता है। जाने अनजाने मनुष्य का यही पुरुषार्थ है और युग युग के भीतर वाणी द्वारा और कर्म द्वारा वह यही करता चला आ रहा है। तो मैं उपन्यास में यही टटोलता हूँ कि उसमें जगत्-व्यापार और मनोभाव के बीच कैसी घनिष्ठ और सही और गहरी कार्य-कारण शृंखला बैठाई गई है। दूसरे शब्दों में कहा तो सत्य का गहरा अनुसंधान वहाँ कितना है। अन्तिम सत्य का जितना मार्मिक उद्घाटन जिस रचना द्वारा मुझे मिले उतना ही उसके प्रति मैं कृतज्ञ होता हूँ।' 'उपन्यास-लेखक में तप चाहिए, पृ० ४१४।

यह निश्चय है कि उपन्यास के पात्रों को लेकर या घटनाओं के सूत्रों में ईश्वर की अवतारणा की कोई अनिवार्य आवश्यकता नहीं। जब तक उपन्यास में मनोनिष्ठता और मनोवैज्ञानिकता का प्राधान्य है और भी कुछ तत्त्व हैं जैसे वंशानुक्रम का प्रभाव आदि। परन्तु इन मानी जानी चीज़ों के पीछे किसी "ईश्वरता" की माँग क्यों हो? जैनेन्द्र के उपन्यासों को हम विशुद्ध मनोविज्ञान अथवा मनोविश्लेषण के मानदंड पर नहीं परख सकते। कारण कि वह मनोविज्ञान पर समाप्त नहीं करते अपितु या बल्कि कि वह पात्रों की मूल चेतना में प्रवृत्तियों के मूल न जाकर उन्हें भाव विस्फोट से परिचालित "ईश्वर" को सौंपा मान लेते हैं। अतः उनके उपन्यासों में तर्कानुगत परिणामात्मकता नहीं है। कभी कभी उनका कार्य-व्यापार अबूझ, अस्पष्ट और भ्रामक बन जाता है। उनके सिद्धान्त आवरण उनके विरुद्ध पड़ते हैं। उनमें भाव-निष्पन्नता अधिक आ जाती है और वे पकड़ में नहीं आते। मनोविज्ञान तो वास्तविक विज्ञान है।

विज्ञान यानी २+२=४। परन्तु जैनेन्द्र साहित्य को मनोविज्ञान से बड़ा ही रखना चाहते हैं, यद्यपि वह मनोविज्ञान की उपेक्षा भी नहीं कर सकते। फलत: उन्होंने २+२+ईश्वर=२ अबूझ जीवन-तत्व। इस ईश्वर को मनोवैज्ञानिक सूत्रों के पीछे या आगे या बीच में प्रतिष्ठित करने से निःसन्देह जैनेन्द्र को सुविधा हो जाती है और वह आलोचक का मुंह बन्द कर अपने "अहं" का परिरक्षण कर डालते हैं जैसे न जानते हुए भी या कम जानते हुए भी वह सब जानते हैं क्योंकि वह ईश्वर को जानते हैं या क्योंकि ईश्वर को कोई नहीं जानता और न जानने में ही सम्पूर्णता और बड़प्पन है। इसीलिए जो समीक्षक जैनेन्द्र में शास्त्रीय काम चलता या ढूंढना चाहते हैं उनके समाधान छोटे पड़ते हैं और ईश्वर को लेकर उपन्यासकार उन्हें छोटेपन या नगण्यता की दृष्टि से देख सकता है। इस "ईश्वर" के नाते से पात्रों और पात्रों का विश्लेषण और विघटन विस्फोट देने में उपन्यासकार को सुविधा होती है और वह सामाजिक उत्तरदायित्व से भी बच जाता है। यह नहीं कि जैनेन्द्र सामाजिक प्रश्नों से परिचित ही नहीं हैं, या उन्हें उठाते नहीं हैं—वह उन्हें बड़ी शक्ति से उभारते हैं, सामने लाते हैं लेकिन इन प्रश्नों का तर्क-सम्मत समाधान न देकर वह समाधान के रूप में "ईश्वर" देते हैं जो सब कुछ होकर भी यानी समाधान होकर भी अबूझ है और जिसकी अबूझता औपन्यासिक समाधान के लिए निर्भ्रान्तता ही रहेगी। क्यों जैनेन्द्र मनोवैज्ञानिक सूत्रों को स्वाभाविक परिणति न देकर उन्हें "ईश्वर" में समाप्त कर देते हैं या सामाजिक प्रश्नों को अध्यात्म में डुबो देते हैं यह जानने का कोई उपाय हमारे पास नहीं है। यह पलायन है या सामान्य तर्कमूलक ज्ञान से कुछ अधिक या उसके या बुद्धिमत्ता होने पर भी बुद्धि प्रखरता का अभाव या कलाकारिता के प्रति विरोधी सद्भाव या दार्शनिकता का मन कुछ भी कहना कठिन है। कारण एक हो सकता है और अनेक कारण हो सकते हैं। परन्तु कदाचित् उन कारणों के मूल में जाने की कोई सुविधा हमारे पास नहीं है न इससे कोई लाभ है। जैनेन्द्र के साहित्य में जो है, जो अनिवार्य रूप से है उसे लेकर हमें चलना होगा। उनकी मान्यताओं को छोड़ कर हम उनके साहित्य के अन्दर में कैसे प्रतिष्ठित हो सकेंगे।

(२)

अपनी प्रारम्भिक रचनाओं के सम्बन्ध में जैनेन्द्र ने हमें अपनी ओर से बहुत कुछ दे दिया है। इन्हीं में उनके साहित्य का "सूत्र" मिल जाता है। लेखक की ये प्रारम्भिक रचनाएं १९२८ में प्रकाशित हुई हैं। ये रचनाएं हैं—खेल, फोटोग्राफ, अब का भेद, व्याह, स्पर्द्धा, पानी और पत्थर। इन प्रारम्भिक रचनाओं के सम्बन्ध में लेखक ने इस प्रकार कहा है

प्रामाणिक रूप में बहुत कम कह सकेगा। पर मैं इतना जानता हूँ कि उसके सत्यपन की स्पर्धा मेरी है और बिहारी की सफलता मेरी भावनाओं की है। और कट्टो वह है जिसने मुझे स्पर्श किया और जिसे मैं अपनी समस्त भावनाओं का वरदान देना चाहता था। यानी यथार्थता की धरती से उठकर उन सब चित्रों में जिन्होंने मिलकर "परख' की कथा का रूप लिया मेरी भावनाएं और धारणाएं ही अनायास भाव से बुनती गई हैं।" वही पृ० ११।

'कट्टो" से आप-बीती का हलका सा संबंध है। कट्टो मेरे जीवन के निकट रही है। विविध पृ १९९।

सुनीता

'सुनीता से मेरे जीवन का सम्बन्ध नहीं वह बुद्धि से कल्पना के आधार पर खड़ी की गई है। विविध पृ १९९।

प्रश्न कहाँ तक संभव है कि पुरुष के समक्ष नारी एकाएक अपना नग्न प्रदर्शन करे? सुनीता ने वस्तुतः ऐसा किया या उसकी दमित चिर संचित भावना का यह प्रस्फुटीकरण था?"

उत्तर एकाएक तो नग्न होना होता ही नहीं है। नग्नता नाम की चीज है तो भीतरी। हम अभी अच्छे-अच्छे कपड़े पहने बैठे हैं तो क्या हम चौबीस घंटे ऐसे रहते हैं। हम सब के भीतर नग्नता मौजूद है। डाक्टर के यहाँ स्नान-घर में क्या नग्नता से हम अपरिचित हैं। हमने कपड़े को अधिक महत्त्व दिया शरीर को कम। इसीलिए नग्नता का प्रश्न उठता है। उपन्यास भी समाज है पर दोनों की मर्यादा में भिन्नता है। उपन्यास के नायक और समाज के व्यक्ति में भिन्नता है। पात्र में मानसिकता और भावना ज्यादा-ज्यादा होती है शरीर की मर्यादा कम। जहाँ तक सुनीता का प्रश्न है—"इतनी लम्बी जिन्दगी है और क्या उसमें सब नहीं आवरण रहने। और अगर "सुनीता" नग्न भी हुई तो उससे किसी के लिए भय क्यों? वह तो पुस्तक में है। सुनीता का नग्न होना किसी व्यक्ति की नहीं प्रतीक की नग्नता है।"

प्रश्न: 'किन्तु सुनीता तो हमारे समाज की प्रतीक है फिर उसकी नग्नता दूसरे की नग्नता नहीं।"

उत्तर 'उपन्यास के पात्र हमारी संकीर्णताओं से सीमित नहीं। वे हमारी ही अपनी अन्तरतम भावनाओं के प्रतीक हैं। वे हमारी आत्मा के प्रतीक हैं हमारे मनोग्रहों के नहीं। विविध पृ १९८ १९९।

"एक आलोचक ने रवि बाबू के 'घर और बाहर' का जिक्र किया। मुझे इससे खुशी हुई। दिन हुए मैंने वह पुस्तक पढ़ी थी। तब मेरा लिखना आरम्भ न हुआ था।

मुझे अब भी उसकी याद है। निःसन्देह जो "घर और बाहर" में है वही 'सुनीता' में भी है। वही समस्या है। अनजाने ऐसा नहीं हो गया है, जान-बूझकर ऐसा हुआ है। किन्तु "घर और बाहर" की समस्या तभी तो बनी जबकि वह जगत् की समस्या है। उसे उस रूप में रवि बाबू से पहले भी लिया गया, उन्होंने भी लिया और पीछे भी लोग लेंगे।

समस्या सदा त्रिकूट है। जगत् में मुख्य पक्ष दो हैं, स्व और पर। स्व मानी मैं। मैं अर्थात् भोक्ता। भोक्ता मानकर अपनी भोग-बुद्धि के परिणाम के अनुसार मैं "पर" को फिर दो भागों में बाँट डालता हूँ। पहला जो मेरा है, दूसरा जो मेरा नहीं है। इसी स्थान पर समस्या खड़ी होती है। जिसे मेरा माना उस पर मैं कब्जा चाहता हूँ, जो मेरा नहीं है उससे विरोध मानता हूँ। इस भाँति मैं जीता और बढ़ता हूँ। यही जीवन की प्रक्रिया है।

असल में "स्व" और "पर" का विभेद माया है। जीवन की सिद्धि उनके भीतर अभेद अनुभूति में है। परन्तु अभेद कहने ही से तो सम्पन्न नहीं हो जाता —उसी के लिए है साधना, तपस्या, याग-यज्ञ। जाने-अनजाने प्रत्येक "स्व" इसी सिद्धि की ओर बढ़ रहा है।

"मैं" और 'मेरा' इन दोनों को मिलाकर व्यक्ति अपना घर बनाता है। उस घर में व्यक्ति अपना विसर्जन देता और शेष विश्व से आहरण लेता है। बाकी दुनिया में से कमाता है, घर में खर्च करता है। जगत् से लड़ता है, घर में प्रेम का काम करता है। घर उसके लिए हाट नहीं है। इस "घर" का ही नाम विकास क्रम से परिवार, नगर, समाज, जाति, राष्ट्र आदि होता है।

इसलिए अगर समस्या को आध्यात्मिक विज्ञान की राह से नहीं, सम्वेदित्व कला और हृदय की राह से अवगत करना है तो उसका यही त्रिकूट रूप होगा : मैं, मेरा, पराया और बाहरी।

अब यहाँ एक और तत्त्व ज्ञातव्य है। जिसे मैं अपना मानता हूँ अर्थात् मेरी सम्पत्ति, मेरी चीज आदि, वह भी अपने में निजत्व शून्य नहीं है। उसमें भी स्व-भाव है, अपनापन है। फिर भी जो जितना मेरा बन चुका है उसकी निजता कुछ मेरे निकट अनुगत होती रहती है। इसीसे समस्या के निरूपण में मानव-संबंधों की अपेक्षा मेरे अधिकृत स्वत्व का प्रतीक बन जाती है पत्नी। पत्नी घर का केन्द्र है। वह "मेरी" है पर स्वयं भी है। अनुगत है पर जड़ पदार्थ नहीं है —सचेत आत्म है, और उसमें भी व्यक्तित्व है। इन स्वामी और पत्नी के साथ ही किसी कदर उनके बीच में आता है तीसरा व्यक्ति जो "पर" का प्रतीक है। वह भी एकदम अपरिचित नहीं है। अपरिचित कैसे हो सकता है भला, प्रत्युत संगत है और वह उनकी सम्मिलित इकाई 'दाम्पत्य' से स्वतंत्र है यद्यपि वाधित है।

कवि रवीन्द्र ने "घर" में बाहर का प्रवेश दिखाया। 'घर' इससे विक्षुब्ध है, चंचल है। वहाँ "बाहर" संदीप के रूप में अभिमण्डित है, पर प्रबल है। घर की विक्षुब्धता गहन होती जाती है मानो बाहर के धक्के से घर टूट जाएगा। बाहर का आकर्षण दुर्निवार है, धर्षणशाली है। समस्या घोरतर से घोरतम होती जाती है। तब क्या होता है जिससे समस्या बंद हो जाती है। संदीप पलायन कर जाता है। पत्नी मुड़कर पति के प्रति क्षमा प्रार्थिनी बनती है और फिर पत्नीत्व में प्रतिष्ठित होती है। ऐसे मानो निर्णीत होता है कि "घर" को बाहर के प्रति निरभिलाषी एवं विमुख होकर ही अपने को निष्पन्न करना होगा।

कवि की लेखनी की क्षमता ही क्या ? वह अनुपमनीय है। पर मेरे मन को समाधान नहीं मिला। "घर" सम्पन्न-भावह अपने को 'बाहर' के प्रति दुष्प्राप्य और प्रतिकूल बनाकर बैठे और उस 'बाहर' को सर्वथा बहिष्कृत और निषिद्ध बनाए रखे क्या यह समाधान है ? क्या यह सिद्धि है। यहाँ अभेद कहाँ है ? यहाँ तो भय है। प्रेम कहाँ है यहाँ तो अप्रेम भी है। यही होना हो तब तो समस्या ही क्या हुई। ऐसा कुछ समाधान क्या फिर प्राप्त अहं-सिद्ध स्थिति-बद्ध समाज नीति में से भी नहीं प्राप्त हो सकता।

तो मन के इस तरह के असंतोष का भी "सुनीता" के जन्म में प्रभाव है। मैंने "सुनीता" में अपनी बुद्धि के अनुसार दुस्साहसपूर्वक भी समस्या को टेककर आगे बढ़ाया है। मैंने उसमें अपने को बचाया नहीं है और जहाँ तक मैं उसके साथ चला हूँ वहाँ तक समस्या ने चलना चाहा है।

दोनों सचमुच शाश्वत रूप में क्या परस्परापेक्षाधीन ही नहीं है। मैंने समस्या के निरूपण में भी तदनुकूल भिन्नता देनी चाही है। "बाहर" को निरे आक्रमण के रूप में "घर" के भीतर नहीं प्रविष्ट किया है। हरिप्रसन्न स्वयं अपने आप में अधूरेपन के बोध से मुक्त नहीं है और वह जैसे एक पुकार के उत्तर में और एक निमंत्रण के निर्देश पर ही एक रोज अनायास "घर" के भीतर आ पहुँचा है। पहुँचकर वह वहाँ स्वेच्छाचारी अभ्यागत है ही नहीं, पाने से विनत होकर ही जो है सो है।

रवीन्द्र का घर भिन्न है और "बाहर" भी भिन्न है। वह घर आत्मतुष्ट है मानो "बाहर" उसके निकट अभी अनाविष्कृत है। "बाहर" का आक्रमण वहाँ एक रोज अप्रत्याशित अनाहूत घटना के रूप में होता है। वह संदीप भिन्न है परन्तु विभ्रम उसके व्यक्तित्व का प्रधान पहलू है। मानो सहानुभूतिशील वह है ही नहीं। घर की रानी का संदीप की ओर खिंचना स्पष्ट दिखता है। उसे संदीप मोहता है, आकर्षित करता है और अपुतली चौंकने को ही उस ओर खिंच गयी है। संदीप इस तरह कुछ अतिमानव आततायी हो उठता है।

उपयुक्त मिलता सुनीता और श्रीकान्त की मधुरानी में है। मधुरानी बीच में मानो स्खलन-मार्ग पर चलकर अंत में प्रायश्चित्तपूर्वक पतिनिष्ठा में पुनः प्रतिष्ठित होती है। सदीप का गर्व खर्व होता है और मधुरानी की मातृनिष्ठा मग्न हो जाती है। संदीप के लिए पलायन ही मार्ग है क्योंकि मधुरानी अब पतिपरायणा है। सुनीता की पतिपरायणता इतनी दुष्प्राप्य किसी स्थल पर नहीं है कि प्रायश्चित्त का सहारा उसे दरकार हो। पति में उसकी निष्ठा उसे हरिप्रसन्न के प्रति और भी स्नेहशील और उदार होने का बल देती है। प्रारंभ से ही उसकी चाल सुनी है और अंत तक जो उसने किया और उससे हुआ है उसमें वह लिप्त मोहांध नहीं है। शुरू से वह जागरूक है और गृहिणी धर्म से च्युत नहीं है। उस "घर" में अंत तक इतना स्थान है कि हरिप्रसन्न की दूरस्थ स्मृति से दूर रखना उसके लिए जरूरी नहीं है। प्रस्तुत हरिप्रसन्न के प्रति सदा वह "घर" अपना स्नेह बनायेगा और उसकी याद रखेगा। मनन में "घर" और "बाहर" में परस्पर सम्मुखता ही मैं देखता हूँ। उनमें कोई सिद्धान्तगत पारस्परिक विरोध देखकर नहीं चल पाता। 'आलोचक के प्रति' पृ० ११७-१२२।

जैनेन्द्र ने अपनी कृतियों में "सुनीता" के संबंध में ही सब से अधिक लिखा है। वास्तव में "सुनीता" उनकी सबसे अधिक आलोचित और विवादित पुस्तक रही है। जिन तीन प्रमुख पात्रों को लेकर कथा की रचना हुई है, श्रीकांत हरिप्रसन्न और सुनीता उनके पारस्परिक संबंध बहुत कुछ अबूझ रह गए हैं। उदाहरण के लिए हम श्रीकांत और हरिप्रसन्न के संबंध को ले सकते हैं जो "घरे-बाहरे" से अतिरिक्त एक नई जीवनस्थिति हमें देता है। हरिप्रसन्न के प्रति श्रीकांत के मन में जो सहिष्णुता है या कोमलता है, जो अपनापन है वह क्या केवल इसलिए कि हरि कलाकार है, या उसके पीछे विवर्जित कैशोर काम है या इसी प्रकार की कोई रहस्यमयी काम-ग्रंथि है। वह उसे स्वयं अपनी पत्नी की ओर क्यों आकर्षित करता है। क्या इसमें स्वयं उसके किसी भाव की तुष्टि नहीं है ? यह स्पष्ट है कि "सुनीता" की समस्या का समाधान एकांत रूप से सही नहीं है जो जैनेन्द्र दार्शनिक आवरण देकर उपस्थित करते हैं। कृति पहले आई है, समाधान बाद में आया है और उस पर कलाकार जैनेन्द्र की नहीं दार्शनिक जैनेन्द्र की स्पष्ट छाप है। यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि आलोचक और पाठक जैनेन्द्र के समाधान से संतुष्ट नहीं हैं और उन्होंने इस रचना में स्वयं लेखक की अतृप्ति और कुंठा के दर्शन किये हैं। सिद्धान्त के बाहरी तत्वों को ही जैनेन्द्र ने इसे अधिक दिया है उसका भीतरी रूप स्वयं उनके व्यक्तित्व से अत्यन्त संबंधित है। लेखक की अन्य कृतियों के परिपार्श्व में वह भीतरी रूप अबूझ नहीं रह जाता। इसलिए "सुनीता" के स्पष्टीकरण के लिए हमें बराबर जैनेन्द्र के व्यक्तित्वगत विश्लेषण और उनके मत वैषम्य विरोधों को लेकर चलना होगा। कला-कृति-संबंधी उनके वक्तव्य अपूर्ण हैं। ऐसे विशेषतः इसलिए कि जैनेन्द्र छिपाते अधिक हैं, कहते कम हैं और यहाँ तक भी

हैं, वहाँ भी कुछ गोपनीय अवश्य रखते हैं। उनके साहित्य में "आपबीती" ही अधिक है और "जगबीती" आपबीती बन कर ही आकर्षक बन सकी है। जहाँ कल्पना का आग्रह है वहाँ मन-कल्प ही अधिक है जो अवचेतन की अभिव्यक्ति कहा जा सकता है। रवीन्द्रनाथ से अपनी भेंट का उल्लेख करते हुए कई संस्मरणों में लेखक ने 'सुनीता' संबंधी अपने दृष्टिकोण की विशिष्टता को उभारा है परन्तु सभी जगह वह अपने व्यक्तित्व को बराबर बचाते गये हैं और इसका फल यह हुआ है कि रचना और भी दुरूह होती गई है। कुछ आलोचकों ने "सुनीता" की परिणति को गांधीवादी आदर्शवाद की चरम सीमा कहा है परन्तु गांधीवादी वातावरण में लिखी जाने पर "सुनीता" में तारुण्य का नारी के प्रति रहस्यमय आकर्षण ही अधिक है। आनन्दवाद का आरोप है।

त्यागपत्र

प्रश्न—"क्या 'त्यागपत्र' की मृणाल का जो एक सुसंस्कृत उच्च परिवार में पल चुकी है संबंध एक कोयले वाले से जोड़कर आप स्वाभाविकता से दूर नहीं जा पड़े हैं।"

उत्तर—स्वाभाविकता क्या ऐसी चीज है जिसकी सीमाओं का कुछ पता हो। स्वाभाविकता नाम की चीज की सीमाएँ ज्ञात नहीं। हमारी कल्पना जहाँ तक जाती है सत्य उससे भी आगे जाता है। उपन्यास स्वाभाविक बनने के लिए नहीं है वह तो एक प्रभाव पैदा करने के लिए होता है जिसकी रचना इसलिए स्वाभाविक बनाई जाती है कि वह आपके मन पर थोड़ी देर के लिए उतर जाए। विविध पृ० ४०१।

सामूहिक रूप से भी उन्होंने अपनी रचनाओं पर विचार किया है। वह कहते हैं "अपनी रचनाओं की विविधता पर मैं प्रसन्न नहीं हूँ। न उनमें कोई ऐसा विरोध देखता हूँ। हाँ विविधता तो देखता ही हूँ और उसका मूल्य भी मानता हूँ। "एक रात" और "जयसन्धि" में स्वाद-भेद और मूल्य-भेद तो है ही। पर मेरी अपेक्षा से तो दोनों में एकता ही सत्य है।—यह स्वीकार करना होगा कि मैं अपनी जिन रचनाओं में भावप्रवण अधिक हूँ वहीं जीवन-समीक्षक विषम।—" 'कला और जीवन' पृ० ८३१।

ऊपर के संकेतों से यह स्पष्ट हो जाता है कि यद्यपि जैनेन्द्र के अपने साहित्य से संबंधित वक्तव्य उनके दृष्टिकोण को समझने के लिए महत्वपूर्ण हैं परन्तु उन्हें उनके साहित्य पर अंतिम शब्द नहीं समझा जा सकता। उन्होंने अपनी प्रारम्भिक रचनाओं के संबंध में बहिर-परिस्थितियों का निर्देश किया है परन्तु संपूर्ण रूप से अपने अध्ययन और मानसिक आलोड़न को वह सामने नहीं ला सके हैं। इसी से जो विवरण हमें उनसे मिलता है वह अपूर्ण है और उसके आधार पर हम कुछ भी निश्चित नहीं कर सकते। उदाहरण-स्वरूप जैनेन्द्र की "ब्याह" शीर्षक कहानी चेखोव की "मैगडूल"

(पड़ोसी) कहानी की मूल संवेदना लेकर चलती है और यह संभव है कि यह कहानी उस समय लेखक के सामने रही हो। इस कहानी की नायिका अप्रत्याशित रूप से अपने पड़ोसी से विवाह कर लेती है और जब परिवार के आक्रोश को प्रकट करने के लिए उसका भाई उसके घर पर पहुँचता है तो उसे ऐसा भावमग्न और पुलक-सिक्त पाता है कि अपनी अस्वीकृति का उल्लेख भी नहीं करता और स्वयं अपने को धिक्कारता हुआ लौट आता है कि उसने अपने जीवन के इस पहलू को अभी तक उचित महत्व नहीं दिया। जीवन का व्यंग 'गेलोव' की कहानी में जितनी तीव्रता से उभरता है उतनी गहरी संवेदना लेकर जैनेन्द्र की रचना में नहीं। उसमें कैशोर का रंजक रोमांस ही अधिक सामने आता है, विवाह और प्रेम की नैतिकता का प्रश्न अस्पष्ट ही रहता है। जो हो इसमें संदेह नहीं कि जैनेन्द्र के साहित्य को समझने के लिए हमें स्वतंत्र दृष्टि विकसित करनी होगी और स्वयं लेखक के दृष्टिकोण से हम अधिक सहायता नहीं ले सकेंगे। उनके वक्तव्यों को हमें उनके व्यक्तित्व और उसकी रुचि अरुचि पर परखना होगा और उनमें से उपयोगी तत्वों की खोज करनी होगी। उपन्यासों में "त्यागपत्र" और "कल्याणी" को छोड़ कर अन्य रचनाओं के मूल सूत्रों और प्रभावों से हम थोड़ा-बहुत परिचित हैं। कहानियों में जैनेन्द्र वैचित्र्य की भूमि पर अधिक नहीं चले हैं। उनमें उनका व्यक्तित्व अधिक खुला है। सच तो यह है कि साहित्य-धर्मी लेखक के जीवन की एक अत्यन्त व्यापक भूमि को लेकर सामने आता है और उसमें उसके व्यक्तित्व चरित्र और अवचेतन के साथ उसके अध्ययन और अनुभव का विस्तृत संसार भी रहता है। अतः किसी भी लेखक के मूल्यांकन में हमें उसके अपने मंतव्यों को अंशतः ही स्वीकार करना होता है। जैनेन्द्र के अपने साहित्य के संबंध में उद्गारों की भी यही स्थिति है। उन्हें हम अंशतः ही स्वीकार कर सकते हैं। जहाँ उनसे अन्य प्रमाणित संदर्भों की पुष्टि होती है वहाँ वे हमारे लिए विशेष उपयोगी हैं। अन्यथा हमें उन्हें छोड़कर चलना होगा।

पिछले पृष्ठों में हमने कुछ विशिष्ट रचनाओं पर जैनेन्द्र की अपनी सम्मति दी है और कुछ अन्य रचनाओं की सर्जनात्मक प्रेरणाओं को उभारा है। यह स्पष्ट है कि जैनेन्द्र का अधिकांश साहित्य एक विशेष सृजन-प्रक्रिया को लेकर उपस्थित होता है। उसमें प्रमुखता अनुभूति के तत्व की है वस्तुगत अनुभव की नहीं। किसी विशेष अनुभूति को केन्द्र में रखकर वे उसके चारों ओर कल्पनालोक की सृष्टि करते चले पड़ते हैं और इसीसे उनकी रचनाओं में वस्तु-सत्य संभाव्य से मिल कर एकाकार हो गया है और बहुधा मन-कल्प की प्रधानता हो गई है। मनोविज्ञान और मनोविश्लेषण की सीधी-सादी भाषी-भाली रेखाओं में उनका साहित्य इसीलिए नहीं बंध पाता क्योंकि उनमें कल्पनात्मक प्रसार और वैचित्र्य का आग्रह अपेक्षाकृत अधिक है। यह स्पष्ट है कि लेखक का व्यक्तित्व प्रेमचंद के व्यक्तित्व की तरह—

सीधा और सुलझा हुआ नहीं है, उसमें विरोधी और द्वन्द्वात्मक तत्वों का प्राधान्य है और उनकी सजग क्रिया जो उनके अवचेतन को विशेष रूप से उभार कर सामने लाती है उनके साहित्य को विषम और द्वन्द्वात्मक बना देती है। उनके साहित्य की कोटि ही प्रेमचंद के साहित्य की कोटि से भिन्न है। इस विभिन्नता को स्वीकार करके ही हमें उसका मूल्यांकन करना होगा। जैनेन्द्र की अपनी साहित्यिक मान्यताएं और उनकी अपने साहित्य की परख हमें उनके व्यक्तित्व से उनके साहित्य का संबंध-सूत्र जोड़ने में सहायता दे सकती है। इसी में ही उनकी सार्थकता है परन्तु उनके दृष्टिकोण और अनेक व्यक्तित्वनिष्ठ सूत्रों को समझने में हमें उनसे बहुत कुछ महत्वपूर्ण भी मिल सकता है इसमें संदेह नहीं।

२

जैनेन्द्र की उपन्यास-कला

जैनेन्द्र की उपन्यास-कला की सबसे बड़ी विशेषता उनके उपन्यासों का लघुत्व है। वह प्रेमचंद की तरह अनेक-कथा-सूत्रों को लेकर नहीं चलते। अपने सभी उपन्यासों में उन्होंने अपनी कथा की चित्रपटी बहुत थोड़ी रखी है और वह कुछ इने गिने पात्रों में समाप्त हो जाती है। अपने उपन्यासों के इस लघुत्व की व्याख्या करते हुए स्वयं जैनेन्द्र ने यह बतलाया है कि वास्तव में वह मानव-जीवन और मानव-मनस्तत्त्व के खोजी हैं। उनका कहना है कि जो अण्ड में है वह पिंड में है अर्थात् जो समस्याएं अनेक रूपों में हमारे सामने बिखरी पड़ी हैं वे कुछ इने-गिने पात्रों अथवा चरित्रों में समेटी जा सकती हैं और यदि कलाकार में क्षमता है तो वह सूक्ष्म से विस्तार को समझ सकता है।

दार्शनिक कलाकार होने के नाते जैनेन्द्र की उपन्यास-कला की यह व्याख्या अनुचित नहीं जान पड़ती। जैनेन्द्र का यह भी कहना है कि उपन्यासकार संकेत से काम ले सकता है और उसके लिए यह आवश्यक नहीं है कि वह कथा और पात्रों के बीच की सारी खाइयों को भरे अथवा पात्रों को विशेष रंग-रूप एवं आकार-प्रकार दे। यहीं से जैनेन्द्र की उपन्यास-कला प्रेमचंद और पूर्ववर्ती उपन्यासकारों की कला से भिन्न हो जाती है। जैनेन्द्र के पात्र उनकी मानसिकता के प्रतीक होने के कारण केवल भिन्न भिन्न नाम लेकर हमारे सामने आते हैं। उनका रूप-रंग इतना स्पष्ट और मांसल नहीं होता कि वे हमारे मन पर प्रेमचंद के पात्रों की तरह अमिट छाप छोड़ जायें। इस प्रकार हम यह देखते हैं कि जैनेन्द्र उपन्यास-कला में सांकेतिकता का आग्रह लेकर सामने आये। इस विशेषता के कारण उनके उपन्यास सूक्ष्म हो गए हैं और उनमें कुछ दुर्बोधता आ गई है। कहीं-कहीं विभिन्न कड़ियों को जोड़ने में पाठक को बड़ा प्रयास करना पड़ता है और इस प्रयास के बाद भी यदि उसे मनोवांछित वस्तु नहीं मिलती तो वह क्षोभ से भर जाता है। एक प्रकार से जैनेन्द्र के उपन्यासों का लघुत्व उनके कलात्मक पक्ष के विकास में बाधक हुआ है। यह अवश्य है कि आधुनिक उपन्यास-कला लघुत्व की ओर बढ़ गई है और लघु उपन्यास के नाम से एक नई उपन्यास-जाति भी हमारे सामने

पाई है। किन्तु किसी छोटी कहानी को लेकर भी व्यापक भाव भूमि विकसित की जा सकती है। शरच्चंद्र के उपन्यासों में इसी प्रकार की क्षमता है और इसीलिए वे अधिक लोक-प्रिय हो सके हैं।

जैनेन्द्र के उपन्यासों की दूसरी विशेषता उनमें प्राकृतिक विस्तृति का अभाव है। उनके अधिकांश उपन्यासों में हमें किसी भी प्राकृतिक दृश्य की पृष्ठभूमि नहीं मिलती। वास्तव में औपन्यासिक विकास में वर्णन-कला की प्रधानता रही है और पूर्व-पश्चिम दोनों ओर बृहद् उपन्यास व्यापक प्राकृतिक विस्तार को लेकर चले हैं। जैनेन्द्र के उपन्यास मनोवैज्ञानिक होने के कारण मन के ऊहापोह तक सीमित रह जाते हैं और उनमें जीवन की रंगीनी और अनेकरूपता हमें नहीं मिल पाती। यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि उपर्युक्त वर्णनों के अभाव में जैनेन्द्र की शैली रूखी बन गई है और उसमें औपन्यासिक सरलता का अंश बहुत कम हो गया है। वह सहृदय मानव की रचना न होकर एक अतिमानव का चिन्तन-व्यापार बन गई है। जान पड़ता है जैनेन्द्र के अपने जीवन की छाया इसके लिए उत्तरदायी है। नगरों में लालन-पालन होने के कारण और दार्शनिक वृत्ति की प्रधानता के कारण जीवन की व्यापक अनुभूति का उनमें अभाव है। इसीलिए हम देखते हैं कि वह अपने सभी उपन्यासों में लगभग एक जैसे कथानक लेकर चलते हैं और तंग गलियों एवं नगर के गली-कूचों से बाहर नहीं जा पाते।

एक तीसरी विशेषता वह करुणा की छाया है जो उनके सभी उपन्यासों में व्यापक रूप से दिखाई पड़ती है। जैनेन्द्र का मानसिक संगठन कदाचित् इसके लिए उत्तरदायी है। उन्होंने रवीन्द्र और शरत की कला का विशेष अध्ययन किया है और जहाँ उनके उपन्यासों के बहिरंग पर रवीन्द्र के बौद्धिक चिन्तन और उनकी गुरु-गंभीर शैली की छाया है वहाँ उनके उपन्यासों के अंतरंग में शरत की व्यापक करुणा विराजमान है। यह अवश्य है कि जैनेन्द्र के दार्शनिक दृष्टिकोण में थोड़ा सा काठिन्य भी है और वह शरच्चंद्र की तरह हमें आँसुओं से डुबा नहीं देते किन्तु यह निश्चित है कि उन्होंने जीवन के ऐसे पात्रों को लिया है जो कारुणिक स्थितियों के प्रतीक हैं। जैनेन्द्र मूलतः आदर्शवादी कलाकार हैं। अपनी मूल आदर्शोन्मुखी दृष्टि से वह विषम सामाजिक स्थितियों को पहचान लेते हैं और कलाकार के नाते इन स्थितियों के चित्रण का भी प्रयत्न करते हैं। किन्तु इस क्षेत्र में उनकी मानसिकता की अपनी सीमाएँ हैं। उनके प्रत्येक उपन्यास के प्रारंभिक भाग में उनकी समाज-सम्बन्धी चेतना हमें स्पष्ट दिखाई देती है परन्तु उपन्यास के उत्तरार्द्ध में वह भी प्रेमचन्द की तरह सामाजिक सीमाओं का स्वीकार कर लेते हैं और आरम्भ का विद्रोह कुंठित हो जाता है। उपन्यास के अंत में हम प्रधान पात्र या पात्री को उन परिस्थितियों से टूटा हुआ पाते हैं जिनको उन्होंने आरम्भ में चुनौती दी थी। यदि जैनेन्द्र में क्रान्तिकारिता कुछ अधिक

होती तो वह उपन्यास के अंत में सामाजिक सीमाओं को स्वीकार नहीं करते और अपने पात्र-पात्रियों द्वारा उठाये हुए विद्रोह को अंतिम सीमा तक ले जाते किन्तु जैनेन्द्र भी एक प्रकार से सामाजिक क्षेत्र में समझौते के ही प्रतीक हैं। वास्तव में उनका यह समझौता कहीं-कहीं पराजय का समर्थन बन गया है। त्याग-पत्र में मृणाल की आत्म कुंठा और उसका आत्म-पीड़न एक ऐसी मनोवृत्ति की सूचना देते हैं जो विद्रोह की आग को सह नहीं सकती। संभवतः उपन्यासों की इस परिणति के पीछे जैनेन्द्र की यह विचारधारा है कि आत्मपीड़न द्वारा समाज को सुधारा जा सकता है। कलाकार के रूप में जैनेन्द्र का उदय १९२८ के लगभग होता है और उनके साहित्य पर गांधीवादी अहिंसक और आत्म-पीड़क विचारधारा की गंभीर छाप है। जीवन के सम्बन्ध में उनका जो दर्शन उस समय बन गया वह अभी तक उसी तरह चल रहा है। इस दर्शन का मूल सूत्र यह है कि मनुष्य यहाँ भी है, बहुत बेचारा है। उसके लिए विद्रोह और जीत संभव ही नहीं है। वह जो है वह है।

इस प्रकार की विचारधारा को हम प्रगतिगामी नहीं कह सकते। इस विचार धारा में ऐसी शक्ति नहीं है जो उपन्यास के पात्रों को कर्मठ और कर्तव्य बनाए। इसी लिए हम जैनेन्द्र के पात्रों की अंतिम स्थिति उनके संन्यासी रूप या सखी रूप में पाते हैं। सुखदा सखी हो जाती है और उसका मन बाहर के आलोक को प्राप्त करके भी उसे अपनी निजी वस्तु नहीं बना पाता। उसके जीवन में हम घर और बाहर का संघर्ष पाते हैं। घर टूट जाता है और बाहर की जीत होती है परन्तु इस जीत में भी सुखदा को संतोष नहीं है। उसके जीवन का संतुलन समाप्त हो गया है और वह इसलिए कि उसका विद्रोह उसकी आत्मप्रेरणा न होकर एक दिखावा मात्र है या सिद्धान्त पर आश्रित है, इसी प्रकार "विवर्त" में हम नायक को अंत में संन्यासी के रूप में उपस्थित पाते हैं। वह भी जीवन से हारा हुआ और एकदम टूटा हुआ व्यक्ति है। यह स्पष्ट है कि जैनेन्द्र जीवन के कारुणिक स्थलों को विशेष रूप से उभारते हैं परन्तु इन स्थलों पर हमें यह संदेश नहीं मिलता कि हम अपने चारों ओर के वातावरण से किस प्रकार ऊपर उठ सकेंगे।

जैनेन्द्र के उपन्यासों की चौथी विशेषता उनकी दार्शनिकता है। उसको हम दार्शनिकता न कह कर सामाजिक दार्शनिकता कहें तो अधिक उपयुक्त होगा। इस प्रकार की चिन्तन-पद्धति जैनेन्द्र से पहले हमें हिन्दी साहित्य में नहीं मिलती। वह महान् सामाजिक प्रश्नों को उठाते हैं और इन प्रश्नों के मूल तक जाते हैं। उनकी मूल-भूत चिंता का अधिक स्पष्ट और अधिक सुन्दर रूप हमें उनके निबंधों में मिलता है परन्तु अपने उपन्यासों में भी वह मूलगत चिन्तन को ही अपने सामाजिक चिन्तन का आधार बनाते हैं। सामाजिक मूल चिन्तन के साथ-साथ अहिंसावादी या आध्यात्मिक विचारधारा भी चलती रहती है और इसलिए जैनेन्द्र की सामाजिकता का रूप स्पष्ट

नहीं हो पाता। उनकी सामाजिक चेतना और यथार्थवादिता बहुत कुछ आध्यात्मिकता में डूब जाती है किन्तु हम यदि उनके चिन्तन के आध्यात्मिक और सामाजिक पक्षों को अलग करके देखें तो वह अवश्य ही क्रांतिकारी दिखाई देते हैं। जैनेन्द्र के चिन्तन के ये दो पक्ष इतने मिले-जुले हैं कि इनको अलग करना कठिन है। जैनेन्द्र ने सभी मूल सामाजिक प्रश्नों के पीछे "ईश्वर" लाकर रखा है किन्तु ईश्वर सामाजिक प्रश्नों का समाधान नहीं है और इसीलिए जैनेन्द्र के विरोधी यह कहते हैं कि उनकी यथार्थवादिता एक सीमा तक पहुँच कर समाप्त हो जाती है और वह समाज की यथास्थिति के कायल बन जाते हैं। श्री विश्वंभर मानव ने अपने एक लेख में जैनेन्द्र पर विचार करते हुए एक सूत्र हमारे सामने रखा है। उनका कहना कि जैनेन्द्र का मूल दर्शन है "जो है सो है।" किन्तु हम जैनेन्द्र के उपन्यासों में आज की सामाजिक स्थिति की पुष्टि नहीं पाते। उनकी जिज्ञासा अत्यन्त मुखर है और सभी स्थानों पर वह उपयुक्त समाधान नहीं दे पाते। किन्तु इससे उनका विचारक पक्ष दुर्बल नहीं हो जाता। उपन्यासकार दार्शनिक नहीं है। वह जिज्ञासा उपस्थित करता है। समाधान उसका लक्ष्य नहीं होता। स्वयं प्रेमचन्द के उपन्यासों का समाधान का पक्ष दुर्बल है। जैनेन्द्र के उपन्यासों की भी यही स्थिति है। उनके उपन्यास हम जिज्ञासा के लिए पढ़ते हैं समाधान के लिए नहीं। किन्तु जहाँ दूसरे उपन्यासकारों में सामाजिक जीवन का चित्रण महत्वपूर्ण होता है और लेखक उस चित्रण से सिद्धान्त की ओर बढ़ता है वहाँ जैनेन्द्र सिद्धान्त को आरम्भ में रखते हैं और फिर सिद्धान्त से चित्रण की ओर बढ़ते हैं। फलस्वरूप उनके उपन्यास एकांगी हैं और उनका चित्रण एकांगी बन जाता है। परन्तु ये लेखक की सीमाएँ हैं और प्रत्येक सिद्ध लेखक की कुछ सीमाएँ रहती ही हैं।

इस संदर्भ पर जब हम विचार करते हैं तो पहले हमें यह देखना होता है कि जैनेन्द्र ने किन महत्त्वपूर्ण प्रश्नों को उठाया है। उनके पहले प्रसिद्ध उपन्यास "परख" में हम उन्हें बन्धन और प्रेम का प्रश्न उठाते हुए पाते हैं। यह प्रश्न एकदम सामाजिक भूमि पर न था वरन् बहुत कुछ वैयक्तिक भूमि पर उपस्थित हुआ है। जैनेन्द्र के लिए वैधव्य केवल सामाजिक बंधन नहीं है वह मन का भी बंधन है उपन्यास में नायिका इस बन्धन को तोड़ देती है और विशुद्ध प्रेम की भूमि पर चल कर विजय प्राप्त करती है। उपन्यास के अन्त में हम बिहारी और कट्टो को आध्यात्मिक प्रेम-सूत्र में बंधा पाते हैं। जैनेन्द्र के मन में विवाह देह का बंधन नहीं मन का बंधन है और इसी से इस उपन्यास में दैहिक मिलन की सम्भावना न रख कर आत्मिक मिलन की भूमि ही चित्रित की गई है। "सुनीता" में जैनेन्द्र ने एक नए प्रश्न को उठाया है। यह प्रश्न १९१६ में "घरे-बाइरे" में स्वयं कवीन्द्र रवीन्द्रनाथ ने भी उठाया था। आधुनिक नारी जीवन का यह महान् प्रश्न है। नारी घर ही के घर में सीमित है किन्तु इस सीमा को बनाये रखना अब उसके लिए असम्भव हो गया है। अनेक प्रकार से बाहर के घर के दरवाज

र दस्तक दे रहा है और उसके लिए यह प्रश्न है कि वह इस बाहर का स्वागत करे या उसकी उपेक्षा करे। यह समस्या मूलतः वैवाहिक जीवन की समस्या है और इसी से जैनेन्द्र ने विवाहित जीवन की पृष्ठभूमि पर इस समस्या को उभारा है। साप्ताहिक "हिन्दुस्तान" में प्रकाशित एक लेख में रवीन्द्रनाथ ठाकुर से अपनी भेंट का संस्मरण उपस्थित करते हुए जैनेन्द्र ने अपने और रवि बाबू के दृष्टिकोण की तुलना की है। उनका कहना है कि रवीन्द्रनाथ के "घरे-बाइरे" में बाहर के आघात से घर टूट गया है। १९०५ के बंग-भंग के आन्दोलन ने नारी को नई सामाजिकता दी थी और नारी-मुक्ति का यह प्रश्न रवीन्द्रनाथ के सामने आया था। जैनेन्द्र के सामने भी यही प्रश्न था किन्तु अधिक उग्र रूप में। १९२१-२२ के आन्दोलन ने नारी को नया राजनैतिक क्षेत्र दिया था और उसके लिए घर की चारदीवारी को स्वीकार करके बैठ रहना असम्भव था। इस समस्या को लेकर जैनेन्द्र ने तीन उपन्यास लिखे सुनीता। (१९३५) सुखदा (१९५०) और विवर्त (१९५२)। इन तीनों उपन्यासों का मूल प्रश्न घर और बाहर के संघर्ष का है। इन तीनों उपन्यासों में जैनेन्द्र इस प्रश्न के प्रति उत्तरोत्तर उदार होते गये हैं। "सुनीता" में हरिप्रसन्न बाहर के आघात का प्रतीक है। मजबूत क्रान्तिकारी और कोमल कलाकार हरिप्रसन्न के पहुँचते ही इस घर में हलचल मच जाती है। किन्तु पति का प्रेम पत्नी को इतना अधिक मिला है कि बाहर का आघात स्वयं कुंठित होकर पीछे लौट जाता है। उपन्यास के अंत में जैनेन्द्र देह की यथार्थकता दिखा कर वैवाहिक जीवन को ही शुद्ध प्रेम के स्तर पर उठा देते हैं। सुनीता ने श्रीकान्त को अपना मन दिया है। वह आत्म-दान से उऋणी है। हरिप्रसन्न का उसके तन के प्रति आकर्षण है किन्तु स्वयं सुनीता की दृष्टि में इस तन का अधिक मूल्य नहीं है। हरिप्रसन्न सुनीता का तन पा सकता है पर मन नहीं पा सकता। अंत में वह आत्मकुंठित होकर भाग जाता है। इस प्रकार "सुनीता" में घर और बाहर के संघर्ष में घर की विजय है। अपने उपन्यास-लेखन के १० वर्षों के अन्तराल के बाद जैनेन्द्र जब उपन्यास-लेखन की ओर लौटे तो उन्होंने "सुखदा" में फिर इस प्रश्न को उठाया। इस उपन्यास में उन्होंने हिंसा और अहिंसा के एक दूसरे प्रश्न को भी लिया और उसे क्रान्तिकारी जीवन की एक विशद पृष्ठभूमि दी। पर मूल प्रश्न वही घर और बाहर का संघर्ष है। यहाँ कांत और सुखदा का घर है। सुखदा अपने व्यक्तित्व का स्वातन्त्र्य चाहती है और स्वयं इस घर को तोड़ कर बाहर चली जाती है। लाल बाहर का प्रतीक है। एक बार बाहर जाकर सुखदा को ज्ञात पड़ता है कि बाहर जाकर उसने अपने व्यक्तित्व की स्वतन्त्रता का अनुभव किया है। किन्तु यह अनुभव बड़ा तीखा है और वह उसे सह नहीं सकती। वह लौटना चाहती है परन्तु लौटना असंभव है। अपने पति के रूप में घर का स्नेह जो उसे प्राप्त था वह छूट गया है और उपन्यास के अंत में हम घर और बाहर के द्वन्द्व के

की शरीर से टूट जाते पाते हैं । यहाँ भी हम कांत के रूप में एक उदार पति के दर्शन करते हैं किन्तु सुनीता के पति की अपेक्षा सुखदा के पति की यह अधिक उदारता सुखदा के लिए घातक सिद्ध होती है । संभवतः इस उपन्यास में जैनेन्द्र का यह दृष्टिकोण है कि पति का संपूर्ण प्रेम पाने पर नारी बाहर जा सकती है किन्तु इस बहिर्गमन की अपनी सीमाएँ हैं । यदि वह बाहर भीतर के बीच में ठीक संतुलन स्थापित नहीं कर सकी तो वह बाहर ही रह जाती है जहाँ संघर्ष है, चकाचौंध पैदा करने वाली स्वाधीनता है परन्तु वह प्रेम नहीं जो जीवन का पोषण करता है । अपने तीसरे उपन्यास 'विवर्त' में जैनेन्द्र मुख्य रूप से हिंसा और अहिंसा के प्रश्न को लेकर चले हैं किन्तु प्रच्छन्न रूप से घर और बाहर का संघर्ष भी उसमें आ गया है । यह उपन्यास अपनी पृष्ठभूमि में 'सुनीता' से बहुत दूर होकर भी अपने अंतरंग में उसके बहुत निकट है । इसमें हम जितेन नाम के एक क्रांतिकारी पात्र को प्रेमी के रूप में पाते हैं । रैन उलट कर वह उपन्यास की नायिका भुवनमोहिनी के घर आश्रय प्राप्त करता है जो उसकी सहपाठिका रही है और जिसके प्रति उसका अनन्य प्रेम है । यहाँ उसे भरपूर प्रेम मिलता है और अंत में वह यह समझ जाता है कि प्रेम हिंसा भाव से कहीं बड़ा है । उपन्यास के अंत में हम नारी के प्रेम प्रसार का एक बड़ा सुन्दर दृश्य पाते हैं । अपने छोटे घर के भीतर ही नारी की सार्थकता है और वह उसी के भीतर से बाहर को जीवन रस [illegible] में समर्थ है ।

इस घर और बाहर की समस्या के साथ-साथ जैनेन्द्र ने सामाजिक भूमि पर नारी की स्थिति को और भी व्यापक रूप से देखा है । "त्यागपत्र" और "कल्याणी" में उन्होंने नारी-जीवन की अनेक विषम स्थितियों को उभारा है । आज नारी की सारी सार्थकता केवल-मात्र उसके तन में है । हमारे सामाजिक संस्कार नारी के विशुद्ध प्रेममय और प्राणदायी रूप को नहीं देख पाते । फल यह है कि एक बार स्खलित होने पर नारी बराबर गिरती ही जाती है और उसकी तन की शुद्धता से उसकी पवित्रता का मूल्य आँका जाता है । यह स्थिति "त्यागपत्र" में बिल्कुल स्पष्ट है । इस स्थिति से नारी का उद्धार करना अत्यंत कठिन है और स्वयं "त्यागपत्र" में इस काठिन्य की व्यंजना है । अपनी बुआ का उद्धार न कर सकने के कारण अन्त में प्रमोद त्यागपत्र दे देता है । "कल्याणी" में नारी स्वतंत्र जीवन जीना चाहती है । वह उच्च पतिव्रत्य धर्म की ज्ञानी है और शिक्षित भी है किन्तु फिर भी उसके लिए स्वतंत्र जीवन जीना असंभव हो गया है । स्वयं कल्याणी का पति उसके आत्मविकास के मार्ग में सबसे बड़ा बाधक सिद्ध होता है और अन्त में पत्नीत्व के बोझ से दबकर कल्याणी की मृत्यु हो जाती है । इस उपन्यास में जैनेन्द्र कदाचित् यह बता देना चाहते हैं कि आज पत्नीत्व नारी के लिए बोझ बन गया है और विवाहित जीवन में भी उसे स्वयं सिद्धि प्राप्त नहीं होती ।

नारी के इन मूल प्रश्नों के साथ-साथ जैनेन्द्र स्त्रीत्व और पुरुषत्व की दार्शनिक समस्या को भी लेकर चले हैं। इस सम्बन्ध में उनका दृष्टिकोण बर्नार्डशा और बर्गसां पर प्रभाव जैसा है। 'शा' ने अपने प्रसिद्ध नाटक 'मैन एण्ड सुपरमैन' में इस प्रश्न को व्यापक रूप से प्रस्तुत किया है। 'शा' की मान्यता यह है कि नारी मूल रूप में स्वामित्व की आकांक्षिणी है और यह प्रवृत्ति उसमें इसलिए पाई जाती है कि वह परिवारों का निर्माण करे।

उनके मूल चिन्तन के कारण उनकी मनोवैज्ञानिकता अज्ञेय और इलाचन्द्र की मनोवैज्ञानिकता से भिन्न है। अज्ञेय और इलाचन्द्र में मनोवैज्ञानिकता ऊपर से आरोपित है। वह पात्रों के जीवन से उतनी विकसित नहीं होती। इस प्रकार जैनेन्द्र को हम ऐसा मनोवैज्ञानिक उपन्यासकार कह सकते हैं जो जीवन की गहरी अनुभूतियों से प्रभावित है और जिसका सामाजिक दर्शन अनेक मनोवैज्ञानिक स्थितियों को लेकर चलता है।

अंत में एक बार जैनेन्द्र की भाषा के संबंध में कह देना अपेक्षित है। जैनेन्द्र की भाषा सप्रयास है या अप्रयास इस विषय में बराबर तर्क वितर्क चलते रहे हैं। पर इसमें संदेह नहीं कि उनकी भाषा का अपना निजी रूप है। वह उनके मूल चिन्तन की वाहक है और उसमें जो एक प्रकार की अतिसंवेदना अति-जागरूकता और अति-मानसता पाई जाती है वह इस कारण कि लेखक का अपना व्यक्तित्व इन्हीं अवयवों से संगठित है। उन्होंने प्रेमचन्द की भाषा-शैली न अपनाकर रवीन्द्रनाथ और शरत्चन्द्र की भाषा-शैली के आधार पर अपनी भाषा-शैली का निर्माण किया है, परन्तु इन दोनों बंगला-लेखकों की भाषा-शैली से वह थोड़ी भिन्न भी है। इसमें जहाँ रवीन्द्रनाथ की बौद्धिकता और सूक्ष्म आलोचन-शक्ति पाई जाती है वहाँ स्थान-स्थान पर शरत्चंद्र जैसी भावुकता और अश्रु-पूरित करुणा लाने में भी वह समर्थ है। इतना होने पर भी उसके विकास का अपना इतिहास है। जैनेन्द्र की भाषा कर्म की भाषा नहीं मानस की भाषा है। उनके उपन्यासों की भूमि बाहरी जगत् न होकर मानसिक जगत् है और इसीलिए उसके लिए उन्हें नई भाषा का निर्माण करना पड़ा है। यह भाषा लेखक के वक्तव्य को बहुत कुछ छूती है और थोड़ा बोलती है, पर उसका यह रूप हिन्दी के लिए एकदम नया और महत्वपूर्ण है। प्रेमचंद के युग तक भाषा की बाहरी विषय संबंधी शक्तियों का पूर्ण विकास हो चुका था। जैनेन्द्र ने अंतर्मन का चित्रण करने वाली भाषा हमें दी और इस प्रकार उन्होंने हिन्दी भाषा की संभाव्य सीमाओं का बहुत दूर तक विकास किया। जैनेन्द्र के उपन्यासों का एक बड़ा आकर्षण उनकी यह भाषा भी है।

—

४

परख

"परख" जैनेन्द्र कुमार का पहला उपन्यास है जो १९२९ में प्रकाशित हुआ था। इस उपन्यास ने हिन्दी के कलाकारों और समीक्षकों के सामने उपन्यास की नई संभावनाएं विकसित कीं और भाषा-शैली भाव-भंगिमा मनस्तत्व और विचार की नई भूमियां दीं। वास्तव में नई उपन्यास कथा का आरम्भ इसी रचना से समझा जाना चाहिए। जिसे 'लघु उपन्यास' कहा जाता है वह "परख" से भिन्न नहीं है और प्रेमचंद के उपन्यासों को सामने रखने पर इस रचना की क्रांतिकारिता स्पष्ट हो जाती है। प्रारम्भ में ही 'लेखक के कुछ शब्द' हैं जिनके द्वारा उसने अपनी नई सर्जन प्रक्रिया पर प्रकाश डाला है और उपन्यास के संबंध में नई धारणा दी है। उपन्यासकार के आदर्श के संबंध में जैनेन्द्र प्रेमचन्द के साथ हैं। वह संभाव्य को लेकर चलते हैं यथार्थ को लेकर नहीं। इस प्रकार वह आदर्शवादी हैं। वास्तव में उनके पहले दोनों उपन्यासों 'परख' और 'सुनीता' के आदर्शवाद ने प्रेमचंद को चकित कर दिया था। "सुनीता" पढ़कर प्रेमचन्द ने आश्चर्य किया था कि जैनेन्द्र व्यवहार की भूमि छोड़कर न जाने आदर्श की किस दुनिया का निर्माण कर रहे हैं। स्वयं जैनेन्द्र के शब्दों को लें "उपन्यास में जैसी दुनिया है वैसी ही चित्रित नहीं होती। दुनिया का कुछ उठा हुआ उन्नत कल्पित रूप चित्रित किया जाता है। वह उपन्यास किसी काम का नहीं जो इतिहास की तरह घटनाओं का बखान कर जाता है। बयान से मतलब वह दुनिया को आगे बढ़ाने और बढ़ने में जरा मदद नहीं देता। क्योंकि न वह उपन्यास होता है, न इतिहास। इतिहास का अपना मूल्य है। वह विश्व की प्रगति के मार्ग का नक्शा हमारे सामने रखता जाता है। इसी तरह साहित्य के हर "प्रकार" का अपना मूल्य है। उपन्यास का काम है कुछ आगे की, भविष्य की भावनाओं की जरा सी झांकी दिखाना और जो कुछ अब है, उसकी तह हमारे सामने खोलकर रख देना।" इससे यह स्पष्ट है कि जैनेन्द्र जहां उपन्यास को भविष्य की संभावनाओं से संबंधित करते हैं, जो आदर्श स्थितियों के रूप में कल्पित होती हैं वहां वह यथार्थ जीवन की भी तह-पर-तह खोल कर रख देना चाहते हैं। इनमें से पहली बात प्रेमचंद की मान्यता के निकट पड़ती

है। परन्तु वह यथार्थ जीवन में बहुत गहरे नहीं उतरते। यह अवश्य है कि "निर्मला" में उन्होंने ऐसा एक प्रयास उपस्थित किया है परन्तु उसमें बहिर्जीवन को छूने की क्षमता अधिक है अन्तर्जीवन में डूबने की कम। जैनेन्द्र अन्तर्जीवन में डूबना चाहते हैं। अत: स्पष्ट है कि जहाँ एक ओर उन्होंने सामाजिक संबन्धों में आदर्शवादिता स्वीकार की है वहाँ पात्रों के व्यक्तिगत जीवन और अन्तर्जगत् की उधेड़-बुन भी उनका लक्ष्य है। इस प्रकार वह प्रेमचंद की अपेक्षा कहीं बड़े उद्देश्य को लेकर चलते हैं। वह बाहर और भीतर का एक साथ छूना चाहते हैं। परन्तु सच तो यह है कि वह भीतर ही डूबकर रह गये हैं बाहरी अथवा सामाजिक स्थितियों का केवल इंगित मात्र किया है।

परन्तु प्रेमचंद से बहुत बड़ी भिन्नता उस समय समझ में आती है जब जैनेन्द्र मनोरंजन के साथ शिक्षा के उद्देश्य को स्वीकार करते हुए भी जैसा प्रेमचंद मानते हैं अपनी सर्जन प्रक्रिया की नये ढंग से व्याख्या करते हैं जो मनोरंजन से ऊपर उठ कर रसात्मकता आनन्द रस छवि, एक प्रकार की आत्मानुभूति हलचल चाहती है और शिक्षा को उपदेशात्मक ढंग पर नहीं इस संस्कार के रूप में उपस्थित करती है। यह स्पष्ट है कि जैनेन्द्र उपन्यास को कला की वस्तु मानते हैं और उसका लक्ष्य भाव-संवेदन अधिक है। वह मनोरंजन से गहरी चीज देना चाहते हैं। फलत: उनकी कला की मंतव्यता प्रेमचंद की उपयोगितावादी मान्यता से भिन्न है। वह कहते हैं, "उपन्यास एक नये अतीव ही ढंग से रुचि और उपादेय पूर्ण जीवन का चित्र हमारे सामने रखता है। जीवन के साधारण हलन और उसकी गुत्थियों को सुलझाकर और खोल-खालकर रख देता है। उपन्यास इस तरह, सत्य में स्वप्न की पुट देकर वास्तव में कल्पना मिलाकर व्यवहार से आदर्श का साम्य और सामंजस्य स्थापित कर, और वर्तमान पर भविष्य का रंग चढ़ाकर जीवन का वह रूप पेश करता है जो जीवन से मिलता जुलता है फिर भी अनोखा है जिससे मनोरंजन भी प्राप्त होता है और शिक्षा भी और जिनसे बढ़कर, एक नई चीज हृदय में बैठ जाती है और हम बरा आग बढ़ जाते हैं। हमें मालूम भी नहीं होता पर एक संस्कार—एक नई बात धीरे-धीरे उपजी आरंभ हो जाती है। वह शिक्षा और वह नई चीज अमुक शब्दों और वाक्यों में नहीं होती उपदेशात्मक नहीं होती बहुत अधिक प्रकट और विवेकगम्य नहीं होती और वह बहुत कम विश्लेषण और मस्तिष्क की पकड़ में आ पाती है। चित्र में भाव की तरह वह सारी कृति में रमी रहती है। मस्तिष्क की विवेचना को पार कर हृदय की अनुभूति में सीधी जाकर ऐसी चुभती है कि चाहे मस्तिष्क खोजता ही रह जाय छिप जाता है। मस्तिष्क उसका उद्देश्य ढूँढने और पकड़ने में ही उलझा कर रह जाता है उधर व्यक्ति का कुछ अंश की तन्मयता एक आनन्द रस एक छवि, एक प्रकार की आत्मानुभूति प्राप्त हो चुकी होती है जो तीर की तरह मर्म तक जा सके, बुद्धि के पटल और जाल को भेदकर मर्म में कुछ घाव और हलचल उपस्थित कर दे

नाम जो हो कट्टो कट्टो है। सत्यधन का ही दिया नाम है। परिवार में माँ ही है। उधर सत्यधन के भी माँ ही है। दोनों परिवारों में बड़ी घनिष्ठता थी। सत्यधन और कट्टो जब अबोध बालक थे तो साथ खेलते थे। बारह बरस की थी तो कट्टो का विवाह हुआ और वर्ष भर बाद ही वह विधवा बनकर गाँव में रहने लगी। सत्यधन से उसी तरह हिली-मिली। दोनों बढ़े। सत्यधन पढ़ने के लिए बाहर गया। परन्तु छुट्टियों में वह बराबर कट्टो को पढ़ाता। कट्टो की आदतस धीरे-धीरे वह व्यस्क हुई। विधवा होने का सत्य सामने आया। परन्तु भीतर वह अब भी अबोध थी। इसी बीच में सत्यधन ने बी० ए० पास किया वकालत पास की। एम० एल० बी० हुआ। परन्तु एक दिन भावुकता के फेर में पड़कर वकालत न करने का प्रण ले लिया। गाँव में रहने लगा।

गाँव में क्या रखा है। परन्तु कट्टो तो है ही। वह पढ़ती है। उसे यह पता नहीं कि छुट्टियाँ अब हमेशा के लिए हैं "मास्टर साहब' 'सत्यधन' को अब कहीं जाना नहीं है। विधवा होने की जड़ता कट्टो को व्यापी नहीं है। लोग उसकी चपलता से कुढ़ते और नाखुश होते हैं। कहते हैं। "यह विधवा है कमनसीब।" लड़की मान गई है कि यह विधवा है कमनसीब भी होगी। लेकिन फिर हँसने-खेलने भागने-दौड़ने का अधिकार वह क्यों नहीं रखती—यह वह नहीं समझ पाती।

सत्यधन का मन तरुण है। वह जानता है कि कट्टो के प्रति उसकी आसक्ति बढ़ रही है। कट्टो वैसे सुन्दर नहीं है। रंग उसका साँवला है। परन्तु सत्यधन को उसकी आँखें भाव जाती हैं जो बड़ी कुतूहलपूर्ण और बड़ी हिंसामय हैं। मानो सारा स्नेह समेटकर इन आँखों में भर गया है। सत्यधन सोचता है—वह जो मधुर मीठा सा उठे मन उठा है और जो मुझे भुलाता-ललचाता है मैं उसे बहला-बहला कर बोलना शुरू करने दूँ तो परिणाम अनिष्टकर हो सकता है।

—क्योंकि कट्टो विधवा है।

वह भागना चाहता है और तभी एक रास्ता भी निकल आता है। बिहारी की चिट्ठी मिलती है। सारा परिवार काश्मीर जा रहा है। उसके लिए बुलावा है। वह भागना चाहता है—परन्तु चलते चलते कट्टो उसके हाथ में एक कागज में लपेट कर तह किया हुआ तकिये का गिलाफ रख जाती है जिस पर उसका मोनोग्राम काढ़ा गया है।

वकील साहब बड़े आदमी हैं। परिया के लिए उन्होंने सत्यधन को चुना है और सत्यधन के साथ वह किसी तर्क को उठाना नहीं चाहते। परिया और सत्यधन को लेकर सत्यधन के मन में एक द्वन्द्व चलता है। अभी काश्मीर के रास्ते में रेल में ही है कि सोई हुई परिया की प्यारी नींद की चौकसी करते हुए सत्य सोचता है "एक यह है जिसका भविष्य कैसा निश्चित-सुखी है जिसने जीवन में आराम ही पाया

और विलास ही देखा है। एक यह है कट्टो जिसने केवल 'अ' 'कार की मूर्ति बन रह कर जीवन काट जाना है। यह कैसा वैषम्य है? यह फिर सोचा अब मैं क्या करूँगा? क्या मैं इस वैषम्य को बढ़ाऊँगा? या—या साम्य बढ़ाऊँगा।" वह कट्टो के बारे में सोचता है। "क्या दुखियों के प्रति हम निश्चिन्तों का कोई कर्तव्य नहीं है? क्या संसार का सारा सुख हथिया लेना अन्याय नहीं है उनके प्रति जिन्हें उसका कण भी नहीं मिल पाया है? और कुछ नहीं तो उनकी खातिर क्या हम अपना सुख कम नहीं कर सकते? कट्टो को इसी तरह रहने देकर मैं खुद कैसे विलास-गर्त में डूब सकता हूँ। परन्तु अंत में कट्टो से उबरने का एक मार्ग उसे दिखाई देता है। कट्टो विधवा है। उसका विवाह करना होगा। वह उसके लिए बिहारी को तैयार करता है और अंत में तय करता है कि वह स्वयं गरिमा को स्वीकार कर कट्टो को भूल जायगा।

यह द्वन्द्व-स्थिति है। एक ओर प्रेम परन्तु निर्धनता और अ-कार स्थिति। दूसरी ओर सब कुछ, धन और सामाजिक मान्यता और भविष्य। बीच में अभी सामाजिक प्रश्न नहीं आया है। सामाजिक प्रश्न या विधवा का प्रश्न बाद में आया। वह केवल स्थिति के समाधान के लिए है इसीलिए 'परख' की समस्या अमीरी के प्रति वितृष्णा की समस्या है सामाजिक विद्रोह या विधवा-विवाह की समस्या नहीं है। इसमें सत्यधन की दुर्बलता और असारता ही दिखाई गई है। बिहारी तो सत्यधन को केवल समाधान के रूप में दिखाई देता है प्रतिद्वन्द्वी के रूप में नहीं। इस प्रकार त्रिकोण यहाँ नहीं बनता। समस्या सत्यधन के भीतर के द्वन्द्व की है। उसने अपने भीतर जो सत्य की गाँठ बाँध ली है उसकी असारता दिखलाना ही लेखक का उद्देश्य है। कट्टो के द्वारा यह यथार्थकथा ऐसे रूप में दिखाई गई है कि हम चमत्कृत हो जाते हैं।

सत्यधन काश्मीर से लौटता है और कट्टो से विवाह की बात चलाता है। बिहारी की बात चलाता है। कट्टो के लिए सत्यधन ही सत्य है बिहारी नहीं। वह अपने "विधवापन" को समझती है, पर उसके लिए किसी को दोष देना नहीं चाहती। वह ठगी हुई है। सत्य कट्टो के मुख की उस अलौकिक दीप्ति को परखता है। वह दीप्ति उस पर छा जाती है। तो उसने कट्टो को व्यर्थ ही दुःख पहुँचाया। वह इसका प्रतिकार करेगा। परन्तु कट्टो सत्यधन को दोषी नहीं मानती। वह इसके लिए तैयार नहीं है। वह कुछ नहीं कहती। बस वह अंधेरे में अपने मास्टर के पैर टटोल लेना चाहती है और पैरों को पाकर अश्रु-जल से उनका खूब ही अभिसिंचन करती है।

इस अप्रत्याशित घटना ने सत्यधन को भावना से भर दिया। उसके प्राणों में एक ज्वार उठा—मीठे दर्द के एक तूफान का उन्होंने अनुभव किया। वह घर के कमरे में बंद नहीं रह सका। पास ही गंगा की लहर बहती है। वहीं पहुँचकर उसने प्रकृति के बीच में अपने हृदय को हलका किया। कुछ चैन सा मिला। इस महान् सौभाग्य को पाकर वह भीतर से जैसे कृतज्ञता के बोझ से दब गया। इधर कट्टो सौभाग्य के प्रहार—

के नीचे दबकर अचेतन-सी हो गई। स्वप्न में भी जिस सौभाग्य-प्राप्ति का साहस उसे नहीं था वही आज उसे इस प्रकार प्राप्त हो गया तो वह विह्वल और बेसुध हो उठी। उसके भीतर लज्जा ने जन्म लिया। कहीं कोई देख न ले। इस सौभाग्य को लेकर ही उसे जीना है। अपने लिए गंगा की पर्ची है। वह आमेमी और अपने लिए लाएगी— दो चूड़ियाँ लाल एक बिंदी टिकियों की डिबिया एक सिन्दूर की डिबिया। यह गंगा की पर्ची ही जैसे उसके लिए सौभाग्य लाई है। बड़े लड़के मा से लड़ झगड़ कर वह चल पड़ती है।

सत्यधन पहुँचता है तो कट्टो की माँ उसे अकेली ही मिलती है। वह सत्यधन के विवाह की बात उठाती है परन्तु सत्यधन टालना चाहता है। कट्टो की जीजी भाभमी तो क्या वह उसे उसी तरह प्यार कर सकेगी। नहीं वह गरिमा को नहीं अप नावेगा। कट्टो को मा से इस चर्चा का पता चलता है। वह बालों में सिन्दूर भर कर और माथे पर बिन्दी लगाकर सचमुच सौभाग्यवती बन गई है,—सबोध जो है— और उसी सबोधता में सत्यधन को चिट्ठी लिखने बैठ जाती है।

परन्तु सत्यधन का कमेला बढ़ गया है। वह मन में विहारी को लेकर एक समाधान बना चुका है। अब विहारी को वह क्या कहकर समझायेगा। एक ओर अपनी बात की रक्षा है और दूसरी ओर अपनी हैसियत की अपनी मा की अपने सब कुछ की रक्षा का सवाल है। वह संकल्प-विकल्प में पड़ जाता है। इसी समय कट्टो के हाथ की लिखी कुछ पंक्तियाँ मिलती हैं जो कट्टो के प्रति उसके भाव को फिर बदल देती है। अभी तो वह मा के पास जाकर सब कुछ स्वीकार करना चाहता है—कट्टो को उसने तराजू के भारी पलड़े पर रखा है। परन्तु अब कट्टो लिखती है कि मेरे कारण सोच में मत पड़ो। क्या वह उसे छूट दे रही है?

यहाँ से कथा नया मोड़ लेती है। अब विहारी गाँव में आ गया है और उसने सत्य के घर में तूफान भर दिया है। गरिमा से विवाह की बात पक्की करने वह आया है, परन्तु कट्टो की ओर भी उसको जिज्ञासा जागृत नहीं है। विहारी तो कुछ बात जानता है। वह गरिमा का पत्र लेकर आया है परन्तु सत्यधन के मुँह से सब कुछ सुन कर वह यह भी जान लेता है कि सत्यधन अपने को बदल रहा है। मा बापू की और गरिमा की ओर लेकर वह अपनी आत्मग्लानि से बचना चाहता है। परन्तु सत्य जब कर्तव्य और धर्म जैसे बड़े-बड़े शब्दों से उसकी जबान बन्द कर देता है। सत्यधन को इस तरह पकड़ा जाना रुचिकर नहीं है। उसने अब अपना मन बना लिया है। गरिमा उसे स्वीकार है। कट्टो कोई नहीं है। आज ही वह मा से कह देगा। विहारी क्या इस निश्चय से प्रसन्न नहीं है। गरिमा को लेकर तो उसे प्रसन्न ही होना चाहिए। परन्तु सत्यधन के मन का भ्रम उसे खलता है। फिर सत्यधन ने अभी कट्टो से क्यों नहीं

कहा। बिहारी साफ बात चाहता है। एक बार कट्टो को बुलाना होगा और उससे परिचय करना होगा।

कट्टो आती है। माथे पर बिन्दी है और माँग में सिन्दूर है। सत्यधन के सिवा और किसी से भेंट होने की उसे आशंका नहीं है। यहाँ यह कौन है। वह एक दम बहुत लम्बा घूँघट निकाल कर दोहरी हो जाती है। परन्तु बिहारी वातावरण को गम्भीर नहीं होने देता। वह "भाभी" कह कर कट्टो को सम्बोधित करता है और नटखट बनकर उसे अपनी ओर से आश्वस्त कर देता है। दोनों को दूसरे दिन सवेरे का निमन्त्रण देकर कट्टो चली जाती है परन्तु साथ ही वह बिहारी के मन को भी छू लेती है। सत्यधन ने उसके साथ कितना बड़ा अनाचार किया है, यह अब वह जानने लगा है।

परन्तु सत्य दूसरे दिन नहीं जाता और बिहारी को कट्टो का निमन्त्रण स्वीकार करना होता है। वह कट्टो की मा से आप ही वात्सल्य का नाता जोड़ लेता है और भोजन के बाद सत्यधन के मन की गाँठ भी कट्टो के सामने खोल कर रख देता है। वह गरिमा से विवाह की बात पक्की करने आया है। कट्टो बड़े विश्वास से कहती है कि सत्यधन के विवाह की बात तो पक्की हो गई है और उसमें भूल नहीं हो सकती परन्तु ऐसे स्वर्गिक विश्वास के साथ बोलने वाली सत्यधन को धिक्कारता हुआ बिहारी जब सत्यधन के भविष्य की बात उठाता है और गरिमा के साथ सत्य के विवाह में ही सत्यधन की रक्षा बताता है तो कट्टो नारी की कल्याणी प्रकृति के अनुसार बलिदान के लिये तैयार हो जाती है। परन्तु यह स्वयं सत्यधन से कह देगी बिहारी कुछ नहीं कहे।

कट्टो जाती है और बिहारी को भी रोक रखती है। सत्यधन को वह अपनी ओर से विश्वास दिलाना चाहती है। दुःख उसे यह है कि उससे माँगते वह डरा क्यों? क्या वह पराये से माँग रहा था? वह तो उसकी ही थी। उसके काम नहीं आई तो हुई ही क्या? जो कुछ भी वह चाहता है उसमें कट्टो की खूब राय है। सत्यधन की खुशी में ही उसकी खुशी है। वह अपनी ओर से उसे छुट्टी देती है। अपने कामों में वह कट्टो की गिनती नहीं करे। वह गिनने लायक नहीं है। गरिमा बीबी आएगी तो उसे खुशी ही होगी। वह खूब-खूब खुश होगी।

बिहारी कट्टो के अन्तरंग को पढ़ चुका है। कट्टो का बलिदान उसे छू जाता है। वह कैसे रो देता। सत्यधन लौट नहीं सकता। बात वह समझता है परन्तु उसे अपना भविष्य भी बनाना है। कट्टो उसकी आज्ञा लेकर लौट जाती है। साथ में बिहारी को ले जाती है और अपना एक पैसे का सर्वस्व कंघा टिकुली और सिन्दूर गरिमा के लिए उसके हाथ में सौंप देती है। यह गरिमा बीबी को उसकी भेंट है। बिहारी भी क्या उसे कुछ नहीं चाहता। कट्टो ने कुछ-कुछ अनुमान लगा लिया है —परन्तु अब उसके

पास नारीत्व है कहाँ ? वह तो निष्ठुर सत्यधन के चरणों पर निछावर हो गया है। पहले एक था अब दो हो गये हैं। वह अब दो की सेवा करेगी।

तभी एक रहस्य घटित होता है। कट्टो का धर्म भाव बिहारी को छू लेता है। उसे एक साक्षात्कार होता है। परमात्मा ने उन दो को साथ ला दिया है —अब दोनों धाराएँ एक होकर बहेंगी उनका कूल और छोर न होगा। कट्टो की नारी-प्रकृति ने अज्ञात रूप से बिहारी के अंतस् को टटोल लिया है। वह अब दुखी पूजा का निर्माल्य बन चुकी। अब उसका दुख भी उसका नहीं रह गया। परन्तु यदि बिहारी बाँधना चाहे तो वह उसके साथ कर्तव्य-सूत्र में बँध सकती है। वह फिर वैधव्य में बँधेगी। अस्पृश्या होगी। बिहारी भी उसका साथ दे सकेगा। कट्टो का बायाँ हाथ बढ़ा बिहारी का बायाँ। दोनों एक में गुँथ गये। "हम दोनों वैधव्य-यज्ञ की प्रतिज्ञा में एक-दूसरे का हाथ लेकर आजन्म बँधते हैं। हम एक होंगे —एक प्राण दो तन। कोई हमें जुदा नहीं कर सकेगा।" बिहारी ने दोहरा दिया। कट्टो ने कहा—"आज मेरा विवाह पूर्ण हुआ। वैधव्य सार्थक हुआ।" बिहारी ने कहा—"यह महा शून्य साक्षी हो हम कट्टो-बिहारी सदा एक-दूसरे के प्रति कट्टो-बिहारी रहेंगे न कम न ज्यादा।" यहाँ कथा चरम सीमा पर पहुँच जाती है। शेष कथा पाद-पूर्ति मात्र है।

गरिमा व सत्यधन की स्वीकृति लेकर बिहारी घर लौटता है और पिता से अपने अलौकिक विवाह-बन्धन की बात कहता है। पिता लड़के की सनक जानते हैं। समझते हैं,—बिहारी लौट आयेगा। परन्तु वह व्यावहारिक आदमी है। सत्यधन को उन्हें पकड़ना है।

सत्यधन-गरिमा का विवाह सम्पन्न होता है और उस मधुर मैत्री वातावरण में कट्टो उसे भरपूर स्नेह से मिलती है। गरिमा को कट्टो से ईर्ष्या हो चली थी। पहली ही निष्कलुष भेंट में मन का वह कलुष धुल जाता है। इसके बाद सत्यधन गाँव में नहीं रह सका। गाँव की आबहवा गरिमा के अनुकूल नहीं है। जमनादास उसे बुला लेते हैं और धीरे-धीरे अपने आदर्शवादी चोले को उतार कर वह वकालत में बैठ जाता है। उधर बिहारी सेवा-व्रत में लगा है। परन्तु मोटर-दुर्घटना होती है और मृत्यु शैया पर पड़े भगवत्प्रसाद बिहारी को घर-बार लिख कर इस लोक को छोड़ देते हैं। सत्यधन यहाँ नहीं है। लौटने पर उसे यह समाचार मिलता है। सत्यधन को यह बात छू जाती है। गरिमा के आग्रह को भी अनसुना कर वह अलग मकान लेकर रहने लगता है। परन्तु अभिमान अभी कट्टो से बच कर वह कहाँ जा सकेगा। कट्टो उसके क्रोध की बात जान जाती है और चालीस हजार रुपये उसकी भेंट कर जाती है। अंत में इस बटवारी जंजाल से मुक्त होकर बिहारी और कट्टो अपना व्रत निबाहने की बात सोचते हैं और कर्तव्य-पथ पर आरूढ़ हो जाते हैं।

४

"परख" नाम में ही इस कथा की सार्थकता रखी गई है। धन और सुविधा मय जीवन का आकर्षण किस प्रकार मनुष्य को प्रेम की आभ्यंतरिक उपलब्धि से रोकता है किस प्रकार सत्य का आग्रही मन असत्य की चमक से प्रभावित हो अपने आदर्श को व्यर्थ कर लेता है यही 'परख' की अर्थ-सिद्धि है। बिहारी सत्यधन के भीतर की इस गाँठ को जानता है। वह स्पष्ट कह देता है। "मैं तो यह कहूँगा कि तुम आत्मप्रवंचना करते हो और उसके साथ चलने वाली को आत्मभ्रान्ति है उसे अपनी मा और बाबू की और गरिमा की ओट बैठ कर बचा जाना चाहते हो।" वास्तव में सत्यधन का विधवा-विवाह का नारा आत्मप्रवंचना मात्र है। स्वयं लेखक सत्यधन के मन को इसी मापदण्ड पर नापता है। सत्यधन भगवद्दयाल को पत्र लिख कर उसके हाथ में बात सौंपता है तो लेखक कहता है "जैसे मन उसका अस्थिर है वैसे ही उसकी बात भी डगमगाती होती है। दो-टूक कहना नहीं जानता। इस चिट्ठी के बाद भी उसका मन डाँवाडोल है। सोचता है देखें बाबू जी क्या जवाब देते हैं। जैसे अपना निर्णय वह आप नहीं करना चाहता —चाहता है दूसरे उसके लिए निर्णय करके दे दें। मन भाया निर्णय दूसरे से पाकर वह झट उसे मान लेगा। हमें बिहारी की बात ही ठीक लगती है। वह दूसरों की ओट चाहता है जिससे काम का उत्तरदायित्व वह उन पर फेंक दे और खुद अपने सामने अपराधी बन कर खड़े होने से बच जाए।

जहाँ तक समर्थन का प्रश्न है, लेखक ने इस चरित्र की आत्मप्रवंचना को बड़ी सतर्कता से और बड़े कौशल से उभारा है। परन्तु बिहारी और कट्टो में उसने जिस आदर्शवाद का सृजन किया है वह काल्पनिक ही है, अलौकिक और अव्यावहारिक भी है। हम नहीं जानते कि कट्टो को बिहारी में क्या दिखता है अथवा बिहारी के महान् बलिदान के पीछे उसकी मानसिक भूमि कितनी तैयार हुई है परन्तु कट्टो-बिहारी की कथा बहुत कुछ अविश्वसनीय हो गई है। कट्टो ने मन में सत्यधन को वरण किया है स्वयं सत्यधन भी अपने मन के भीतर की कमजोरी को जानता है इसी से वह गरिमा के इस प्रस्ताव को अस्वीकार कर देता है कि कट्टो भी साथ रहे। मन से परित्यक्ता कट्टो क्या तन से किसी की हो सकती है। अन्त वह बिहारी के साथ आध्यात्मिक सम्बन्ध स्थापित करके ही अपनी सुरक्षा समझती है और रोमांटिक बिहारी इस भ्रम का शिकार हो जाता है। इसमें संदेह नहीं कि कट्टो का आत्म-बलिदान बहुत बड़ा है, वह अपना सुहाग गरिमा को भेंट कर देती है, परन्तु इस बलिदान से आगे बढ़कर बिहारी के साथ जीवन-व्रत लेने की आवश्यकता समझ में नहीं आती। यह अवश्य है कि कट्टो बिहारी की अपने प्रति आसक्ति की बात जानती है और साथ ही उसे विपन्न

(एक तरह से सार्थक) बनाने के लिए उसने एक अव्यावहारिक आदर्श गढ़ लिया है कि वह मन के सम्बन्ध से परिणीता रह कर भी बिहारी के साथ वैधव्य-पथ में बँधेगी। वह कहती है "जो हो गया हो गया उसे मिटाना अब बस के बाहर की बात है। जो चढ़ चुका—उसे चरणों से वापस खींच नहीं जा सकती। वह अब मेरा नहीं रह गया। लेकिन "

'लेकिन' बड़ी व्यग्रता से बिहारी ने कहा—

"लेकिन एक बात है। सोती हूँ तो आकाश-गंगा को ऊपर खिलखिलाते देखती हूँ। वह हम पर नीचे को देखती रहती है। हमारे जगत् की यह गंगा भी वैसे ही ऊपर को देख-देख कर बहती रहती और हँसती रहती है। लगता है कि ये दोनों गंगाएँ एक दूसरे को देख-देख कर ही जीती हैं। इस सारे अनन्त शून्य—किसी गणना में न आ सकने वाले आकाश को भेद कर इनकी हँसी एक-दूसरे को परस्पर कुशल-क्षेम दे आती है। दोनों का मन एक है नियम एक है। मालूम होता है दोनों आपस के सम्पर्क से इतनी दूर जा पड़ी हैं कि दोनों एक ही उद्देश्य को दो जगह पूरा करें। दूर हैं, फिर भी पास हैं। अलग हैं, फिर भी एक हैं। बिहारी बाबू बिहारी बाबू क्या यह नहीं हो सकता। —क्या हम भी दो ऐसे नहीं हो सकते। दूर फिर भी बिलकुल पास। अलग फिर भी अभिन्न। दो फिर भी एक एक ही उद्देश्य एक ही जीवन-लक्ष्य में पिरोये हुए।"

इस कठिन सूत्र में बिहारी बँध जाता है और आजन्म एक आस दो तन रहने का व्रत धारण करता है। कट्टो भी कहती है आज मेरा विवाह पूर्ण हुआ वैधव्य सार्थक हुआ। इसके बाद के पृष्ठ कथा को परिणति देते हैं। उनमें बिहारी के उदात्त त्याग का भी परिचय हमें मिलता है जो सम्बन्ध के लिए सारे आमराव छोड़ देता है और साथ ही उसकी कुछ क्रांतिकारी सामाजिक राजनैतिक धारणाएँ भी मिलती हैं, जैसे पैसे की व्यर्थता के सम्बन्ध में उसका यह मत कि वह अपने धन को बटोरना नहीं क्योंकि इससे श्रम का मूल्य घटता है। उसके समाज में पैसा ही गड़बड़ है। पैसे ने ही परिश्रम का सम्मान नष्ट कर दिया है और उसे खिराने की चीज बना दिया।—यह परिणति स्पष्ट ही अतिवादी है और अन्त में जब कट्टो बच्चों के पढ़ाने के लिए और बिहारी हल-बैलों के लिए सेवा भाव लेकर अलहदा हुए तो इस आदर्श के थोथेपन की झाँकी स्पष्ट दिखाई देने लगती है। क्या कट्टो ने बिहारी के प्रेम (या वासना) भाव को विफल करने के लिए यह आदर्शवादी जाल नहीं धारण किया? इसमें विधवा होने की सार्थकता क्या यही नहीं है कि वह बिहारी के साथ विवाह-बन्धन में नहीं बँध सकती। क्या सम्बन्ध के प्रति परिणीता-भाव ही उसके भीतर संयम नहीं है, विधवापन भी मीठा है। क्या कट्टो का आदर्शभाव उसे ही नहीं छलता।

ये कुछ प्रश्न हैं जो सामने आते हैं। यह स्पष्ट है कि जैनेन्द्र ने कथा की परिणति में सारे सूत्र आदर्शवाद के हाथ में दे दिए हैं और जीवन की गति को मबूम बतलाते हुए बिहारी के आत्म-बलिदान की कल्पना की है जिसके प्रकाश में कट्टो का आत्म बलिदान फीका पड़ जाता है। परन्तु कट्टो के चरित्र की भूमि विस्तारपूर्वक और श्रमपूर्वक गढ़ी गई है। बिहारी की वैसी ही सफल भूमि लेखक तैयार नहीं कर सका है। फलस्वरूप बिहारी कट्टो जैसी वास्तविकता नहीं पाता। वह जैसे यन्त्र चालित हो। उसके सूत्र लेखक ने अपने हाथ में रखे हैं।

५

सुनीता

'सुनीता' (१९३२) जैनेन्द्र का दूसरा उपन्यास है। इसमें भी उन्होंने "परख" जैसे एक अत्यन्त उच्च अकल्पित एवं अव्यावहारिक आदर्श की सृष्टि की चेष्टा की है। परन्तु इस उपन्यास की भूमिका दूसरी है। इसमें किसी भी सामाजिक प्रश्न की आड़ न लेकर लेखक मन के निचले पर्तों में प्रवेश करता है और एक अत्यंत सूक्ष्म मनोवैज्ञानिकता का परिचय देता है जो पाठकों को एकदम भ्रम में डाल सकती है। "परख" यहाँ भी है परन्तु वह प्रेम की परख नहीं नारीत्व की परख है, सतीत्व की परख है और उपन्यास के अन्त में कम-से-कम लेखक के दृष्टिकोण से सुनीता इस परख में सफल हुई है। पिछले उपन्यास में परीक्षार्थी सत्यधन है परीक्षक है प्रेम और कसौटी कट्टो की है। इस उपन्यास में सुनीता परीक्षार्थी है, परीक्षक है नारीत्व या सतीत्व और कसौटी है हरिप्रसन्न। परन्तु कट्टो को कोई कसौटी नहीं बनाता वह स्वयं कसौटी बन जाती है। यहाँ हरिप्रसन्न को कसौटी बनाने वाला पति श्रीकांत है। वास्तव में वह परीक्षा जाने-अनजाने हो गई है। इसमें कोई भी खोटा नहीं हुआ है। सभी को मान मिला है। सुनीता की पतिनिष्ठा भी बनी रही है श्रीकांत का पत्नी-प्रेम भी अविचल है और यद्यपि हरिप्रसन्न पलायन कर जाता है परन्तु सुनीता से जाते-जाते उसके चरणों की धूल ली है और उसकी महानता को स्वीकार किया है।

परन्तु इस उपन्यास में जो तात्विक कठिनाई है वह कदाचित् कसौटी की उतनी नहीं जितनी तत्त्व की सूक्ष्मता की। यहाँ सतीत्व (या पत्नीत्व) नाम की जिस सूक्ष्म वस्तु की परीक्षा है वह परिभाषित है उसे सिद्धान्त के द्वारा ही गढ़ा गया है। उपन्यासकार यह नहीं मानता कि विवाह-मात्र नारी के जीवन की सार्थकता है। हरिप्रसन्न सुनीता से कहता है—"भाभी विवाह को तुम क्या चीज मानती हो? उससे आगे होकर क्या कोई कर्तव्य नहीं है? जो हो क्या उसमें तुम जीवन की सिद्धि समझती हो? मैं कहना चाहता हूँ कि भाभी तुम भूल में हो।" परन्तु सुनीता इस स्थिति को एकांततः स्वीकार नहीं करती। वह मानती है कि वह पत्नी है, फिर भी नारी है। परन्तु बाहर का निमंत्रण पाकर भी घर से बाहर जाना उसके लिए कठिन है। जावेगी

तो पतिनिष्ठा को साथ लेकर। "उन" को ही अपने हृदय के बीच में जोर से भींच कर तब वह कर्मक्षेत्र में आगे बढ़ सकेगी। सुनीता के लिए यह "उन" ही सब कुछ है। अपने उन के बिना तो उसका एक कदम भी इधर-उधर कैसे जा सकता है। पत्र-द्वारा श्रीकांत का आदेश पाकर ही वह हरिप्रसन्न के साथ बाहर जा सकी। अपनी श्रद्धा को साथ लेकर वह अभय चल गई। फिर कहाँ रह गया उसके लिए भय का स्थल। यह लेखक का दृष्टिकोण है। सुनीता के मन में जो तर्क वितर्क होते हैं वे उसकी भौम स्थानिक स्थिति ही नहीं उसके मन के द्वन्द्व को भी स्पष्ट कर देते हैं "और वह पत्नी है फिर भी नारी है। कौन अपने आप में पूर्ण है? कौन विमुक्तता न नकार में पूरा होना चाहता है? और उसकी उमर अभी है भी कितनी? उसमें क्या जगत् के प्रति उत्सुकता सर्वथा शांत हो गई है? वह जग वैचित्र्य के प्रति जिज्ञासु और सामर्थ्य के प्रति उन्मुख नहीं रही है? वह क्या हाड़ मांस की नहीं है? वह पत्नी है पर नारी है। वह पति में ही नहीं स्वयं भी है। तभी तो वह आग्रहपूर्वक श्रीकांत के स्मरण और प्रतिस्मरण की उसमें अदम्य चेष्टा है। वह जिसका निमंत्रण हरिप्रसन्न के द्वारा उसे मिल रहा है क्या रहस्यमय नहीं है। इतने से ही नारी-हृदय उस ओर खिंचे बिना कैसे रहे? स्वयं यह हरिप्रसन्न ही क्या रहस्यमय नहीं है। तब उस भेद को क्यों न नारी हृदय खुद कर पा लेना चाहे। इन सब जिज्ञासाओं के उत्तर में स्वीकृति देती हुई वह उनकी ओर चल ही पड़ेगी। अब भैया की सीख उसने समाप्त ही ली है तब वह कहीं भी जाय भटकेगी नहीं। निरंतर जागरूक पति का कौशल जब उसके अभ्यंतर में है ध्रुव स्नेहपूरित एकोन्मुख दीपशिखा जब उसने अपने हृदय के भीतर बसा ली है तब क्यों उसे शंका हो? किसकी आशंका हो? तब क्यों वह साथ लिपट लिए फिरे? इससे वह क्यों न जायगी? अवश्य जायगी।' इस प्रकार नारी के सतीत्व को "परख" में सूक्ष्म कांटे पर तोला गया है और कहानी द्वारा उसकी व्याख्या की गई है। नारी के लिए घर की सार्थकता है परन्तु बाहर भी उसके लिए सार्थक क्यों नहीं? दोनों में द्वन्द्व क्यों हो? क्या पति के बल पर नारी इस द्वन्द्व को समाप्त नहीं कर सकती? घर और बाहर के इस प्रश्न को जैनेन्द्र ने सिद्धांत का प्रश्न बना लिया है और इस पर से सुनीता की कथा की अनेक प्रकार व्याख्या की है। उन्होंने रवीन्द्रनाथ ठाकुर की रचना "घरे-बाहरे" को प्रेरणा-स्रोत माना है और बताया है कि जहाँ रवीन्द्रनाथ में बाहर घर को क्षुब्ध ही नहीं नष्ट कर दिया है और इस प्रकार अनिष्टकर सिद्ध भी होता है वहाँ "सुनीता" में घर बाहर के प्रताड़न से सुरक्षित ही नहीं रहा है अपितु दृढ़ भी हो सका है। सुनीता की पतिनिष्ठा ने उसकी ही रक्षा नहीं की है हरिप्रसन्न की भी रक्षा हो गई है। उसके भीतर की गाँठ को निकालने का माध्यम वह बनी है। उसे यही श्रेय है। हरिप्रसन्न के पीछे छोड़े चित्र को इंगित कर श्रीकांत कहता है कि "यह चित्र सुनीता हरिप्रसन्न के चित्त की गाँठ है। यह वह है जिसे हम घाट कहेंगे

और बहुमूल्य बनाएँगे। इसीलिए तो इसमें बँधा है प्रतिक्षण उसके प्रत्येक पग में संचित जेता रहने वाला यह प्रश्न—यह जिज्ञासा यह था। ऐसा जो हरिप्रसन्न के जीवन का जीवन थी जिसने उसे सदा यों भटकाए रखा। आज क्या मैं नहीं जानता कि यह गाँठ उसके भीतर से खींच निकालने में उपलब्ध तुम बनीं। हाँ तुम! मैं इसके लिए तुम्हारा चिरकृतज्ञ हूँ सुनीता!" यह गाँठ क्या है और उसका क्या महत्व है इसकी भी व्याख्या हुई है कि "हिरन के पेट में जो गाँठ होती है उसे कस्तूरी कहते हैं। उसको लिये-लिये वह भ्रमता रहता है, बेचैन रहता है। उसके लिए वह शाप है। कस्तूरी हमारे लिए है उसके लिए वह मौत है। दुनिया उसी को कस्तूरी कहती है उसी पर रीझती है उसी के लिए मारती है।" कदाचित् लेखक यह कहना चाहता है कि चित्रकार और क्रांतिकारी युवक हरिप्रसन्न के भीतर की काम-ग्रंथि उसे मार रही थी। सुनीता ने इस गाँठ को खोलकर उसके साथ बड़ा उपकार किया। उसे उपयोगी बनाया। उसकी निरुद्देश्य यात्रा को परिसमाप्ति दी। इस प्रकार सुनीता का पति-प्रेम लांछित न होकर श्रेयस्कर बना। लेखक यह नहीं मानता कि जिस ढंग से उसने यह गाँठ खोली वह अनौचित्य है या अश्रेयस्कर है। वह लक्ष्य को सीधा देखता है उसके लिए वही मात्र सार्थक है।

परन्तु क्या यही वह नींव है जिस पर सुनीता का महल खड़ा है? सच तो यह है कि लेखक ने "घरे-बाहरे" की समस्या को दार्शनिक भूमिका पर से देखा है सामाजिक अथवा राजनैतिक भूमिका पर से नहीं। रवीन्द्रनाथ के लिए यह रचना सोद्देश्य थी। इसमें वह १९०५ के क्रांतिकारी आंदोलन को चित्रित कर रहे थे और नारी को कमनीय नारी-शक्ति के रूप में उभार रहे थे। नारी के लिए भी बाहर का आह्वान आ सकता है और उसे स्वीकार कर मन ही मन वह घर को अभिशापित कर ले परन्तु यह आवश्यक नहीं है वह उसे स्वीकार करना ही होगा। घर विलुप्त हो जाता है क्योंकि कथा दुःखांत है, परन्तु उसमें नारी के तेजोमय शक्ति-रूप को कविता की सारी सामर्थ्य से उभारा गया है। जैनेन्द्र ने "घरे-बाहरे" के वे प्रसंग लिए हैं 'कदाचित् कुछ भाव भी कुछ शब्द भी' जो नारी को प्रेरणामयी घोषित करते हैं। हरिप्रसन्न भी सुनीता को उसी प्रकार क्रांतिकारियों के बीच में आने को तैयार करता है जिस प्रकार "घरे-बाहरे" में विमला मधुरानी को तैयार करता है। परन्तु इस प्रसंग को छोड़कर सुनीता की शेष कथा दूसरी ही है। उसमें राजनैतिक चेतना या क्रांतिकारिता आरोपित है वह केन्द्र में नहीं है। यह बात अकस्मात् तो नहीं आती क्योंकि बम और रुपयों की आवश्यकता का उल्लेख पीछे भी है परन्तु हरिप्रसन्न के प्रति श्रीकांत में जो व्यग्रता है वही उपन्यास के पूर्वार्द्ध में मूर्तिमान हो सकी है। सुनीता यहाँ इस व्यथा को रूप देने में ही काम आई है। यह स्पष्ट है कि लेखक ने सुनीता को आरम्भ से ही पति और प्रेमी के बीच में रखकर यह देखना चाहा है कि पतिनिष्ठा नारी पति की

ओर से आश्वस्त हो और उसी के आग्रह पर नारीत्व (या नारी के पीछे छिपे मातृभाव) के मार्ग पर कहाँ तक बढ़ सकती है। इस प्रकार यहाँ वैसा उस प्रकार एक सुबोध और निर्दिष्ट इकाई नहीं बनता जैसा "घरे-बाइरे" में। यहाँ श्रीकांत सुनीता और हरिप्रसन्न का एक त्रिभुज नहीं बनता है परन्तु यह त्रिभुज एक विवाहिता स्त्री को लेकर है और उसमें पति श्रीकांत की अभिसंधि है। प्रश्न यह होता है कि श्रीकांत की यह छूट व्यावहारिक है मनोवैज्ञानिक है। नैतिक नहीं भी सही क्योंकि नीति का प्रश्न सूक्ष्म है या केवल सैद्धांतिक ही है। हरिप्रसन्न की सुनीता के प्रति आसक्ति स्पष्ट है परन्तु सुनीता की आसक्ति भी उसमें है या वह केवल उस पर दया कर उसके भीतर की काम ग्रंथि खोलने को यह साधन मात्र नहीं है। वह उसके जीवन की व्यर्थता से दयार्द्र होकर उसे उबारना चाहती है या सचमुच हरिप्रसन्न के प्रति अनुरक्त है। यह अनुरक्ति तन की मांग है या मन की ?

वास्तव में लेखक ने इन प्रश्नों को अबूझ बना दिया है। अबूझ इसलिए कि वह सुनीता को श्रीकांत का प्रयोग-मात्र बना देता है उसके स्वतन्त्र व्यक्तित्व का विकास नहीं हो पाता। वह बराबर चित्र में उपस्थित है। जहाँ वह नहीं है वहाँ उसके पत्र हैं। सुनीता भी उसके प्रति एकनिष्ठ है। इस प्रकार "सुनीता" लेखक का प्रयोग मात्र रह जाती है। उसमें जीवन रस है कलाकारिता है मनोविज्ञान है परन्तु सब कुछ सिद्धान्त की पुष्टि के लिए। अपने में वह कुछ नहीं है। यही "सुनीता" की विडम्बना है। कदाचित् किसी भी आधुनिक कलाकृति में इतनी कला इतनी समग्रता इतने जीवन रस को यों ही व्यर्थ बहा कर निरर्थक नहीं किया गया होगा। पुस्तक के अंत में सुनीता सतीत्व की दुर्लंघ्य ऊँचाइयों पर पहुँच जाती है परंतु हरिप्रसन्न के समा-र्थक जीवन को बचा कर और काम में लगा कर भी वह देवी नहीं बन पाती न मानवी रह जाती है। स्फिंक्स की भांति वह अदमूर्ति बन जाती है। कामना से रहित भीतर की चेतना में भगवान असद् व के परे क्योंकि अंतर्द्वन्द्व से उसकी पतिनिष्ठा लांछित हो जाती। काष्ठ-पुत्तलिका की भांति। प्रयोग में ही उसका जीवन है। वह पहले सत्य को लेकर हरिप्रसन्न को मार्ग पर लगाना चाहती है फिर पति के इंगित पर स्वयं आगे बढ़ कर हरिप्रसन्न के भीतर की गाँठ को बहुत दूर तक खोलने का प्रयत्न करती है। उपन्यास के अंत में हमें लगता है कि हरिप्रसन्न अपने को पहचान गया है। अब वह काम-काजी बनेगा व्यर्थ जीवन नहीं खोयेगा। वह जीवन की रक्षा करेगा उसे लेकर खेल नहीं करेगा। परन्तु क्या उसकी क्रांतिकारिता चैतन्य पायेगी या कुंठित बनेगी ? क्या हरिप्रसन्न श्रेष्ठ कलाकार या क्रान्तिकारी बनेगा। श्रीकांत आश्वस्त हो पर पाठक आश्वस्त नहीं है। प्रश्न बना ही रहता है कि श्रीकांत को हरिप्रसन्न को सार्थक बनाने के लिए इतनी दूर जाना चाहिए था या नहीं। और यह

थी कि सुनीता की पातिव्रत की परख इतनी कड़ी क्यों हो ? आखिर उसमें सार्थकता क्या है ?

एक बात और । जब कहानी हरिप्रसन्न के उद्धार की है तो वह "घरे-बाहरे" या "क्रांतिकारी राष्ट्रीयता" के प्रश्न को लाए बिना क्या नहीं कही जा सकती थी ? कहानी भीतरी है । हरिप्रसन्न को भीतरी बंधन तोड़ना है । श्रीकांत सुनीता को परीक्षा में डालता है । वही हरिप्रसन्न के बंधन खोलेगी । स्वयं सुनीता सत्या को भी घसीट लाती है । परन्तु हरिप्रसन्न कठिन और सत्या असमर्थ है । क्यों सत्या समर्थ नहीं है ? क्या नारी केवल नारीत्व को लेकर ही पुरुष को चुनौती देने में समर्थ नहीं है ? उसे रणचंडी का उपक्रम क्यों करना पड़े ? कदाचित् हरिप्रसन्न की आत्मप्रवंचना दिखलाने के लिए ही इस प्रसंग की सृष्टि की गई है, परन्तु वह प्रासंगिक ही है और इसने सुनीता की नग्नता के रूप में ऐसी स्थिति पैदा कर दी है जो उसे दुर्ग्राह्य बना देती है । नारी की जन्मजात और स्वाभाविक लज्जा की बीहड़ सत्ता को तोड़ कर सुनीता ऐसी साहसी कैसे बन पड़ी ? क्या तन की नग्नता का यह ढंग आधुनिक होते हुए भी दीर्घसूत्री नहीं है ? क्या आत्मप्रवंचक हरिप्रसन्न के भीतर की गाँठ किसी अन्य उपचार से नहीं खुल सकती थी ? क्यों जैनेन्द्र के लिए नारी मात्र की लज्जा से खेल करना संभव हो सका ?

२

"सुनीता" की कथा इस प्रकार है । श्रीकांत वकील है । अनिवार्य बी० ए० किया एल-एल० बी० किया शादी की और प्रैक्टिस शुरू की । सुनीता से विवाह हुआ और गिरस्ती और प्रैक्टिस गिरती-पड़ती चलने भी लगी । परन्तु हरिप्रसन्न की याद उसे सताती है जो कालिज में साथ था और जिसके खूब चतुर, खूब कर्मण्य खूब सप्राण और एकदम असीम-से व्यक्तित्व के प्रति उसे बड़ा आकर्षण था । पढ़ाई करके हरिप्रसन्न न जाने किस कार्य में लग गया परन्तु श्रीकांत जानता है वह विवाह के बंधन में नहीं फँसा है । घर बसाने की माया से मुक्त है । संभव है वह किसी सार्वजनिक कार्य में लगा हो क्योंकि उसके स्वभाव में ही सार्वजनिकता थी जो उसके व्यक्तित्व को घटाती नहीं पुष्ट करती थी ।

गिरस्ती चली है । विवाह को तीन वर्ष हो चले हैं । परन्तु बीच में कोई बालक नहीं आया है और दम्पति अब ऊब गये हैं । क्यों ऊब गये हैं, पाठक के लिये यह रहस्य है । सुनीता साधारण पत्नी नहीं । वह अमित सुन्दरी है सुशिक्षिता है घर का सारा भार उठाए हुए है परन्तु घर-गिरस्ती के बीच और वकालत के भी बीच सुरक्षित होकर भी श्रीकांत जैसे अकृतकार्य है और सुनीता व्यवस्थाओं से भरी रह कर भी सूनी हुई है ।

इस ऊब से छुटकारा पाने के लिये श्रीकांत हरिप्रसन्न की बात सोचता है। वह हरिप्रसन्न को उबारना चाहता है जिससे वह अनिर्दिष्ट जीवन से छुटकारा पाये और उसकी तरह घर बसा कर सभ्य नागरिक बन जाए। जब पढ़ते थे तो वे दो एक थे। अब बीच में पत्नी है। यह व्यवधान श्रीकांत को अखरता है। तीन साल से ऊपर हो गए हैं हरि का पत्र आये। श्रीकांत उस पत्र को ढूंढ निकालता है और उस तीन साल के पुराने पते पर वह उसे लिखता है। पत्नी की बात बतलाता है और विवाह एवं व्यवस्थित जीवन की बात उठाता है। जानता है खेल जाना हरिप्रसन्न ने पेशा बना लिया है। परन्तु श्रीकांत का मन नहीं मानता कि यह भी कोई सार्थक मार्ग है। वह उसे लौटाना चाहता है, कदाचित् सुनीता के माध्यम से। लिखता है 'ऐसा मालूम होता है अगर आरम्भ से व्यक्ति अपने साथ जोर-जबरदस्ती नहीं करे तो समय आता है और वह अपने को दे पाता है। कह सकते हो विवाह समाज की सृष्टि है मनुष्य के भीतर प्रकृति-रूप से वह नहीं है। लेकिन एक से दो होने की अपेक्षा आवश्यक जान पड़ता है मनुष्य के भीतर तक व्याप्त है। न कहो विवाह कहो प्रेम लेकिन आदमी अपने में अपने को पूरा नहीं पाता। दूसरे की अपेक्षा उसे है ही।" साथ ही सुनीता की फोटो भी रख देता है ठीक विवाह से पहले वाली वहीं जो पृथक की है, जिसे कह कर वह मुस्कराया है और सुनीता चुप हुई है।—जोड़ देता है— 'अपनी वाली की तस्वीर देखो और कहो तुम्हें इसी से छुट्टी चाहिए। उसकी आँखें मुझे बहुत तंग करती हैं। तुम जानते हो परवश होना मुझे कभी नहीं भाया। पर जहाँ वश न चले वहाँ क्या हो? निश्चय परवशता में सुख नहीं है। किन्तु नितांत एकाकी स्वाधीन होकर कैसे सुख मिल सकता है यह भी मैं नहीं जानता। मुझे ऐसा मालूम होता है कि आदमी को समर्पित होना होगा। ताड़ के पेड़ की तरह ऊँचा तन कर अकेले खड़े रह सकने में आदमी की सिद्धि है यह मैं नहीं मानूंगा।" साथ ही अपनी मनोस्थिति भी बता देता है कि वह वकालत करता है, और वह बेचारी सुनीता। भी कुछ-कुछ साथ देती रहती है। लेकिन उन दोनों का कुछ आंतरिक मेल नहीं और वह उसे रिझा नहीं सकता। वह चाहता है कि जिन्दगी में कुछ नये ढंग का प्रवेश होता रहना चाहिए और हरिप्रसन्न कुछ नई वायु अपने साथ उस घर में लायेगा।

पत्र भेज आता है परन्तु हरिप्रसन्न की खोज जारी रहती है। घर के निरानन्द से ऊब कर दोनों प्राणी तीर्थयात्रा की सोचते हैं और अंत में कुंभ के अवसर पर अपने को प्रयाग में पाते हैं। वहीं संगम जाने के लिए नाव पर सवार श्रीकांत को किनारे की भीड़ में हरिप्रसन्न दिखाई देता है। हरिप्रसन्न भी लगता है पहचान जाता है। दोनों ओर से खोज चलती है परन्तु इलाहाबाद में हरिप्रसन्न के डेरे का पता लगाने पर यह मालूम होता है कि वह दिल्ली चला गया। दिल्ली आने पर भी कई महीने बीत जाते हैं पर हरिप्रसन्न की कोई खोज-खबर नहीं मिलती। एक

पड़े हो तुम पीछे नहीं भागोगे ?" दम्पति किस्म के बाद हरिप्रसन्न को घर ले आना चाहते हैं, यह नहीं हो सकता है परन्तु हरिप्रसन्न भागने की तैयारी में है और किसी छोड़ने की बात कर चुका है।

अब सत्ता की केवल बाड़ है। सुनीता हरिप्रसन्न की चुनौती स्वीकार कर लेती है। स्त्री का यह चुनौती भरा कार्य की कल्पना है—कि स्त्री आवेष्टक है, पुरुष आवेष्ट्य। सुनीता सोचती है "लेकिन नहीं हरिप्रसन्न निष्प्रयोजन निष्फल नहीं होने दिया जायगा। वह नहीं है इसके लिए। मैं अब अनायास उसकी भाभी बनी हूँ तो देखती हूँ कि वह प्रयोजन-युक्त भावों रिश्तों से भी मुक्त फरारी और फरारी होकर यहाँ रहता है।" वह सोचती है स्त्री फिर किसलिए है, यदि पुरुष को प्रयोजन दान समादान से नियोजित नहीं करती। क्या स्त्री इसलिए है कि पुरुष को अपने से निरपेक्ष रहने दे और महाप्रकृति को बंध्या ? क्योंकि दुनिया को रेगिस्तान नहीं होना है क्योंकि उसको लहलहा कर हरियाली हो उठना है, इसीलिए क्या पुरुषों के इस जगत् में विधाता ने हम स्त्रियों को नहीं रचा है ? नहीं नहीं हरिप्रसन्न को सूना-ही सूना शून्य-ही-शून्य एक-ही-एक कैसे रहने दिया जायगा। अपने स्त्रीत्व से लाचार बनी वह देखती है कि परम पुरुष का अभीप्सित वह नहीं। निष्फलता ही जगत् का निष्कर्ष नहीं है नकार सार नहीं है। मृत्यु यदि सत्य है तो तभी, जब जन्म उसके आगे है। जन्म-पूर्वक ही मृत्यु भी सच्ची है।" सुनीता हरिप्रसन्न को कला के द्वारा बाँधना चाहती है परन्तु सत्ता की बात कदाचित् मन की छलना है, आत्मप्रवंचना है। वह जानती है कि वह हरिप्रसन्न को अपने ही सौन्दर्य से बाँध सकती है। यह नई जागृति ही उसे संगीत की उस तरंग से भर देती है जिसे न श्रीकांत समझ पाता है, न सत्या। एकाएक जीवन में प्रकाश और आनन्द की बाढ़ आ गई है। नारी का प्राकृतिक पुष्प-खिला रूप जाग उठा है। वह चिरंतन चुनौती बन गई है।

अब की बार हरिप्रसन्न सीधा सामान के साथ घर आ टपकता है परन्तु चिपटे पुलिन्दे को खोलने पर श्रीकांत को रिवाल्वर मिलता है। यह हरिप्रसन्न का क्रांतिकारी रूप है। श्रीकांत रिवाल्वर और कारतूसों को अलमारी के ऊपर के कागजों के ढेर में छिपा देता है। अब हिंसा-अहिंसा का भी प्रश्न उठता है। श्रीकांत कहता है कि शत्रु के परित्राण के लिए नरहत्या कैसे की जायगी जब मनुष्य किसी को दुष्ट ही नहीं ठहरा सकता। वह कहता है "मुझे तो दीखता है कि मानव-सम्बन्धों के बीच में यदि किसी ओर से भी रिवाल्वर प्रविष्ट होने दिया जाता है तो उसे चतुर्मुखी होने से नहीं रोका जा सकेगा। तब रिवाल्वर शत्रु का नाश और दुष्ट का उद्धार नहीं करते अथवा इनका तुम्हें आश्वासन है।" परन्तु हरिप्रसन्न आश्वस्त है। उसका कहना है, "रिवाल्वर को हाथों में लेकर रगों में स्फूर्ति आती है श्रीकांत। नीति कुछ

कहें और नीति तो सदा ही विवादास्पद है परन्तु प्राणों की स्फूर्ति को कैसे एकदम अस्वीकार किया जा सकता है ?

अब श्रीकांत का प्रयत्न और भी कड़ा हो जाता है। वह हिंसा के मार्ग से हरिप्रसन्न को लौटाने के लिए सुनीता की भी बाजी लगाने को तैयार है। सुनीता भी उसमें सहायक हो सकती है। हरिप्रसन्न के मन में जो सर्वग्राही अवसाद है उसे वह दूर करना चाहता है। उसके भीतर हरिप्रसन्न के लिए पीड़ा उठती है 'इसको क्या कहीं भी रस प्राप्त नहीं है ? ऐसा कर्मण्य व्यक्ति, क्या उस कर्मण्यता में रस-बोध नहीं है ? क्या सब काम इसका अपने को व्यस्त से बचाने के लिए है ? ऐसे कर्मशील व्यक्ति में यह सर्वग्राही अवसाद कैसा है ?" मन बहलाने के लिए हरि एक कलात्मक चित्र बनाना चाहता है और श्रीकांत उसके लिए आवश्यक सामग्री जुटा देता है। चित्र कई दिन तक चलता है। वह रहस्य है। उसके केन्द्र में ज्ञानगामयी नारी है। इसीलिए चित्र का शीर्षक रखा गया है "मा तू।" परन्तु अन्त के बीच बहुत कुछ उलट पलट जाता है। हरिप्रसन्न एक दल के नेता के रूप में सामने आता है और वह श्रीकांत और सुनीता से दल के लिए सौ रुपये लेने में सफल हो जाता है। वह कहता है कि ये सौ रुपये चित्र देखकर उन्हें प्राप्त हो सकेंगे। इस बीच के पृष्ठों में हरिप्रसन्न के प्रति श्रीकांत के मन में स्नेह उमड़ पड़ता है और निरोध की सीमा तक पहुँच जाता है।

श्रीकांत लाहौर जा रहा है। परसों हरिप्रसन्न भी चला जायगा वह जाने को कहता है परन्तु श्रीकांत चाहता है कि सुनीता उसे किसी प्रकार रोके रखे। श्रीकांत जब चला जाता है तो सुनीता अभ्यागत की सुविधा जुटाने में लग जाती है। परन्तु पहले ही दिन सुनीता सद्य स्नाता है साफ कपड़े पहने है —कि हरिप्रसन्न आ जाता है। तस्वीर समाप्त हो गई है यही सूचना देता है, परन्तु किस अवसर। कपड़े पहन कर सुनीता बैठक में आती है और वहाँ घरे-बाहरे के सन्दीप की तरह हरिप्रसन्न उसके सामने प्रस्ताव रखता है कि वह आगे बढ़कर उसके दल के युवकों का नेतृत्व करे। वह नारी की चिरंतन माया-मूर्ति से प्रेरणा लेना चाहता है। पति कह गए हैं कि सुनीता को सब कुछ देकर भी उसे रोकना है। सुनीता तैयार है। लाहौर से श्रीकांत का जो पत्र आया है उसमें भी यही निर्दिष्ट है 'तुमसे कहता हूँ कि उसकी किसी बात पर बिगड़ना मत। सुनीता तुम मुझे जानती हो। जानती हो कि मैं तुम्हें गलत नहीं समझ सकता। तब तुमसे मैं चाहता हूँ कि इन कुछ दिनों के लिए मेरे खयाल को अपने से तुम बिलकुल दूर कर देना। सच पूछो तो इसी के लिए मैं ये अतिरिक्त दिन यहाँ बिता रहा हूँ। हरिप्रसन्न में कितनी क्षमता है लेकिन उस क्षमता से आम दुनिया को क्या मिल रहा है ? मैं यही चाहता हूँ कि यह क्षमता उसकी व्यर्थ न हो जाय। हमारा प्रयत्न हो कि वह समाज के लिए उपयोगी बने। यह समझना कि मैं नहीं हूँ तुम हो और तुम्हारे लिए काम्य कर्म कोई नहीं है। इस भाँति निषिद्ध कर्म भी कोई

नहीं रोकेगा। कर्म में से अपने को यों हल्का अनासक्त कर पाना ही तो इष्ट है। इसके लिए निःसन्देह बड़ी साधना की आवश्यकता है। फिर भी यह तुम कर सकती हो।" परन्तु हरिप्रसन्न को सामाजिक बनाने से भी बड़ी बात है उसकी कलाकारिता के सुरक्षित करने की बात क्योंकि कलाकार मनचला न रहे, उद्भ्रान्त न रहे, किसी प्रयोजन में नियोजित कर दिया जाय तो वह बड़ी शक्ति बन जाता है। नहीं तो वह अपने को ही खाता है। हरिप्रसन्न की प्रतिभा के बीज को वह सुनीता की सहानुभूति के जल से सिंचित करना चाहता है। हरिप्रसन्न जीवन में कुछ प्रयोजन संपन्न करने वाले बड़े नाइकिल थे और वह नाइकिल समाज को उठाता हुआ और चलता हुआ दीखे।

उस दिन सत्या सुनीता को घर से जाने का आग्रह करती है परन्तु सुनीता टाल देती है और रात के पिछले पहरों में सिनेमा से होती हुई, हरिप्रसन्न के साथ जीप में बैठकर जंगल में जाती है जहाँ युवकों का दल जुड़ने वाला है और नारी-शक्ति के रूप में अभ्यर्थना होनी है। परन्तु ठीक जंगल में पहुँच कर हरिप्रसन्न को खतरे का संकेत मिलता है और वह हतचेतन हो जाता है। पुलिस को पता लग गया है और साथी गिरफ्तार हो रहे हैं या प्राण दे रहे हैं। उसे बचाने के लिए संकेत कर दिया गया है। परन्तु वह अपने को बचाएगा नहीं। वह स्पष्ट सुनीता से कह देता है कि मृत्यु सामने है उसे उतने दिनों भी नहीं जीना है जितने उँगलियों के पोर हैं। वह चला।

सुनीता को झाड़ियों के बीच में खुले पत्थर पर अपनी बाँहों पर सुला कर वह मौत को भुलाना चाहता है। सुनीता भी करुणार्द्र हो उठती है। वह इस युवक को बचाएगी—स्नेह देकर, सब कुछ देकर उसे हिंसा के मार्ग से विरत करेगी। वह यह जान गई है कि श्रीकांत लाहौर से लौट आया है। हरिप्रसन्न को भी मालूम है। भाभी के नीचे पलते-पलते वह बना है। परन्तु सुनीता पति के आदेश का ही तो पालन कर रही है। उसके भीतर निजत्व भी जागता है। वह पत्नी है पर नारी भी है। वह पति मय ही नहीं है स्वयं भी तो है। वह हरिप्रसन्न के रहस्यमय अंतराल तक पहुँचकर उसके स्नेह-सूत्रों को उन्मुक्त कर देना चाहती है।

हरिप्रसन्न को अपने से बेहद लड़ना पड़ता है। एक बार तो वह लड़कर सफल हो जाता है। सुनीता को छोड़कर वह चला जाता है। परन्तु सुनीता तो जागी है और खिड़की चाँदनी में हरिप्रसन्न का कामासक्त मन उसे फिर उस सोती हुई ममतामयी नारी की ओर मोड़ता है। लेखक ने हरिप्रसन्न की इस आसक्ति और पराजय की कथा को रुम लेकर लिखा है। यहीं यदि इंगित करके ही रह जाता तो कदाचित् कथा सार्थक हो जाती। परन्तु सरस कथाकार की लेखनी संयम का बाँध तोड़कर बह चली है। हरिप्रसन्न के लिए सुनीता अब न सुनीता-श्रीकांत है न भाभी। वह केवल नारी है। प्रकृति है। वह आप पुरुष है। उसकी नाड़ी में चिरंतन पुरुष का प्रकृति के प्रति आसक्ति भाव प्रवाहित हो उठता है। हम उस समस्त व्यापार कथा को उपस्थित

नहीं करेंगे जो विष की तरह आकर्षक है। जाग कर सुनीता हतचेतन नहीं होती। उसका नारी-तेज जाग्रत हो जाता है। वह पतिनिष्ठा की पराकाष्ठा को पहुँच जाती है। जानती है यह तन की आसक्ति है। तो वह हरिप्रसन्न को तन ही देगी वह मे-मे यह साहस उसमें होना चाहिए। पूछने पर जब हरिप्रसन्न कहता है कि वह उसे चाहता है तो 'तुम मुझे चाहते हो। यह मैं हूँ।" कहती हुई अपनी चेतना पर पड़ी पर्त-की पर्त वसना-ग्रंथियों को खोलती जाती है। साड़ी गई जम्पर उतरा और अंत को हतचेतन करती हुई वह बाड़ी भी फट गई और ढके हुए इन आवरणों के नीचे सुनीता का मात्र नारीत्व रह गया जो आत्मसमर्पण नहीं जानता जो पतिनिष्ठा जानता है और कामनामय प्रेमी के लिए चुनौती है।

हरिप्रसन्न भागा भागा भागा। भीतर की गाँठ खुल गई। कामना के गहरे रंग उड़ गए और अपनी क्षुद्रता उसकी समझ में आई। वह परास्त हो गया।

सुनीता अब आश्वस्त है। वस्त्र उसने पहन लिए हैं और हरि से वादा ले लिया है कि वह अपने को नष्ट नहीं करेगा मारेगा नहीं। पूछने पर,—कि जिससे वह कहेगी वह शादी कर लेगा हरिप्रसन्न तैयार नहीं होता। सुनीता बोली "नहीं नहीं नह सकोगे। हरिप्रसन्न ने सुनीता की आँखों में ही देखते हुए कहा 'नहीं भाभी नहीं।

सुनीता को घर तक पहुँचा कर हरिप्रसन्न लौट जाता है। श्रीकांत अभी लौटा नहीं है। सत्या भौजाई के बहिर्गमन की बात जानती है। वह श्रीकांत को पकड़ रखती है लेकिन श्रीकांत पता लगा लेता है कि घर बंद है। दूसरे दिन जब वह पहुँचता है तो सुनीता आश्वस्त है। उसके मुख पर नव वधू का भाव है। श्रीकांत के प्रेम के आवेग से वह रक्तिम हो जाती है। श्रीकांत भी इस भाव में स्वास्थ्य-लाभ करता है। हरिप्रसन्न तस्वीर छोड़ गया है। इस तस्वीर में उसके मन की गाँठ स्पष्ट है। श्रीकांत सुनीता का कृतज्ञ है कि वह गाँठ अब खुल गई है। इस गाँठ को उसके भीतर से खींच निकालने में सुनीता उपलक्ष्य बनी है।

सुनीता पति को बतलाती है कि उसने अपने को बचाया नहीं परन्तु वह आक्रोश भी प्रगट करती है कि पति न उसे इस कड़ी परीक्षा में डाला। परन्तु श्रीकांत का प्रेम फिर पल्लवित हो उठा है। हरिप्रसन्न की ओर से वह आश्वस्त है। वह कहाँ गया है अब उसकी यह चिन्ता नहीं है। श्रीकांत की सुनीता के प्रति पुनर्जीवित आसक्ति और सुनीता की व्याज-क्रीड़ा के साथ ग्रंथ समाप्त होता है।

संक्षेप में यह सुनीता की कहानी है। परन्तु ग्रंथ की समाप्ति पर भी प्रश्न रह जाता है कि हरिप्रसन्न क्या केवल श्रीकांत-सुनीता के निरानन्द जीवन म लहर उठान का मात्र माध्यम नहीं था और क्या श्रीकांत की इस निरानन्द स्थिति के पीछ हीन कामत्व तो नहीं है या यौन-वैषम्य अथवा नारी को सम्पूर्ण रूप से पाने की अयोग्यता? क्या एक तीसरे व्यक्ति को बीच में लाकर कुण्ठित रीति को पुनर्जीवित करना क्या यह

आयोजन नैतिकतापूर्ण है ? हम यह नहीं मानते कि उपन्यासकार का नैतिकता के प्रति कोई दायित्व है, परन्तु केवल काम-सम्बन्धी मनोविज्ञान पर प्रकाश डालने के लिए कोई कहानी क्यों नहीं आये ? क्या कुंठित और दमित व्यक्तित्व को लेकर लिखी गई कथा ही उपन्यासकार की कला की परख है ? "सुनीता" में श्रीकांत का मनोविज्ञान किसी भी प्रकार स्वस्थ नहीं कहा जा सकता। हरिप्रसन्न के प्रति उसकी चिन्ता मित्रता की सीमा का अतिक्रमण कर जाती है। वह अवैध रति की सीमा तक पहुंच जाती है। पत्नी से पत्नीत्व तक के बलिदान की याचना करना अतिवादी तर्कवादी के लिए संभव बात हो परन्तु व्यावहारिक जगत् की वस्तु वह नहीं है—कल्पना-लोक में भी उसकी सार्थकता नहीं है। वह स्पष्ट ही मनोवैज्ञानिक दुर्बलता है। यह संभव है कि दुर्बल चरित्रों में मायावस्त्र की कल्पना नई बात नहीं है परन्तु फिर उसे आदर्शवाद का आवरण क्यों दिया जाय ?

और सुनीता को क्या कहा जाय ? वह प्रारम्भ में हरिप्रसन्न से विरक्त है, बाद में वह पति श्रीकांत के इंगित पर नाचती है और उसे प्रसन्न करने के लिए हरिप्रसन्न की ओर बढ़ती है। इसमें उसकी पतिनिष्ठा की पराकाष्ठा दिखाई गई है। परन्तु सिनेमा वाले दृश्य में क्या वह केवल साधन-मात्र साधिका नहीं ? क्या स्वयं उसके मन में अव-चेतन में पति के प्रति क्षोभ नहीं है ? क्या वह स्वतंत्र जीवन जीने की बात नहीं उठाती ? वास्तव में ऊपर का बाह्य परिवेश पति-परायणा नारी का है परन्तु भीतर भीतर वह प्रणय-प्रार्थिनी भी है। इस द्वन्द्व को लेखक ने आदर्शवाद के नीचे दबा दिया है। सुनीता क्या नहीं जानती है कि वह अपने ढंग निपट स्वतंत्र रीति से चुनौती बनकर हरिप्रसन्न को आकृष्ट कर रही है। फिर इसमें केवल मात्र और केवल मात्र पति की प्रेरणा हूंढना क्या आत्मप्रवंचना नहीं है ? वास्तव में श्रीकांत और सुनीता दोनों प्रवंचना-ग्रस्त हैं। अपने वैवाहिक जीवन की अपूर्णता को वे हरिप्रसन्न की ओट में छिपाना चाहते हैं। आत्मप्रवंचना की कई तह लेकर उपन्यास खड़ा किया गया है, इसीलिए वह अस्पष्ट और अबूझ है। अंतिम दृश्य तो मात्र पाठक की नैतिकता सम्बन्धी भावनाओं को झकझोरने के लिए है। यदि वह भीतर से आया होता तो नग्नावस्थित नारी को पश्चात्ताप की ओर ही आगे बढ़ाता वह आश्वस्त और आत्मसमर्थी नहीं बन पाती। स्पष्ट ही यह दृश्य आरोपित है। हरिप्रसन्न के अवचेतन मन में किसी काम ग्रंथि को झकझोरने के लिए क्या किसी अन्य अधिक तर्क्य उपाय से काम नहीं लिया जा सकता था ?

२

इस कथा को चारित्रिक भूमि पर देखें।

चार चरित्र प्रमुख रूप से सामने आते हैं श्रीकांत हरिप्रसन्न सुनीता और सत्या। इनमें सत्या केवल साधन मात्र है। वह पृष्ठभूमि में ही अधिक रही है। बहुत

सुनीता हरिप्रसन्न को बाँधने के लिए उसका उपयोग करना चाहती है। इसलिए उसका चरित्र थोड़ा ही खुला है। परन्तु उसकी रूप रेखाएँ स्पष्ट हैं। शेष तीन चरित्र ही कथा बनाते हैं। कथा बहिर्जगत् के वर्णन की कथा नहीं है मानसिक ही अधिक है। अतः उसे पात्रों के भीतर से देखने में ही उसकी उपादेयता है। इस तरह कथा भी अधिक पकड़ में आयेगी और पात्र भी अछूते नहीं रहेंगे।

पहले श्रीकांत को लेंगे। श्रीकांत में चारित्रिकता क्या है? श्रीकांत की चारित्रिकता प्रमुखतः हरिप्रसन्न और सुनीता को लेकर है। परन्तु इनके सिवा भी वह अपने में कुछ है, जो बहुत खुला नहीं। उसके चरित्र के इन तीनों बिन्दुओं को जोड़ना होगा।

हरिप्रसन्न के साथ श्रीकांत का कैसा सम्बन्ध है। श्रीकांत का वह कालिज का साथी रहा है। तब उसने उसे अपना सम्पूर्ण मन दिया है। अवस्था में वह हरिप्रसन्न से बड़ा है परंतु अंतमुख है हरिप्रसन्न की तरह बहिमुख नहीं। वह अनुगामी और अनुग्रहीत है। स्नेह का मोक्ता हरिप्रसन्न प्रधान और अपेक्षणीय। कदाचित् प्रकृति-वैषम्य के कारण ही स्नेह का नाता जुड़ा है। फलस्वरूप हरिप्रसन्न मात्सर्य-ग्रस्त बनता गया है और श्रीकांत में उसके प्रति मार्द भाव उमड़ता गया है। प्रारंभ में ही लेखक ने दोनों मित्रों की चारित्रिक विशेषताओं को स्पष्ट रूप से उभारा है जैसे 'हरिप्रसन्न बहुत खाता रहता था उधत प्रसन्न हलका और स्वीमिंग। वह कर, वह कर सदा इसी में दिखता। किसी का आभार न मानता। मिलनसार था और बहुत तरह के काम जानता था। श्रीकांत अपने में रहता था। मानो कर्तव्य उसके सामने से प्रतिक्षण ओझल हो जाने की चेष्टा में है, इससे प्रतिक्षण उसे अपने सामने भरपूर देखते रहने की चेष्टा में रहना चाहिए। धर्म उसके लिए तर्क का विषय नहीं था। वह कम बोलता था कम मिलता था अपने ऊपर दूसरे के खर्च हुए पैसे का खयाल रखता था। व्यायाम में नियमित था और लड़ना उसके लिए असंभव न था। वह कुचाल से कहीं अधिक डरता था।' इत्यादि। हरिप्रसन्न के चरित्र में लेखक ने आवारगी या 'बोहर मस्' की योजना की है और सुनीता द्वारा उसके बाँधने का प्रश्न असफल ही हुआ है ऐसा कहा जा सकता है क्योंकि वह उसके चरित्र का केन्द्रीय उपादान था। परंतु प्रश्न यह है कि श्रीकांत सुनीता के प्रति उन्मुख क्यों नहीं हो सका? क्यों केवल तीन वर्षों में उसका वैवाहिक जीवन आकर्षण और मोह खो बैठा? क्यों वह सुनीता को संपूर्ण रूप से ग्रहण नहीं कर पाता? श्रीकांत यदि अकेला हुआ और खाली हुआ तो सामने दीवार एकटक देखते हुए एक साँस लेता है और उठकर टहलने लगता है? क्यों बार-बार हरि उसे याद आता है और अपना-उसका एकत्व याद आता है? क्या इसमें कोई मन का सत्य नहीं है? मनोविज्ञान में जिसे "ओरोटिज्म" कहते हैं (स्वयौन रति जिसमें परयौन के प्रति घृणा-भाव भी रहता है) वही क्या उसमें नहीं है?

आयोजन नैतिकतापूर्ण है ? हम यह नहीं मानते कि उपन्यासकार का नैतिकता के प्रति कोई दायित्व है परन्तु केवल काम-सम्बन्धी मनोविज्ञान पर प्रकाश डालने के लिए कोई कहानी क्यों नहीं आये ? क्या कुंठित और दमित व्यक्तित्व को रस लेकर लिखी गई कथा ही उपन्यासकार की कला की परख है ? 'सुनीता' में श्रीकांत का मनोविज्ञान किसी भी प्रकार स्वस्थ नहीं कहा जा सकता। हरिप्रसन्न के प्रति उसकी मित्रता मित्रता की सीमा का अतिक्रमण कर जाती है। वह अबोध रति की सीमा तक पहुँच जाती है। पत्नी से 'पत्नीत्व' तक के बलिदान की आशा करना अतिवादी तत्ववादी के लिए संभव बात हो परन्तु व्यावहारिक जगत् की वस्तु वह नहीं है —कल्पना-लोक में भी उसकी सार्थकता नहीं है। यह स्पष्ट ही मनोवैज्ञानिक दुर्बलता है। यह अवश्य है कि दुर्बल चरित्रों में नायकत्व की कल्पना नई बात नहीं है परन्तु फिर उसे आदर्शवाद का आवरण क्यों दिया जाय ?

और सुनीता को क्या कहा जाय ? वह प्रारम्भ में हरिप्रसन्न से विरक्त है बाद में वह पति श्रीकांत के इंगित पर नाचती है और उसे प्रसन्न करने के लिए हरिप्रसन्न की ओर बढ़ती है। इसमें उसकी पतिनिष्ठा की पराकाष्ठा दिखाई गई है। परन्तु सिनेमा वाले दृश्य में क्या वह केवल साधन-मात्र नायिका नहीं ? क्या स्वयं उसके मन में अवचेतन में पति के प्रति क्षोभ नहीं है ? क्या वह स्वतन्त्र जीवन जीने की बात नहीं उठाती ? वास्तव में ऊपर का छद्म परिवेश पति-परायणा नारी का है परन्तु भीतर भीतर वह प्रणय-प्रार्थिनी भी है। इस तथ्य को लेखक ने आदर्शवाद के पीछे दबा दिया है। सुनीता क्या नहीं जानती है कि वह अपने तईं निपट स्वतन्त्र रीति से कुमारी बनकर हरिप्रसन्न को आकृष्ट कर रही है। फिर इसमें केवल आज्ञा और केवल आज्ञापति की प्रेरणा हुआ क्या आत्मप्रवंचना नहीं है ? वास्तव में श्रीकांत और सुनीता दोनों प्रवंचना-ग्रस्त हैं। अपने वैवाहिक जीवन की अपूर्णता को वे हरिप्रसन्न की ओट में छिपाना चाहते हैं। आत्मप्रवंचना की कई तह लेकर उपन्यास खड़ा किया गया है इसीलिए वह अस्पष्ट और अबूझ है। अन्तिम दृश्य तो मात्र पाठक की नैतिकता सम्बन्धी भावनाओं को झकझोरने के लिए है। यदि वह भीतर से आया होता तो लज्जाशील नार शील नारी को पश्चात्ताप की ओर ही आगे बढ़ाता वह आत्मस्थ और आत्मवशी नहीं बन पाती। स्पष्ट ही यह दृश्य आरोपित है। हरिप्रसन्न के अवचेतन मन में छिपी काम ग्रंथि को झकझोरने के लिए क्या किसी अन्य अधिक तर्कपूर्ण उपाय से काम नहीं लिया जा सकता था ?

२

इस कथा को चारित्रिक भूमि पर देखें।

चार चरित्र प्रमुख रूप से सामने आते हैं श्रीकांत हरिप्रसन्न सुनीता और सत्या। इनमें सत्या केवल साधन मात्र है। वह पृष्ठभूमि में ही अधिक रही है। बहुत

सुनीता हरिप्रसन्न को बाँधने के लिए उसका उपयोग करना चाहती है। इसलिए उसका चरित्र थोड़ा ही खुला है। परन्तु उसकी रूप-रेखाएँ स्पष्ट हैं। शेष तीन चरित्र ही कथा बनाते हैं। कथा बहिर्जगत् के कर्तत्व की कथा नहीं है मानसिक ही अधिक है। अतः उन पात्रों के भीतर से देखने में ही उसकी उपादेयता है। इस तरह कथा भी अधिक पकड़ में आयेगी और पात्र भी अबूझे नहीं रहेंगे।

पहले श्रीकांत को लें। श्रीकांत में चारित्रिकता क्या है? श्रीकांत की चारित्रिकता प्रमुखतः हरिप्रसन्न और सुनीता को लेकर है। परन्तु इनके सिवा भी वह अपने में कुछ है जो बहुत खुला नहीं। उसके चरित्र के इन तीनों बिन्दुओं को जोड़ना होगा।

हरिप्रसन्न के साथ श्रीकांत का कैसा सम्बन्ध है। श्रीकांत का वह कालिज का साथी रहा है। तब उसने उसे अपना सम्पूर्ण मन दिया है। अवस्था में वह हरिप्रसन्न से बड़ा है, परंतु अन्तर्मुख है हरिप्रसन्न की तरह बहिर्मुख नहीं। वह अनुभावी और अनुग्रहीत है। स्नेह का भोक्ता हरिप्रसन्न प्रधान और अपेक्षणीय। कदाचित् प्रकृति-वैषम्य के कारण ही स्नेह का नाता जुड़ा है। फलस्वरूप हरिप्रसन्न आत्मरति-ग्रस्त बनता गया है और श्रीकांत में उसके प्रति आर्द्र भाव उमड़ता गया है। प्रारंभ में ही लेखक ने दोनों मित्रों की चारित्रिक विशेषताओं को स्पष्ट रूप से उभारा है जैसे "हरिप्रसन्न बहुत खाता रहता था उछल प्रसन्न हलका और स्फूर्तिमय। मुँह फट, मुँह फट सदा हँसी में खिलता। किसी का आभार न मानता। मिलनसार था और बहुत तरह के काम जानता था। श्रीकांत अपने में रहता था। मानो कर्तव्य उसके सामने से प्रतिपल ओझल हो जाने की चेष्टा में है, इससे प्रतिक्षण उसे अपने सामने भरपूर देखते रहने की चेष्टा में रहना चाहिए। धर्म उसके लिए तर्क का विषय नहीं था। वह कम बोलता था कम मिलता था अपने ऊपर दूसरे के खर्च हुए पैसे का खयाल रखता था। व्यायाम में नियमित था और लड़ना उसके लिए असंभव न था। वह कुंदन से कहीं अधिक खरा था।" इत्यादि। हरिप्रसन्न के चरित्र में लेखक ने आवारगी या 'वांडर लस्ट' की योजना की है और सुनीता द्वारा उसके बाँधने का प्रयत्न असफल ही हुआ है ऐसा कहा जा सकता है क्योंकि वह उसके चरित्र का केन्द्रीय उपादान था। परंतु प्रश्न यह है कि श्रीकांत सुनीता के प्रति उन्मुख क्यों नहीं हो सका? क्यों केवल तीन वर्षों में उसका वैवाहिक जीवन आकर्षण और मोह खो बैठा? क्यों वह सुनीता को सम्पूर्ण रूप से ग्रहण नहीं कर पाता? श्रीकांत यदि अकेला हुआ और खाली हुआ तो सामने दीवार एकटक देखते हुए एक साँस लेता है, और उठकर टहलने लगता है? क्यों बार-बार हरि उसे याद आता है और अपना-उसका एकत्व याद आता है? क्या इसमें कोई मन का भ्रम नहीं है? मनोविज्ञान में जिसे "यूरेनिज्म" कहते हैं (स्व-रति जिसमें परलिंग के प्रति घृणा-भाव भी रहता है) वही क्या उसमें नहीं है?

क्या हरिप्रसन्न के बीच में आने के कारण ही वह सुनीता को अपने मन के सारे बल से नहीं पकड़ सका है ? यह स्पष्ट है कि उसके मन का भ्रम ही इस निरर्थकता का उत्तरदायी है।

श्रीकांत हरिप्रसन्न को घर लाना चाहता है। हरि का अंधकारपूर्ण भविष्य उसे सालता है। वह उसका आवारापन सह नहीं सकता। चारों ओर से उपेक्षित और उपमेय्य बन कर वह रहा है और श्रीकांत अभी तक भुला सका है। सुनीता के सौन्दर्य की डोर से वह उसे बाँधेगा यह उसकी कल्पना है। उपन्यास का प्रारंभ श्रीकांत द्वारा हरि को लिखे पत्र से होता है परन्तु उस पत्र में श्रीकांत की पकड़ भी है। हरिप्रसन्न के लिए उसकी व्याकुलता मित्रता की स्वाभाविक सीमा से आगे बढ़ जाती है। यह वय-संधि की व्याकुलता है जिसमें कुंठा की सूक्ष्म धारा बह रही है। पत्नी सुनीता का चित्र भेज कर वह हरिप्रसन्न को अपने लिए पाना चाहता है। यदि वह मन की ग्रन्थि से प्रभावित नहीं है तो वह यह क्यों लिखता है कि उसमें और सुनीता में आंतरिक मेल नहीं है और वह उसे रिझा नहीं सकता खीजता। वह उसे यह भी बतलाता है कि सुनीता बहुत सुन्दरी है और हर साल एक-से-एक बढ़कर आशिक मार्की युवा लोग मैदान में आते जाते हैं। इस प्रकार वह हरिप्रसन्न के भीतर की काम ग्रंथि को उकसाना चाहता है। उसके द्वारा वह अपने जीवन का नया रंग घर में नई वायु लाना चाहता है। इस प्रकार हरिप्रसन्न उसके लिए एक साथ साधन और साध्य दोनों है। उसके वय संधि मन की रिक्तता को वह भरेगा और पत्नी के प्रति उसकी आसक्ति स्वयं श्रीकांत को पत्नी की ओर उन्मुख करेगी। यह द्विमुखी योजना इस पत्र में स्पष्ट है जो उसके मन को नंगा कर देता है।

बाद में जो होता है उससे इसकी पुष्टि होती है। घर-आए सोए हुए हरिप्रसन्न को वह चुपके से अपनी भी चादर ओढ़ा देता है और उससे ऊपर चल कर पास सोने का आग्रह करता है। हरिप्रसन्न खिंचा-खिंचा रहता है और श्रीकांत के मन में उसके प्रति वितृष्णा बनी ही रहती है। वह उसके विप्लव और क्रांतिकारी जीवन के प्रति सुनीता को आकर्षित करता है—उसे केवल व्यक्ति हरिप्रसन्न का ही उद्धार करना नहीं है, उसे कलाकार हरिप्रसन्न का भी उद्धार करना है और साथ ही उसे क्रांति के खूनी और हिंसामय मार्ग से भी हटा कर उपयोगी जीवन में लगाना है। परन्तु ये दोनों बातें बुद्धिवादी ऊहापोह (रेशनलाइज़ेशन) हैं, भीतर उसके मन में हरिप्रसन्न के प्रति जो भावना है वह और चीज है। वह आत्मप्रवंचक है। फलतः हरिप्रसन्न के व्यक्तिगत आकर्षण को न मानकर वह उसके चित्रकार और क्रांतिकारी के व्यक्तित्व की आड़ लेना चाहता है। वह सुनीता को पूरी छूट देता है। लाहौर से जो पत्र भेजता है उससे स्पष्ट है कि वह पत्नी के पत्नीत्व को भी बचाना नहीं चाहता। चाहता है कि हरिप्रसन्न उभरे। परन्तु इस उभरने के पीछे हरिप्रसन्न के व्यक्ति के

प्रति उसकी प्रच्छन्न लालसा क्या नहीं है ? अंत तक हरिप्रसन्न के प्रति उसका लालसा भाव बना रहता है और उसे फिर बुलाने का बहाना भी ढूंढना चाहता है। यह हरिप्रसन्न को लेकर श्रीकांत के वितृष्ण मन का एक कोना है। परन्तु दूसरा कोना भी है जो सुनीता से स्नेह माँगता है और उसे अपने को देना चाहता है। हरिप्रसन्न है इसलिए यह कोना सुनीता के प्रति पूरा खुला नहीं है। हरिप्रसन्न जब चला जाता है तो उसके प्रति का वितृष्ण भाव सुनीता की ओर झुक जाता है। मनोविज्ञान की भाषा में इसे 'ट्रान्सफ़रेन्स' कहेंगे। 'ट्रान्सफ़रेन्स' का अर्थ है किसी वस्तु या व्यक्ति के प्रति रागात्मक भाव या प्रवृत्ति को किसी ऐसी अन्य वस्तु या ऐसे अन्य व्यक्ति के प्रति संचालित करना जो भोक्ता के भाव-कोष में उस वस्तु या व्यक्ति से संबंधित है। इस प्रकार हरिप्रसन्न की विफलता में ही श्रीकांत की प्रच्छन्न विजय है। अब उसके स्नेह का आधार एकमात्र सुनीता रह जाती है। तो सुनीता के प्रति उसके मन का आवेग लौटता है। यह जान कर कि हरिप्रसन्न चला गया है वह जल्दी से बढ़ कर दोनों हाथों से सुनीता को उठा लेता है और गाढ़े आलिंगन में उसे बाँध लेना चाहता है। सुनीता चकित रह जाती है। कहती है, "मैं तो सदा तुम्हारी हूँ। फिर छि छि मेरे लिए प्रेम का यह आवेग कैसा ? और ऐसा धीरज क्यों खोते हो ? मुझे तनिक सँभलने भी तो दो।" परन्तु मन की अशान्ति भी छिपी है जो सुनीता की विमलता उसकी आभा को देख कर मिट जाती है। वह अपने से ही भेंप लजा कर, मग्न कर रह जाता है। एक ही क्षण में उसे अद्भुत स्वास्थ्य-लाभ होता है।

हरिप्रसन्न की विध्वंसकारिता और क्रांतिकारिता क्या उसकी आत्मरति (नारसिसिज़्म) का ही अंग नहीं है ? आत्मरत व्यक्ति आत्यन्तिक रूप से अपने में डूबा रहता है और अपने से बाहर आने से डरता है। मनोवैज्ञानिकों का कहना है कि ऐसी मनोस्थिति में अहम् ही आत्मार्पण का विषय है। हरिप्रसन्न की मनोस्थिति भी कुछ ऐसी ही है। परन्तु सुनीता उसके भीतर काम की गाँठ को उभार देती है और उसमें उसे अपना चित्र स्पष्ट दिखाई देता है। सुनीता की नग्नता उसे अपनी आत्मभीरुता का पता दे देती है। वह आत्मभीरु है इसी से क्रांतिकारी है। वह आत्मबद्ध है इसी से कलाकार है। वे दोनों उसके लिए पूर्ण रूप से ऊर्ध्वमुखी (सबलिमेशन) नहीं हो सके हैं। भीतर की काम-ग्रंथि खुलने पर अब कदाचित् वह इन क्षेत्रों में अपना आत्मदान निश्चित रूप से दे सकेगा। इस प्रकार बाहर से उन्मुक्त हरिप्रसन्न भीतर की काम ग्रंथि से बँधा है और उसकी भीतरी मुक्ति में ही उसका कल्याण है। उसी तरह श्रीकांत भीतर भीतर हरिप्रसन्न से बँधा है और इसीलिए वह पत्नी सुनीता का पूर्ण रूप से नहीं बन पाया। यह बंधन टूटने में ही दम्पति का कल्याण है। इस प्रकार सुनीता में उभय पक्षों की कल्याण-योजना है और इसी से वह किसी के लिए भी दुःखांत नहीं है। कदाचित् इसी कल्याण-प्राप्ति के विचार से पात्रों में परस्पर कृतज्ञता प्रकाशन की योजना

है। हरिप्रसन्न और सुनीता परस्पर एक दूसरे के चरण छूते हैं और श्रीकांत भी सुनीता के लिए कुछ कम कृतज्ञ नहीं है।

सुनीता की नारीत्विकता क्या है? बहुत कुछ तो वह हरिप्रसन्न का बाहर आने का सम्बन्ध-मात्र है उसमें जिज्ञासा कम आती है। परन्तु जब जिज्ञासा आती है तो वह नारी के लिए पुरुष या पति से स्वतंत्र जीवन की माँग करती है। वह तन की आसक्ति को महत्व नहीं देती और पत्नीत्व की सूक्ष्म व्याख्या करती है। बाद के उपन्यासों में इस व्याख्या के सूत्र और भी गहरे और सूक्ष्म होते गये हैं। परन्तु सूत्र पति श्रीकांत के हाथ में रहने के कारण सुनीता का विद्रोह विवाहिता नारी का घर से बाहर जाने का आयोजन नहीं हो सका है। उसमें विद्रोह की आग नहीं वह लौट कर बार-बार पति की ओर देखती है और उधर से आश्वासन पाकर ही हरिप्रसन्न की ओर बढ़ सकी है। यदि उसके मन में हरि के प्रति वितृष्णा है तो वह उसे चेतन के गहरे तल में उतार देती है और पति के पथ की आड़ लेती है। इस प्रकार उसके अनिर्दिष्ट, द्वंद्वमय और रहस्यमण्डित चरित्र का आयोजन होता है। वह खुलकर अपने मन से सामने नहीं आ सकी है। आ सकती तो कथा का रूप ही दूसरा होता।

यह स्पष्ट है कि 'सुनीता' नाम देने पर भी उपन्यासकार ने श्रीकांत को ही केन्द्र में रखा है। समस्या श्रीकांत और सुनीता दोनों की है। दोनों का जीवन निरानंद है। दोनों परस्पर एक-दूसरे को पाना चाहते हैं और अंत में हरिप्रसन्न के माध्यम से पाते हैं परन्तु श्रीकांत ही संयोजक है। उसकी समस्या भी दोहरी है और कथा के सूत्र भी उसके हाथ में हैं। वह तटस्थ द्रष्टा लगने पर भी तटस्थ नहीं है। उपन्यास के अन्त में उसे ही सबसे अधिक आत्म-लाभ हुआ है। श्रीकांत के ऊपर से देखने से "सुनीता" के कथा के पर्दे गहरे घुमाते हैं और उसकी रहस्यमयता रहस्य नहीं रहती। आलोचकों ने सुनीता को केन्द्र मान कर ही सोचा जाना है।

'सुनीता" की मनोवैज्ञानिकता का एक पक्ष स्वयं लेखक को लेकर भी है। "प्रस्तावना में वह लिखता है "सृष्टि स्रष्टा को छिपाये है। मुझे भी अपने इन पात्रों के पीछे छिपा मानें पर सृष्टि स्रष्टा को ही व्यक्त करती है और यह पुस्तक मुझे व्यक्त करने को बनी है। फिर भी सृष्टि ही तो दीखती है स्रष्टा कहाँ दीखता है?" परन्तु लेखक का आग्रह है कि वह पुस्तक के किसी एक पात्र में न होकर सब में बिखर गया है। उसके शब्द हैं "पुस्तक में रहे हुए मुझको पाठक जैसे चाहें, समझें। मैं किसी पात्र में अनुपस्थित नहीं हूँ और हर एक पात्र हर दूसरे से भिन्न है। उनकी सब बातें मेरी बात हैं। फिर भी कोई बात मेरी बात नहीं है क्योंकि मेरी कही वे तो उनकी हैं।" यह तो ठीक है कि पात्रों में हम जैनेन्द्र को उसी रूप में नहीं पा सकते जिस रूप में वह हैं। पात्रों के अनुरूप उनके रूप का विकृत होजाना असंभव नहीं है। परन्तु फिर भी यह देखा जा सकता है कि रचना में लेखक किस रूप में अथवा किन अंशों में है।

क्या वह श्रीकांत में है? या हरिप्रसन्न में? या सुनीता के "पत्नीत्व-मात्र" में जो "खुरस्र बारा" की तरह गुप्त बना दिया गया है। आखिर वह कहाँ है? "परख" में उसने अपने को सम्पादन में छिपाया है अपने संभाव्य रूप को बिहारी में रखा है। सम्पादन की दुर्बलता एक तरह उस पात्रकार की ही दुर्बलता है यद्यपि बिहारी के रूप में उड़ने का भाव भी चित्रित है। क्या "सुनीता" में पति जैनेन्द्र है जो क्रांतिकारी मित्र के प्रति वितृष्णा भाव से ऊपर उठ कर निरानंद दाम्पत्य जीवन में एक लहर लाना चाहते हैं। श्रीकांत की दुर्बलता लेखक की दुर्बलता किन अंशों में है? पत्नी धर्म की यह नई व्याख्या क्या केवल सैद्धान्तिक है या जीवन के ऊपर से होकर आई है। पात्रों के भीतर से लेखक तक पहुँचने का कोई स्पष्ट साधन हमारे पास नहीं है। इसी से लेखक के "प्रस्तावना" वाले अंश से ही हमें संतोष करना पड़ता है। किन अंशों में यह रचना वैयक्तिक रही है इसका समाधान कदाचित् नहीं हो सकेगा। परन्तु यह स्पष्ट है कि लेखक अपने को बचाना चाहता है—कि उस पर दृष्टि न पड़े। इसीलिए सृष्टा और सृष्टि की बात उसने उठाई है। बाद में स्वयं लेखक द्वारा दी गई "सुनीता" की अनेक व्याख्याएं टीकाएं-भी इस दिशा में हमारी सहायक नहीं हो सकतीं क्योंकि उनमें बुद्धि का विलास ही अधिक है और खोलने से अधिक छिपाने की चेष्टा है। "घरे-बाहरे" को लेकर एक बड़ा प्रश्न खड़ा कर दिया गया है परन्तु स्पष्ट ही "घरे बाहरे" 'सुनीता' में अधिक नहीं है। वह केन्द्र में तो नहीं ही है। वह तो कथा के उभार में आया है। और उसके बिना भी श्रीकांत-हरिप्रसन्न सुनीता की कथा यही रह सकती थी। इस साम्य दृष्टि के केन्द्रीभूत करने के कारण लेखक व्यक्तिगत पक्षों को साफ बचा गया है।

४

इसमें संदेह नहीं कि "सुनीता" में हिन्दी आलोचकों और पाठकों को जैनेन्द्र की सामर्थ्य का पता चला था। वे क्षुब्ध हुए थे कदाचित् जैनेन्द्र के अनिभ्रान्त आदर्शवाद पर, परन्तु फिर भी जैनेन्द्र की औपन्यासिक कला की सम्भावनाएं उनके सामने आईं थीं और उन्होंने उन्हें स्नेह की दृष्टि से देखा था। कुछ अस्पष्ट होने पर भी तब जैनेन्द्र अबूझ नहीं थे। वह अभी दार्शनिक नहीं बने थे और सूक्ष्म मतामत को भी उन्होंने साहित्य की रंगीनी देकर ही प्रकाशित किया था। वास्तव में "परख" और 'सुनीता' में जैनेन्द्र ने भारतीय गृहस्थ-जीवन को बड़ी सूक्ष्म अंतर्दृष्टि से उभारा था। इन दोनों उपन्यासों में एक ही विषय था। एक नये 'मूल्य' को लेकर लेखक सामने आया था। इस नये "मूल्य" में सूक्ष्म सत्य का आग्रह था। प्रेम की "परख" क्या है? नारीत्व की "परख" क्या है? उत्तर या समाधान भी उपस्थित किया गया है—कि प्रेम की परख है त्याग और नारीत्व या पत्नीत्व की परख है अपरिसीम पतिनिष्ठा और अयाचित

आत्मभान। उत्तर था समाधान आत्मसमर्पी था सूक्ष्म था सब किसी के पल्ले पड़े ऐसी बात नहीं। परन्तु इस उत्तर को जैनेन्द्र ने मानसिक हलचलों और अनेक घरेलू चित्रों की भूमिका देकर उपस्थित किया था। एक ओर सूक्ष्म और क्षणपरिवर्ती मनस्तत्व दूसरी ओर सरल और स्नेहपूर्ण घरेलू जीवन। ये दो उपन्यास की नई दिशाएँ थीं। पहले के लिए जैनेन्द्र रवि बाबू और शरद् के ऋणी हैं। 'चोखेर बाली' (आँख की किरकिरी) के जिस मानस-चित्रण ने शरद बाबू को चमत्कृत कर दिया था वही जैनेन्द्र को आकर्षित करने में समर्थ हुआ था। अंतर इतना था कि शरद ने रवि बाबू की सूक्ष्म मानसी पकड़ को भावना की भूमि देकर नया रूप दिया परन्तु जैनेन्द्र उसमें विलक्षणता और सिद्धान्त ही भर सके। उसमें कोमलता नहीं आई वह अंतर की हरी विभा से पोषित नहीं हो सका। फलतः उसमें तत्त्व का आग्रह अधिक रहा काव्य का रस कम। परन्तु यह कम महत्व की बात नहीं कि जैनेन्द्र ने अपने उपन्यास-लेखन के लिए एक नई भूमि ढूँढी और उस पर आगे चलकर हिन्दी की कई मधुर रचनाएँ दीं। सामर्थ्य की बात अपनी अपनी है परन्तु नई दिशाओं का निर्माण भी कम श्रेयस्कर नहीं है। दूसरी भूमि नितान्त मौलिक थी जैनेन्द्र की अनुभूत और कल्पित।

घर के छोटे-बड़े हृदयग्राही दैनिक अनुभव के चित्र 'सुनीता' में मिलते जैसे उपन्यासकार घर के अन्तराल में प्रविष्ट है और उस चित्रण में रस ले रहा है। सच तो यह है कि 'सुनीता' की कथा मानसिक तल पर ही विकसित होती है और उसमें गृहस्थ जीवन का रस भी पूरा-पूरा छन आया है। प्रेमचंद के साहित्य में घटना का घटाटोप है चरित्रों का बाहुल्य है। फल यह है कि चित्रण की बारीकी नहीं मिलती। मन को भावनास्पर्शी गहराइयों प्रेमचंद की लेखनी कम छूती है भाग-दौड़ में (उसकी दौड़ भारतव्यापी) उसे इतनी फुरसत नहीं मिलती। प्रेमचंद वर्गों का जीवन देते हैं परिवारों का नहीं। गृहस्थी के चित्र उनके साहित्य में कम नहीं हैं। 'गोदान' होरी की गृहस्थी पर ही खड़ा है। परन्तु सामान्य जीवन के सामान्यतम संवेदन नहीं हैं। रसोई-चक्की-चूल्हा आड़-बुहार में और पाती हुई रसमयी गृहिणी उनकी कथा के बीच में प्रतिष्ठित नहीं है। गाँव की विधवा की कोठरी में सजी आम की पूजा-सामग्री उसमें रंगीन नहीं बन सकती। यह दिन-दिन क्षण-क्षण के गृहस्थ जीवन का—नगर ग्राम का चाहे जैसा—जैनेन्द्र की सिद्धहस्तता है। प्रेमचंद में जीवन का प्रवाह बहुत है सब कुछ आन्दोलनमय है जीवन की कविता उनमें कम है। जैनेन्द्र इस भूमि पर कवि गुरु रवीन्द्र के साथ हैं। उनमें कवि की सूक्ष्म पकड़ है और कला-छूती लेखनी उनके पास है जो कम बोलती है परन्तु बोलती है तो प्यार के सहलाव के और पीड़ा में भी आनन्द के स्वर मिलते हैं।

५

जैनेन्द्र मनस्तत्व पर चलते हैं। वह भावना को प्रधानता देते हैं बुद्धि को नहीं। इसीसे बुद्धि पर खड़ी संस्थाएं उनके अनुसार समाज के स्थायित्व के लिए आवश्यक होने पर भी बहुत आवश्यक नहीं हैं। विवाह इनमें से एक संस्था है। भावना तौल तौलकर नहीं चलती वह परीक्षण करती है। परन्तु समाज जैसे बस मानसिकता जैसे बस यदि जीवन परीक्षण के लिए ही समझ लिया जाय और कानून तोड़ने के ही लिए। क्या सब मानवता नहीं कायम है उस रीढ़ संस्था के सहारे जिसे "कुटुम्ब" कहते हैं और जो विवाह पर टिकी है।" परन्तु इस यथातथ्यता की स्वीकृति से मनुष्य के भीतर के भाव-लोक को सहारा तो नहीं मिलता। वह हिमायतित बन जाता है। इस क्रिया को श्रीकांत में लेखक ने इस प्रकार रक्खा है 'श्रीकान्त मानता है कि वह इससे सहमत है। फिर भी माना करने से पूछता है "हाँ"। पूछता है और कुछ देर बाद उत्तर में जैसे भीतर-ही-भीतर "क्यों नहीं" दोहराता हुआ असमत भाव से उठ पड़ता है और तेज चाल से अपने कमरे में चलने लगता है।" (पृ० ३) बुद्धि की हार भावना में है। इसी से जैनेन्द्र "सुनीता" में भावोद्दीप्ति की योजना करते हैं और सूक्ष्म अतर्क्य भावना के बल पर ही वह विवाह की दुर्लंघ्य संस्था के पार जाने का उपक्रम कर सकी है। भावना के बल पर ही सूक्ष्म को पकड़ा जा सकता है। बुद्धि स्थूल को पकड़ती है परम्परा को पकड़ती है। इसके आगे उसकी सुरक्षा नहीं है।

कथा में सुनीता की मनोदशा के प्रतीक-रूप में "मीरा"—प्रिज्म को रखा गया है और सुनीता-श्रीकांत की प्रिज्म के ऊपर से की गई वार्ता से जैनेन्द्र ने अपने दृष्टिकोण के लिए पाठकों को तैयार किया है। श्रीकांत तर्कशीला बुद्धि की भूमिका पर से मीरा के जीवन को ग्रहण करना चाहता है। फलतः वह उसे समझने में असमर्थ है। वह राणा की क्रूरता को भीतरी व्यथा को उपज मानता है और मीरा की वह भक्ति उसकी समझ में नहीं आती जो उसे सब कर्तव्यों से विमुख कर देती है और राणा के प्रति सहनशीलता को औचित्य भी प्रदान करती है। यह दृष्टि समाजगत है। यह विवाह की संस्था के भीतर से दाम्पत्य जीवन का देखना है। परन्तु सुनीता की दृष्टि दूसरी है। वह लौकिक को बुद्धिसम्मत मानती है परन्तु मानती है कि बुद्धि से परे जीवन है। उसे अलौकिकता समाविष्ट भी होना होगा। वह कहती है 'अलौकिक हो क्या हो सकता है जो लौकिक का आधिपत्य अस्वीकार कर दे। बुद्धि अतीत जो है उसे चलने के लिए बुद्धि के पैर और तर्क के स्टेप्स नहीं काम देंगे। इससे तो मैं सहमत हूं कि लौकिक तो अलौकिक का बहिष्कार ही करे, पर अलौकिक उससे असन्न न हो जायगा। मीरा कम-जीम नहीं हुई है इसमें लौकिक का निश्चित रहना चाहिए कि अलौकिक की लौकिक पर हावी होने की सकीम है। मैं समझती हूं, लौकिक के दिग्

दुर्गम मार्ग दर्शन के हेतु से अलौकिक व्यथा-कथा घटित होता है। बहिष्कृत तो उसे करना ही होगा परन्तु उसमें मनमानी भी न वैसी होगी। मीरा को समझती मैं भी नहीं हूँ पर समझती हूँ वह समझी जा सकती है। मीरा के हृदय को राणा के हृदय के प्रेम की व्यथा न कहीं उत्कट प्रेम की व्यथा को धारण कर रखा—क्या तुम यह नहीं मानते। श्रीकांत इसे अस्वीकार कर देता है। उसका तर्क है कि राणा के प्रति मीरा का अप्रेम अन्याय है। इस पर भाव विह्वल स्वप्नसिक्त सुनीता का उत्तर है "मैं तो इतना ही कहती हूँ कि राणा ने अन्याय नहीं किया। यह मैं राणा की ओर से भी कहती हूँ मीरा की ओर से भी कहती हूँ। राणा के मन की व्यथा की ज्वाला में जिन कृत्यों को क्रूर कहा जावे वे ऐसे भस्म हो जाते हैं जैसे यज्ञ में समिधा। मैं तो राणा के साथ रो ही सकती हूँ पर मीरा के साथ भी मुझे इजाजत दे दो कि मैं रोना चाहूँ। मीरा के मन को जानने पर मीरा को दण्ड देने योग्य जो नहीं रक्खा जायगा। यहाँ प्रश्नोत्तर समाप्त हो जाता है। कुछ कहने को नहीं रहता। सुनीता का भावावेग श्रीकांत को भी छू जाता है। सुनीता स्वयं समझ नहीं पाती कि यह कह कर उसने पति के साथ न्याय किया है या अन्याय। परन्तु इससे सुनीता का भाव बोध पुष्ट होता है। जो हो इस प्रसंग में जैनेन्द्र ने इंगित कर दिया है कि भाव-बोध बुद्धि बोध से बड़ा है और उसी में मनुष्य की सार्थकता है। 'बुद्धि की हार" इस दर्शन को उन्होंने यहाँ उभारा है। यद्यपि स्वयं सूक्ष्म तर्कमयता सहारा लेकर तर्क को तर्क से काटने की गलती भी उन्होंने की है। अपराजित सुनीता रही है परन्तु तर्कबद्ध श्रीकांत छोटा है। इसीसे सुनीता की ओर से देखने पर उसकी नम्रता अवांछनीय नहीं रहती श्रीकांत की ओर से देखने पर वह विवादग्रसित और वादग्रस्त जाती है। जैनेन्द्र ने उपन्यास में श्रीकांत को आग्रही बनाकर एक प्रकार से सुनीता पर अन्याय किया है उसे अपने पर छोड़ सकते तो कदाचित् सुनीता मीरा जैसी व्यथा का अनुभव करती और "परख" की कट्टो के "वैधव्य-व्रत" की तरह सुनीता का "पत्नीत्व व्रत' या "सतीत्व व्रत" भी हलका होकर आता क्योंकि दोनों में एक ही प्रकार की "आत्मा तुष्टि" है।

६

त्यागपत्र

"त्यागपत्र' जैनेन्द्र का सबसे अधिक विवादग्रस्त उपन्यास रहा है। इसका कारण यह है कि लेखक ने इस उपन्यास में समस्त कथा को दो मन्तव्यों के भीतर से देखना चाहा है और पात्रों के मन की भी दो भूमियाँ निर्मित की हैं। एक सामाजिक दूसरी व्यक्तिगत। इन दोनों भूमियों को एक साथ लेकर चलने के कारण बात कुछ उलझ गई है। आवश्यकता इस बात की है कि हम इन दोनों भूमियों को अलग लेकर चलें और कथा और पात्रों की इस द्वैध स्थिति को स्पष्ट रूप से जान लें।

सामाजिक मन्तव्य

जैनेन्द्र के उपन्यासों में सामाजिक मंतव्य प्रच्छन्न रूप से आता है और लेखक के पात्रों के घात-प्रतिघात एवं विचारों के ऊहापोह में उसका अधिक पता नहीं लगता। परंतु 'त्यागपत्र" में यह सामाजिक मंतव्य इतना मुखर है कि उसे आँखों की ओट करना असम्भव बात है। स्पष्ट वह यहाँ भी नहीं है, परन्तु शक्तिशाली अवश्य है। वास्तव में "त्यागपत्र" और "कल्याणी' में जैनेन्द्र ने नारी-जीवन की उन विडम्बनाओं को उभारा है जो व्यक्तिगत न होकर सामाजिक हैं जो "घर और बाहर" की समस्या जैसी सूक्ष्म नहीं हैं, स्थूल जिनमें सामाजिक अर्थ-भाव बड़ी शक्ति से सामने आता है। यह जरूर है कि कम-से-कम 'त्यागपत्र" में नारी-जीवन की कदर्थना प्रमोद की प्रतिक्रिया के रूप में एक व्यक्तिगत पक्ष को भी लेकर सामने आती है और स्वयं मृणाल भी नारी की सामाजिक स्थिति के प्रश्न को व्यक्तिगत आत्मपरिष्कार (आत्मपीड़न) का प्रश्न बनाकर चलती है परन्तु उपन्यास के आदि-अन्त से हमें कथा की समाजमूलकता का पता चल जाता है।

परंतु यहाँ प्रश्न यह उठता है कि कथा में समाजमूलकता कहाँ तक है और स्वयं लेखक ने उसे कहाँ तक सामाजिक प्रश्न के रूप में देखा है। प्रारम्भ में ही लेखक ने अपनी मर्यादाएं बाँध दी हैं—कि 'यहाँ भाई पाप-पुण्य की समीक्षा मुझ से न होगी। जज हूँ कानून की तराजू की मर्यादा जानता हूँ पर उस तराजू की वकअत को भी जानता हूँ। इसलिए कहता हूँ कि जिनके ऊपर राई-रत्ती नाप जोख कर पापी

को पापी कह कर व्यवस्था देने का दायित्व है वे अपनी जानें। मेरे बस का यह काम नहीं है। मेरी बुआ पापिष्ठा नहीं थीं यह भी कहने वाला मैं कौन हूँ ? पर आज मेरा जी अकेले में उन्हीं के लिए चार आँसू बहाता है। इस वक्तव्य से यह स्पष्ट है कि लेखक बुआ (मृणाल) के जीवन को सामाजिक मान-दण्ड पर परखना चाहता है वह उनके जीवन की व्यर्थता को बताता है और इस व्यर्थता को दूर न कर सकने की ग्लानि से दब जाता है। ग्लानि यह नहीं कि बुआ पापिष्ठा थी —यह कि बुआ तिल तिल कर गलती रही तो वह गद्दीदार बना रहा अपने चारों ओर तरह-तरह की प्रतिष्ठा की दीवार खड़ी करके मजबूती से बना रहा और कोई अवकाश उसको पार कर उस तक न आ सका। उसका अपना अस्तित्व सामाजिक दंभ का प्रतीक बन जाता है जब कि बुआ मृणाल का तिल-तिल होमने वाला जीवन आदर्श-सत्य को चुनौती है। बुआ ने सत्य लिया भतीजा जजी ओढ़ कर उस सत्य के जलते तेज से अपने को बचाये रहा। परन्तु अन्त तक उस टेक को खो देने की शक्ति उसमें नहीं थी। अन्त में भीतर की ग्लानि से गल कर उसने जजी जज एम. दयाल ने ४—४ को अपना त्यागपत्र दे दिया।

इस त्यागपत्र को ही शीर्षक बना कर जैनेन्द्र ने इस व्यक्तिगत गुनाह को ही महत्वपूर्ण बना लिया है। परन्तु प्रश्न यह है कि यह त्यागपत्र क्या ? जिस बात को सतह से कुछ ऊपर दर्ज हो गये उसको मृणाल की मृत्यु ने झकझोर कर कैसे ऊपर उठा दिया। और इस त्यागपत्र से किस समस्या का समाधान हुआ ? सामाजिक समस्या तो वहीं बनी रही व्यक्ति जानी एम. दयाल या भतीजे प्रमोद की वैयक्तिक समस्या भी कैसे समाधान को प्राप्त हुई। बुआ के प्रति जिस व्यक्तिगत अवमानना को उसने अपना मनाचार माना वह क्या जजी के त्यागपत्र से धुल गई। क्या उसके पीछे प्रमोद की अपनी कुछ व्यक्तिगत कुंठाएँ नहीं थी ? क्यों वह बुआ के आड़े नहीं आ सका। क्या इसी धिक्कार ने तो उसे त्यागपत्र के लिए मजबूर नहीं किया ?

बुआ के जीवन के सामाजिक पक्ष की कहानी इस प्रकार है। उसने शीला के भाई से प्रेम किया और भेद खुल जाने पर पिट भी थी। क्यों शीला के भाई के प्रति उसका प्रेम सामाजिकता नहीं पा सकता था इसका लेखक ने इंगित भी नहीं किया है और इसको व्यर्थ करके पाठक की सहानुभूति को चोट पहुँचाई है। फलतः बुआ का आत्मपीड़न मनोवैज्ञानिक ग्रंथि बन गया है। क्यों वह सहती है, क्यों वह उस समय विद्रोह नहीं करती जब विद्रोह करना सार्थक होता। बाद में हम देखते हैं कि बुआ का विवाह हो गया है परन्तु वह प्रमोद से स्पष्ट कह देती है कि उसका मन वहाँ पर नहीं है और उसे पत्र देकर शीला के भाई के पास भेजती है। पत्र का उत्तर पढ़ कर मृणाल अपने को भूल गई थी परन्तु अंत में उसने उस खत को फाड़ कर नन्हें-नन्हें टुकड़े कर डाले और चैतन्य लौटने पर प्रमोद को डाटा कि वह वहाँ कभी नहीं जाए।

यहाँ कोई सामाजिक द्वन्द्व न होकर व्यक्तिगत द्वन्द्व ही स्पष्ट है। विवाहिता नारी की सामाजिकता मान्यता और पतिनिष्ठा एक ओर और स्वच्छन्द प्रेम का नारी का सहज अधिकार दूसरी ओर। बुआ की इस उक्ति में कि 'तू इतना अनसमझ क्यों है प्रमोद। तू नहीं जानता कि मेरी शादी हो गई है। यह द्वन्द्व झलक आता है। आगे बुआ अपने दिल की आग का भी जिक्र करती है और जाने से पहले पत्र लिख कर शीला के भाई से बधाई के बहाने जहर मंगाती है। पत्र चिन्दी बन जाता है और हजारों टुकड़े कर डाले जाते हैं और फिर शीला के भाई का यह प्रसंग यहीं समाप्त हो जाता है। अगले रोज कृष्ण पूरे इंतजाम और प्रेम के साथ बुआ को अपने घर ले जाते हैं।

कृष्ण पहाड़ के आदमी हैं जिनका दावा है कि घी और मरद पहाड़ का। उधर बुआ ने पहली भेंट में ही अपनी राम कहानी उनसे कह दी है और मार खा ली है। बुआ के शब्दों में 'ब्याह के बाद मैंने बहुत सोचा बहुत सोचा। सोचकर अंत मे यह पाया कि मैं छल नहीं कर सकती। छल पाप है। हुआ को हुआ ब्याहता को पतिव्रता होना चाहिए। सच्ची बनकर ही समर्पित हुआ जा सकता है।' इस सच्ची बनने के लिए मृणाल ने शीला के भाई के पत्र और अपने उत्तर को भी पति के सामने रख दिया और अंत में उसके भीतर के दानव को जगा दिया (पृष्ठ २१ २१)। पति न उसके लिए एक कोठरी तय कर दी और उसने पातिव्रत्य के नाते दूर रहना स्वीकार कर लिया। पति जब कहता है कि वह पति नहीं है तो क्या पत्नी का पातिव्रत्य यही नहीं कि उसके स्वामित्व को मानते हुए भी अपने प्रति उत्तरदायित्व से उसे मुक्त कर दे। यह सूक्ष्म तर्क है जिसने मृणाल को अंध कूप में ढकेल दिया। मृणाल का समाधान कहाँ तक व्यावहारिक है कहाँ तक औपन्यासिक कहाँ तक जीवनमुखी और काल्पनिक यह नहीं कहा जा सकता। परन्तु प्रेम और पत्नीत्व में से एक को स्वीकार कर (या पत्नीत्व को स्वीकार कर) लेने के बाद पुरुष (पति) को परीक्षा में डालना क्या ठीक था? क्या पति को पति रूप में स्वीकार कर और उसका गर्भ धारण कर मृणाल ने अपने प्रेम धर्म को कुंठित नहीं किया था? फिर पति के प्रति सच्ची होने का यह अति आग्रह क्यों? क्या इसके भीतर यह प्रच्छन्न सूत्र नहीं कि कहीं भीतर प्रेम की अनिवार्यता भी छिपी है? जैनेन्द्र का मन्तव्य है कि विवाह नारी की ओर से आध्यात्मिक बंधन है और वह तन ही नहीं मन भी पुरुष को देकर ही सार्थक होती है। मन दिये बिना मृणाल अपने भीतर अपूर्णता का अनुभव करती है और मन देने का अर्थ है भीतर की बात खोलकर कह देना जिसकी प्रतिक्रिया वही हुई जो मनोवैज्ञानिक थी। एक ओर सूक्ष्म तर्कवाद या आध्यात्म भाव है तो दूसरी ओर मनोविज्ञान। हार्डी के "टेस" में भी ऐसी ही स्थिति की योजना है।

यहाँ तक तो ठीक। लेखक तन मन के सम्पूर्ण समर्पण को ही सतीत्व मानता है और कोठरी में रह कर भी कदाचित् मृणाल सती बनी रह सकती थी यदि वह मन से पति के प्रति समर्पित रहती। शायद रही हो। परन्तु मन की कौन जानता है। लेखक यह इंगित करना चाहता है कि पति के मन को कष्ट न पहुँचाने के लिए ही मृणाल ने प्रसन्न रहना स्वीकार किया और सतीत्व की कृपाण की धार पर चलने का यह सूक्ष्म पथ ग्रहण किया। बाद में परिस्थिति-वश उसने तन बेचा मन सुरक्षित रखा। जिसने उसके साथ कुछ भी किया उसे प्रतिदान में तन मिल गया यदि उसका यही आग्रह रहा। वह पहले कोयलेवाले के साथ रही। बाद में उसका चाहा दूसरा बनी परन्तु आशा टूटने पर अभिजात्य को भ्रम मान कर नीचे आने का पथ ही उसने स्वीकार किया और अन्त में उस वर्ग के लोगों में जा पहुँची जो समाज की जूठन है। उनकी दुलत्ती और कसती इस्तेमाल के थपेड़े ही वह थी और शायद मरी। इस स्थिति का चित्रण देखिए, 'जहाँ नगर की सड़ांध रहती है वहाँ वह रहती थी। प्रत्येक अवस्था की वेश्याएँ बेकार मजूर, पेशेवर भिखमंगे कानून की आँख और अंकुश से बच कर छिपे-छपाए काम करने वाले उचक्के चोरों की वह जगह थी। बुआ वहाँ कैसे आ पड़ी। वह बीमार थी खटिया से लगी पड़ी थी। चार-पाँच उमर के वर्णन के स्त्री-पुरुष आसपास थे। उनके चेहरे पर बुआ की अवस्था के लिए आग्रह और चिन्ता दिखती थी। वे परेशान मालूम होते थे पर बात वे बड़ी लापरवाही के साथ करते थे। इस-सब में कहीं न थी   इस नरक से उबरना मृणाल ने नहीं चाहा। प्रमोद के आग्रह पर उसने कहा प्रमोद तुमने महाभारत तो पढ़ा है न। युधिष्ठिर स्वर्ग गए थे तो कुत्ते को नहीं छोड़ गये थे। यह बता तेरा घर कितना बड़ा है — इन सबको ले चलेगा। ये कुत्ते नहीं हैं और इनका मुझ पर बड़ा उपकार है।" यह प्रमोद के अभिजात्य पर प्रहार है। और भी आग्रह करने पर वह प्रमोद के अन्तर्मन पर चोट करती है। पूछने पर कि "इसमें क्या करोगी" कहती है— "क्या करूँगी यह तो अभी नहीं जानती हूँ पर पहले तो मेरे चित्त का भरम मिट जायगा कि मैं तेरी सहायता नहीं चाहती हूँ। फिर इनका छोड़ने में तेरा अपना भी भला है। मूढ़ बना और कमा कर तब इस गड्ढे में आ पड़ा कर। सुना कि नहीं। रुपये के जोर से यह नरक-कुण्ड स्वर्ग बन सकता है ऐसा तो मैं नहीं जानती। फिर भी रुपया कुछ-न-कुछ काम आ सकता है। प्रमोद (त्यागपत्रीय जज एम दयाल अभी वकील) की समझ में यह बात बिल्कुल नहीं आई। उसे टाल कर उसने मृणाल की समस्या का समाधान करना चाहा। बुआ ने यह साफ कह दिया कि बहुत-सा रुपया पाने पर भी वह प्राइवेट वार्ड में छोड़ कर चली जाने वाली नहीं है। और प्रमोद कुण्ठाग्रस्त हो चला आया। भीतर की आँखें उसने बन्द कर लीं। बुआ फिर और फिर नहीं देखा क्योंकि बुआ तो प्रतीक थी। बाहर का सारा समाज तो नरक भी रहा था। उसने सामने के स्वार्थ को देखा और बन एम दयाल गया। जैनेन्द्र के शब्दों में यह

उसकी कापुरुषता भी । परन्तु यहाँ समीक्षा यह खड़ा होता है कि इस "कापुरुष" का असली रूप क्या है ? क्या बुआ की व्यक्तिगत रूप से अस्वीकृति पत्नी और अभी की प्रतिष्ठा रखकर (क्योंकि मृणाल के प्रश्न का एक व्यक्तिगत पक्ष भी है) या अभिजात्य का न छोड़ सकने वाली असामाजिकता से रूप में जिसने समाज में गहरी खाइयाँ डाल दी हैं। इन दोनों रूपों को लेखक मृणाल के व्यक्तित्व में उलझा देता है। प्रश्न व्यक्तिगत है और सामाजिक है परन्तु लेखक दोनों भूमियों पर एक साथ चलने की चेष्टा करने के कारण अस्पष्ट कदाचित् असफल है। वह कह सकता है कि स्वयं जीवन में उलझाहट है, सब कहीं स्थूल रेखाएँ नहीं हैं। परन्तु उपन्यास जीवन का "फोटो" नहीं है, वह सृष्टा की सृष्टि नहीं है चेतन मनुष्य की रचना है जो चुन सकता है रंगों रेखाओं को उभार सकता है और "कला की चीज" दे सकता है। स्पष्ट ही ऐसी चीज जैनेन्द्र की नहीं है। सत्य का ढकाव देने का उनका आग्रह है और इस सत्य का भी उन्होंने एक विशिष्ट पात्र (जज एम० दयाल) के दृष्टिकोण से साक्षात्कार किया है। स्वयं लेखक का दृष्टिकोण कोई दूसरा है यह भी नहीं कहा जा सकता। वास्तव में लेखक एम० दयाल में डूब गया वही बन गया और एम० दयाल (या प्रमोद) का सत्य उसका सत्य बन गया।

यह कहा जा सकता है कि एम० दयाल सामाजिक वस्तुस्थिति का प्रतीक है। समाज में अभी इतना चैतन्य ही नहीं है कि वह सत्य की असली आँख को देख सके। फलतः एम० दयाल की विफलता स्वयं समाज की विफलता है। समाज अर्थ प्रतिष्ठा सामाजिकता सुविधा बड़ा-आदमीपन—इनके पीछे दौड़ता है। पुस्तक के अन्त में प्रमोद अपने से प्रश्न करता है कि बुआ की माँग उससे क्यों पूरी नहीं हुई ? क्यों मन उसने कहा नहीं माना ? क्यों उसकी मुट्ठी भिची रही ? और स्वयं ही उसने उत्तर दिया है कि वह मूढ़ था। कर्तव्य को दबाता रहा अकर्तव्य करता रहा। वह 'बुद्धिमान' था। 'मूर्ख' नहीं था। तोल-तोल कर चला और तराजू अपने हाथ में रखी। आज इस्तीफा ऐसे समय वह मूढ़ता उभर आई है और उसके महास्वर्ग और महासंताप का विषय है। कहता है 'इसीलिए आज जो तराजू है उसमें हलका तुल रहा हूँ। आज इस सारी वकालत के पैसे और बुद्धिमत्ता की प्रतिष्ठा के ऊपर बैठ कर सोचता हूँ कि क्यों मुझ से तनिक मूर्ख नहीं बना गया। इस सबको मैं क्या करूँ जब कि समय पर प्रेम के प्रतिदान से चूक गया। यह सब मैल है जो मैंने बटोरा है। मैल है, कि मेरी आत्मा की ज्योति को ढँक रहा है। मैं यह सब नहीं चाहता हूँ।" बाहर की दृष्टि से व्यक्ति का उठना यहाँ भीतर से देखने पर उसका गिरना बन गया है। इसीलिए प्रताड़ना है क्षोभ है। मनुष्य सामाजिक है यहाँ सामाजिकता की माँग को वह पूरा नहीं कर पाया वहाँ वह भीतर से कुण्ठित है। उसके जीवन की यही व्यर्थता उसे "पापी" बनाती है।

सूक्ष्म रूप से पाप-पुण्य की व्याख्या 'त्यागपत्र' में हो गई है। बुआ (मृणाल) समाज के लिए भले ही पापिष्ठा हो और उसके पाप के कारण उसके भतीज (प्रमोद से)

सामाजिक (वैवाहिक) सम्बन्ध जोड़ना चाहे सभ्य समाज के लिए कठिन हो गया हो, परन्तु सूक्ष्म दृष्टि से सुखदा पापिष्ठा नहीं है। पत्नीत्व की वेदी पर उनके "प्रेम" का बलिदान हुआ है। परन्तु जब वह उसी सूक्ष्म पत्नीत्व या सतीत्व को लेकर चलना चाहती है तो उसका बाहरी जीवन समाज के लिए अभिशाप बन जाता है। पति को तन देकर भी वह पति की नहीं हुई तो उपकारी के प्रति तन देकर वह क्यों लांछित हो गई? यह लेखक प्रश्न के रूप में समाज के सामने रखता है। प्रश्न सूक्ष्म है और कदाचित् समाधान भी सूक्ष्म होगा। धर्म सूक्ष्म है और देखने वाली दृष्टि उसमें निरन्तर सूक्ष्मता देखती रहती है। परन्तु यह समाधान क्या व्यावहारिक भी होगा? तन और मन का जैसा विभेद करते जैनेन्द्र चलते हैं वैसा क्या समाज में रहकर सम्भव है? प्रेम मन का है और विवाह तन-मन दोनों का है, मन का पहले तन का बाद में। यह दृष्टिकोण तन को छोटा करता है और उसे इतनी सामान्य वस्तु बना देता है कि कोई नारी उपकारी के प्रति द्रवित होकर उसे असंकुचित भाव से दे-देती है। यह स्पृहणीय स्थिति नहीं है। स्वयं जैनेन्द्र भ्रम में पड़ जाते हैं जब प्रमोद कोयले वाले को अन्य पुरुष कहता है और मृणाल उसे पर-पुरुष मानने से इंकार करती है।— "प्रमोद इसी से कहती हूँ कि जब तक साथ है तब तक वह पुरुष अन्य नहीं है। मेरा सब उसका है। उसकी सेवा में मैं त्रुटि नहीं कर सकती। पतिव्रत-धर्म तो नहीं कहता है।" (पृ ५७) यहाँ कोयले वाले के प्रति पतिव्रत धर्म की व्याख्या की गई है। क्या यहाँ केवल तन का योग है मन का नहीं है? फिर यह पतिव्रत कैसे हुआ? और यह पतिव्रत हुआ तो जिससे विवाह हुआ उसके प्रति पतिव्रत क्या हुआ? कदाचित् इसी से सिद्धान्त बना कि पैसा लेकर तन देना वेश्यापन है। यों ही देना सतीत्व है कम-से-कम वेश्यापन नहीं है। यह स्पष्ट है कि यह असंगति है तर्क की अति सूक्ष्म विस्तृति है जो सत्य को छोड़ जाती है। फलतः मृणाल के सतीत्व (पत्नीत्व) का महल कच्ची नींवों पर खड़ा होता है और ढह जाता है।

स्वयं लेखक ने सामाजिक मन्तव्य को बली नहीं होने दिया है। मृणाल कहती है— "मैं समाज को तोड़ना-फोड़ना नहीं चाहती हूँ। समाज टूटी कि फिर हम किसके भीतर बनेंगे? या कि किसके भीतर बिगड़ेंगे? इसीलिए मैं इतना ही कर सकती हूँ कि समाज से अलग होकर उसकी मंगलाकांक्षा में खुद ही टूटती रहूँ।" जैनेन्द्र का जीवन उनके दर्शन और समाज के प्रति विद्रोह की भावना के बीच में आ जाता है और यही बात उनके मन्तव्य को क्रान्तिकारी नहीं बनने देती। यह केवल सूक्ष्म तार्किक या दार्शनिक ऊहापोह मात्र रह जाता है। क्योंकि तन के पीछे ईश्वर है जो तन की स्थिति को बनाए रखता है। यही सामाजिक सदाचार को भी सहनीय बनाता है। इस प्रकार मूल में क्रान्तिकारी होते हुए भी जैनेन्द्र की यह रचना यथास्थितिवादी बन जाती है। परम-पुरुष के निश्चय पथ पर उनके पैर ठहर नहीं पाते। समाधान न देकर वह ऐसा समझौता देते हैं जो मनुष्य के कर्तृत्व को कुण्ठित कर देगा और उसे भाग्यनिष्ठ बना देगा। स्पष्ट ही

जैनेन्द्र समाज के दो वर्ग मानते हैं एक, समाज की प्रतिष्ठा क़ायम रखने का जिम्मा जिस पर है। दूसरा जिसे जीवन के साथ प्रयोग करने की छूट हो सकती है। इसकी आधार-भूमि कुछ नहीं है अतः वह अपने को खो सकता है नये प्रयोग में अपने को खपा सकता है। समाज के स्थायित्व के लिए पहला वर्ग अनिवार्यतः चाहिए और इसी से मृणाल नहीं चाहती कि प्रमोद समाज से विद्रोह कर असामाजिक बने। वह आत्मपीड़ा के द्वारा समाज को शुद्ध करने का नया प्रयोगी जीवन जीती है। इसे ही मृणाल की समस्या का जैनेन्द्रीय अहिंसात्मक समाधान कहा जा सकता है जो जैनेन्द्र की सूक्ष्म तर्क पद्धति पर ठीक उतर कर भी सामाजिक व्यावहारिक और स्थूल सत्य की दृष्टि से वंदनीय नहीं है। समाज से विद्रोह भी नहीं होगा उसके मंगल की भावना लिए नये प्रयोग में खप जाना होगा आत्मा का जीवन जीना होगा परन्तु उसका बोझ दूसरे पर नहीं डालना होगा। यह दुरूह धारा है। परन्तु क्या मृणाल इस पर चलने में समर्थ है या उसके लिए उपन्यासकार ने ऐसी कोई भूमि तैयार की है, या इस नये प्रयोग की प्रयोग से अलग और प्रयोग से अधिक कुछ सार्थकता है?

२

'त्यागपत्र' का व्यक्तिगत मन्तव्य

"त्यागपत्र" का व्यक्तिगत मन्तव्य मृणाल और प्रमोद (बुआ और भतीजे) के व्यक्तिगत सम्बन्धों को लेकर चलता है। यह व्यक्तिगत सम्बन्ध अवैध प्रेम का ही सम्बन्ध है यद्यपि लेखक ने इसे छिपाने की पूरी चेष्टा की है। इस प्रेम के प्रारम्भ में कैशोर की रहस्यमयता अस्पष्टता और भावुक प्राबल्यता है। कम-से-कम जहाँ तक मृणाल का सम्बन्ध है यही अनुमान ठीक लगता है। प्रमोद मृणाल से कई साल छोटा है और वह बुआ मृणाल की भावना को समझ ही नहीं पाता। परन्तु स्पष्ट आभास यह मिलता है कि मृणाल प्रमोद के प्रति अवैध भावना को जानती है, जान कर भी उसे प्रकट नहीं करती छिपाती है और उसमें शीला के भाई का अस्पष्ट आरोप भी करती है। कदाचित् मृणाल का स्खलन नारी के कड़े अनुशासन का फल था। प्रमोद कहता है, "बुआ का उस का रूप सोचता हूँ तो दंग रह जाता हूँ। ऐसा रूप कब किसको विधाता देता है? जब देता है तब कदाचित् उसकी क़ीमत भी वसूल कर लेने की मन-ही-मन नीयत उसकी रहती है। पिताजी तो बुआ की मोहिनी सूरत पर रीझ रीझ जाते थे। बुआ मनीज की बहुत बनती थी। जब बुआ ठहाका मार कर हँसती तो भतीजा प्रमोद देखता रह जाता।" उस समय मुझे कहानी की परियों का ध्यान हो आता और मैं मुग्ध भाव से अपनी बुआ की ओर आकृष्ट हो रहता। यह कैशोर प्रमाद बढ़ता ही गया। पतंग की बात करते हुए प्रमोद को अकस्मात् अंक में भर कर बुआ कहती 'हम तुम दोनों संग-संग पतंग उड़ायेंगे। ऐसी उड़ायेंगे कि बहुत दूर। सबसे ऊँची सबसे ऊँची। उड़ायेंगे पतंग।" मृणाल बुआ नहीं बनना चाहती। कहती है, "मैं बुआ नहीं होना

चाहती। बुआ। कि! देख चिड़िया कितनी ऊँची उड़ जाती है! मैं चिड़िया होना चाहती हूँ।" प्रमोद ने पूछा "चिड़िया!" बोलीं "हाँ चिड़िया। उसके छोटे-छोटे पंख होते हैं। पंख खोल वह आसमान में जिधर चाहे उड़ जाती है। क्यों रे, कैसी चीज है! नन्हीं-सी चिड़िया नन्हीं-सी पूँछ। मैं चिड़िया बनना चाहती हूँ।" उस रोज रात को वह मुझे बहुत देर तक अपने से चिपटाये रहीं। पूछने लगीं— 'प्रमोद तू मुझे प्यार करता है।' सुनकर बिना कुछ बोले मैंने अपना मुँह उनकी छाती के वासने में और दुबका लिया। इस पर वह बोलीं "प्रमोद मैं तुझे बहुत प्यार करती हूँ।" यहाँ बुआ स्पष्ट रूप से शीला के भाई का आरोप प्रमोद में करना चाहती है और इसीलिए प्रमोद से चीजें कहलाना चाहती है। यह स्पष्ट ही यौन भाव है।

बुआ का विवाह हो गया परन्तु चौथे रोज वह लौट आईं। फिर फूफा आये और लिवा ले गये। अब की बार लौटीं तो खिन्न थीं। प्रमोद अब बड़ा हो गया है। बुआ की खिन्नता के कारण को नहीं समझता पर खिन्नता को समझता है। जाने की बात को लेकर बुआ भतीजे में जो वार्तालाप होता है वह यौन भावना से खाली नहीं है यद्यपि वह अस्पष्ट भी काफी है। बुआ साफ कहती है कि वह उसके साथ रहना चाहती है और पूछती है कि रखेगा और उसकी ओर ऐसे देखती है कि वह झेंप जाता है और अन्त में उसे खींच कर अपनी गोद में ले लेती है और उसे बेंतों से पीटना चाहती है। बुआ की इस ढंग से कही बातें प्रमोद समझ नहीं पाता परन्तु यहाँ बुआ की आत्मपीड़न भावना स्पष्ट है जो अतृप्त यौवन का ही रूपान्तर है। बुआ ने अभी से अपना मार्ग खोज लिया है और इस समय बुआ भतीजे में कुछ ऐसी बातें होती हैं जो उस बात का केन्द्र है और उन्हीं में नाटकीयता अन्तर्हित है।

"अच्छा एक बात बता। तू बड़ा हो जायगा तब मैं बुलाऊँगी तो तू आयगा?"

"जरूर आऊँगा।"

"कैसी भी हालत में हूँ तू आयगा?"

"हाँ आऊँगा।"

"तो सुन मैं कहती हूँ तू नहीं आयगा। मुझे बुलाऊँ भी ही नहीं। कहती हूँ तुम सब लोग मुझे भूल जाना। मैं जैसी गई वैसी गई। इसके बाद मैं तुम लोगों को बिलकुल तकलीफ नहीं दूँगी।"

बड़े होने पर किशोर अभिमानस्य भावना से ग्रसित होने के कारण झूठी प्रतिष्ठा का बोझ ढोता रहा और बुआ के काम नहीं आ सका। यही ग्लानि 'त्यागपत्र' के मूल में है।

फूफा के प्रति विरोध का कारण भी प्रमोद की अस्पष्ट यौन भावना का सूचक है। उसने जान लिया है कि बुआ फूफा से प्रसन्न नहीं हैं। उसे कुछ ऐसा लग रहा था कि केशहीन मोटूक वह यह जबरदस्ती नहीं होने देगा। फूफा नहीं ले जा

सकेंगे। इस पर विचित्र भाव में देख कर बुआ उसे बच्चा कहती है जिसमें प्रमोद की किशोर-भावना प्रताड़ित हो उठती है। उसे क्रोध आ जाता है और वह कहता है "हाँ बच्चा हूँ और मैं कुछ नहीं जानता। लेकिन एक बार तुम कुम कर कह दो कि तुम नहीं जाना चाहती हो तो मैं देख लूँगा कौन फूफा है जो ले जाते हैं। तुम क्या समझती हो कि मैं कुछ नहीं हूँ।" बुआ जब धीरे से कहती है कि उनका कोई नहीं प्रमोद उनके कण्ठ से लग कर कहता है—"मैं नहीं हूँ मैं नहीं हूँ।" बुआ उसे आलिंगन में बाँध कर कहती है—"तू है भैया तू ही तो है।" इसके बाद फूफा के आने पर बालक प्रमोद पुरुष होने का अभिनय करता है और अपने विलोम को प्रकट कर देता है (देखिये पृ० १२ १३)।

इसके बाद की कथा प्रमोद की कोशा का विषय है। बुआ की कोशा और निर्वासन की कहानी पहले उसने उत्साह के साथ सुनी फिर धीरे-धीरे उत्साह शान्त हो गया और जीवन उस कहानी को स्वीकार कर सहज गति में चलने लगा। थोड़े दिन बाद पिता का देहान्त हो गया। वह एफ० ए० पास करके बड़े शहर में पढ़ने लगा। तारुण्य का प्रारम्भ था। यूनिवर्सिटी जा रहा था कि बुआ वाले लालिमनगर के स्टेशन का बोर्ड देख कर उतर पड़ा और बुआ को ढूँढ़ निकाला। तब बुआ कायस्थ बाल के साथ रह रही थीं। तारुण्य में भावना का बल होता है। हम करना चाहते हैं। व्यवहार देख कर चलना नहीं चाहते। जैनेन्द्र ने प्रमोद के इस भाव को यों चित्रित किया है "मुझे मालूम हुआ कि उनकी आँखें ज़्यादा ऊपर उठती नहीं हैं। मेरा जी इस पर बेहद भस्म था। चाहता था कि उन्हें बतला दूँ कि मैं प्रमोद हूँ। और तुम भी तो बुआ वही-की-वही बुआ हो। क्या नहीं?" वह बताना चाहता है कि वह बी० ए० में पढ़ रहा है, अभी यूनिवर्सिटी से आ रहा है और उसका उद्धार कर सकता है। यहाँ से कथा सामाजिक मोड़ लेती है और मृणाल तन-मन का अपना रहस्यमय फामूला लेकर सामने आती है जो प्रमोद की समझ में नहीं आता कि जिसको तन दिया उससे पैसा कैसे लिया जा सकता है, यह मेरी समझ में नहीं आता। तन देने की ज़रूरत मैं समझ सकती हूँ। तन दे सकूँगी। शायद वह अनिवार्य हो। पर लेना कैसा? दान स्त्री का धर्म है। नहीं तो उसका और क्या धर्म है? उससे मन माँगा जायगा तन भी माँगा जायगा। सती का आदर्श और क्या है? पर उसकी बिक्री—न न यह न होगा।"

इस परिस्थिति में प्रमोद के मन में जिस द्वन्द्व को जन्म दिया वह उपन्यास का प्राण है और लेखक ने विस्तारपूर्वक उसे अंकित किया है (पृ० ७०-८)। बुआ के अनजाने कमरे में झाड़ू लगाने का प्रयत्न बुआ को सहारा देने का ही प्रच्छन्न भाव है। इसमें उसके अपने मन की करुणा है। बुआ की वह कोई सहायता नहीं कर सका मन का यही धिक्कार उसके हाथ में झाड़ू पकड़ा देता है। इसमें ही वह अपनी रक्षा समझ लेता है। यहाँ से व्यक्तिगत मन दब जाता है और सामाजिक मन उभर आता है। स्वयं बुआ

उसके मन के इस छोटेपन को दूर कर हट जाती है। वह नहीं चाहती कि मृणाल उससे सम्बन्ध रखे। उसके अभिजात्य को वह लांछित नहीं करना चाहती। प्रमोद इस पर कहता है "बुआ मैं अब नहीं आऊँगा। मैं सहायता का मन लेकर आया था। देखता हूँ सहायता कोई नहीं लेता है। बस अब मैं नहीं आऊँगा।"

बुआ का दर्शन यहाँ स्पष्ट है। वह सहायता लेगी तो भतीजे प्रमोद की परन्तु ऊँची अभिजात्य भावना को तो हरायेगी ही। प्रतिष्ठा उसे क्यों चाहिए? कहती है 'प्रमोद सहायता की मैं भूखी नहीं हूँ क्या? तुमसे ही वह सहायता न लूँगी तो किससे लूँगी? लेकिन सहायता का हाथ देकर क्या मुझे यहाँ से उठा कर ऊँचे वर्ग में बिठाने की इच्छा है? तो भाई मुझे माफ कर दो। वैसी मेरी अभिलाषा नहीं है। सहायता मुझे इसलिए चाहिए कि मेरा मन पक्का होता रहे कि कोई मुझे कुचले तो भी मैं कुचली न जाऊँ, और इतनी जीवित रहूँ कि उसके पाप के बोझ को भी लेलूँ और उस के लिए क्षमा की प्रार्थना करूँ। प्रतिष्ठा मुझे क्यों चाहिए? मुझे तो जो मिलता है उसी के भीतर सान्त्वना पाने की शक्ति चाहिए।"

परन्तु बुआ की व्यथा प्रमोद में घर कर गई। मिलने का प्रयत्न किया परन्तु मिल नहीं सका। बुआ का पता नहीं लगा।

इसी समय विवाह की बात चलती है और इसलिए कि बुआ ही इस परिवार में रुपटर है। अब की बार भतीजा सच का पल्ला पकड़ना चाहता है और बुआ के सम्बन्ध को बता कर अपनी प्रतारित अभिजात्य चेतना को सन्तुष्ट करना चाहता है। फलतः शादी टूट जाती है और बुआ को एक बार फिर घर छोड़ देना होता है। परन्तु क्या सच ही प्रमोद इस विवाह-सम्बन्ध को तोड़ना नहीं चाहता था? क्या बुआ को लेकर उसके मन में केवल सामाजिक प्रश्न था या एक व्यक्तिगत प्रश्न भी था। यहाँ भी प्रमोद की आन्तरिक भीरुता ही सामने आती है, कि लोग क्या कहेंगे। अन्त में बुआ के सम्बन्ध की स्वीकृति क्या एकदम सामाजिक सत्य की स्वीकृति है क्या वह अपने को ही छलना नहीं है।

इस प्रेम की अनैतिकता के साथ बुआ के मन का उन्नायक भी लक्षित है। बुआ मृणाल भतीजे को गिराना नहीं चाहती स्वयं गिरकर भी उसे ऊपर देखना चाहती है। यही क्या प्रेम का आदर्श नहीं है? इस स्थिति को अत्यन्त नाटकीयता से जैनेन्द्र ने व्यञ्जित किया है जहाँ उन्होंने बुआ के प्रथम समर्पण में उतरने का रूपक बाँधा है (पृ० ७१ ८)। यह भी स्पष्ट है कि पुस्तक के अन्त में लेखक ने बलपूर्वक मन्तव्य को आध्यात्मिक बनाने का प्रयत्न किया है और इस प्रयत्न में एक अतीन्द्रिय रहस्यमय आदर्शवाद की सृष्टि की है। बुआ मृणाल को आस्तिकता और परम तप का प्रतीक बनाकर जहाँ पत्नी-धर्म की पराकाष्ठा उनमें चित्रित की गई है वहाँ दलित-पतित सामाजिक स्थिति से पूर्ण (समाज-बहिर्भूत) प्राणियों के लिए उनके मन की चिन्ता को उभार कर उन्हें

सामाजिक नेतृत्व देने का भी प्रयत्न किया गया है। इस नेतृत्व की योग्यता उसमें कहाँ तक थी यह नहीं कहा जा सकता। परन्तु पांचाली का पतिव्रत गान्धी का तप और युधिष्ठिर का कुत्ते के प्रति त्याग मृणाल में चरम सीमा को पहुँच गये हैं। इसे हम जैनेन्द्र की अहिंसा की मानवीय व्याख्या कह सकते हैं। उस एक दृष्टि से अतिमानवीय भी कहेंगे। उसका वैयक्तिक पक्ष जो भतीजे प्रमोद के प्रति उसकी अस्पष्ट यौन भावना को लेकर चलता है पीछे छूट गया है। मृणाल-प्रमोद की यौन-स्थिति राधा-कृष्ण की स्थिति से भिन्न नहीं है और अतीन्द्रियता उसमें काफी है। पर अतीन्द्रियता में भी कला कहीं भीतर होने से इन्द्रिय-भाव सिमटा नहीं बैठा है। राधा-कृष्ण के मनोभावों को साहित्य रसिक अभी तक नहीं समझ सके हैं। मृणाल-प्रमोद को भी क्या समझ सकेंगे? दोनों दो विभिन्न युगों की सम्प्र-भूमियाँ हैं जो अपने तप त्याग और भीतर की पीड़ा से हमें प्रभावित करती रहेंगी। "त्यागपत्र" पढ़ने के बाद क्या मृणाल के प्रति हमारी सहानुभूति नहीं जागती? परन्तु वह सहानुभूति निष्क्रिय है। उसमें कर्तव्य का स्थान नहीं है। फलतः पाठक क्षुब्ध भी कम नहीं होता। बुआ के पतिव्रत और समाज-भय के आत्यन्तिक सूक्ष्म भाव ने प्रमोद को स्पर्श किया था और पकड़ में न आने वाली यह सूक्ष्मता पाठक को भी क्षुब्ध कर देती है।

प्रश्न यह होता है कि क्या प्रमोद ने अपने को छला और क्यों छला? अपने प्रति वह सच्चा क्यों नहीं बन सका? इसमें दोषी कौन है? प्रमोद? बुआ? या समाज? उपन्यास में जो जीवन रस हमें मिलना चाहिए, वह जब नहीं मिलता तो हम किसे जवाबदेह बनाएं? सच तो यह है कि पहले बुआ ने अपने को छला है फिर प्रमोद ने परन्तु बुआ के व्यक्तित्व के प्रति लेखक की सहानुभूति होने के कारण वह तेजोमयी बना दी गई थी यद्यपि उसकी तेजस्विता इस धरती की तेजस्विता नहीं है। सारा का सारा उपन्यास में मृणाल का ही ढोला पड़ रहा है। परन्तु क्या मृणाल के चरित्र को अमानवीय या अतिमानवीय बनाकर लेखक अपने को नहीं छलता? अतिमानवीयता पुराण-कथाओं का विषय है आदर्शवादी साहित्य में भी वह कुछ दूर तक चल पाई है, परन्तु आज की यथार्थवादी मनःस्थिति से उसका मेल नहीं बैठता। सच तो यह है कि "त्यागपत्र" में परिस्थितियों (घटनाओं और उनके प्रति प्रतिक्रियाओं) के सूत्र जैनेन्द्र की दार्शनिकता के हाथ में हैं। उन्होंने जीवन की अबूझ रहस्यमयता, नियतिवादिता और मानव प्रयत्नों की निष्फलता को चरम सत्य मानकर एक निराशावादी निष्क्रिय जीवन-दर्शन का निर्माण किया है और पात्रों को उसके निर्मम हाथों में सौंप दिया है। यह प्रयत्न औपन्यासिकता को नष्ट कर देता है और पाठक में क्षोभ और असहायता की सृष्टि करता है। सामाजिक प्रगतिशीलता अथवा क्रान्ति के सन्देश के साथ (जो अस्पष्ट रूप से अन्तिम पृष्ठों में अन्तर्निहित है) इस कर्मसंन्यासवादी निष्क्रियतावादी (या पलायनवादी) जीवन दर्शन की पटरी नहीं बैठती। इसी से घटनाओं और उनकी प्रतिक्रियाओं एवं चरित्रों की

७

कल्याणी

कल्याणी जैनेन्द्र का परम्परागत ढंग का उपन्यास है। इस उपन्यास में उन्होंने वस्तु को पुराने ढंग पर संगठित किया है और उसमें पर्याप्त नाटकीयता रखी है। यद्यपि नाटकीयता के इस आग्रह के कारण उसमें अस्पष्टता और रहस्योन्मुखता भी आ गई है। फिर भी कथा सुन्दर रूप से संगठित है और उसे यों ही खुले नहीं दिया गया है। जो धारा है सम्पूर्ण रूप से लक्ष्य को दृष्टि में रख कर। अन्य उपन्यासों में वस्तु संगठन का यह आग्रह नहीं है, वहाँ कहीं तो कथा नाम मात्र को है जैसे "सुनीता" में। जो होता है वह मन में होता है। यहाँ भी भाव जगत् ही प्रधान है परन्तु वस्तु तत्व भी है —कि कल्याणी पीसी जाती है उससे सब सहानुभूति और डा० असरानी कुछ कराना चाहते हैं जिससे स्पष्ट ही धन की उपलब्धि हो। कथा १९३८-३९ की कांग्रेस मिनिस्ट्री की पृष्ठभूमि लेकर चलती है और प्रान्त के प्रीमियर (जो कभी प्रान्त के प्रसिद्ध नेता थे) कल्याणी के दवाखाने के नामचीन विजिटों के मित्र हैं। इस प्रकार कथा में कलात्मक तत्व काफी है। वस्तु तत्व बराबर गुम्फित है और स्वयं कल्याणी का भाव-संघात व्यंग्य ही है। उसके हृदय का तनाव स्पष्ट रूप से सुनाई नहीं पड़ता पाठक को प्रयत्न करना पड़ता है।

वस्तु को नाटकीयता देने के लिए कथा की रेखाएं आगे-पीछे कर दी गई हैं। यदि उन्हें कालक्रम से संगठित किया जा सके तो कथा इस प्रकार है। कल्याणी महत्वाकांक्षी युवती है। इंग्लैंड में डाक्टरी पढ़ने आई है। वहीं अब प्रीमियर बनने वाले महाप्राण (तब तरुण) से उसकी भेंट हो जाती है और वह अपने हृदय का अन्यतम भाव उसे समर्पित कर देती है। वह उससे परिणय के सूत्र में नहीं बंध पाती और भारत लौटने पर डा० असरानी की धूर्तता का शिकार हो जाती है। डा० असरानी का वस्तु रूप स्पष्ट रूप से खलनायक का वस्तु रूप है जो परम्परागत उपन्यासों की विशिष्ट वस्तु है। स्वयं जैनेन्द्र के अन्य उपन्यासों में खलनायक की स्थिति नहीं है। डा० असरानी कल्याणी से विवाह करना चाहते हैं परन्तु कल्याणी जैसी उच्च परिवार की कन्या और शिक्षाप्राप्त युवती को (जिसका मन कहीं और बंधा है) पाना उनके लिए आकाश-कुसुमवत् है।

फलतः वह प्रबन्ध रचते हैं और उसे बरबाद कर देते हैं। अन्त में लोक-मर्यादा से विवश होकर कल्याणी को अपने को इस धूर्त व्यक्ति को सौंप देना होता है। यह कल्याणी की दुर्बलता है कि वह नई स्थिति का सामना नहीं कर सकी या समाज की विभीषिका है, या नियति का क्रूर चक्र यह नहीं कहा जा सकता परन्तु कल्याणी अब मिसेज डाक्टर असरानी है। परन्तु उसका संघर्ष यहीं समाप्त नहीं होता। समाप्त यहाँ हो जाता तो शायद कहानी ही नहीं बनती।

कल्याणी धीरे-धीरे डा० असरानी की धूर्त प्रवृत्तियों से परिचित हो जाती है। वह रायसाहब के साथ कुचक्र में है। रायसाहब अमीर हैं परन्तु बदनाम हैं। परन्तु उनसे सम्बन्ध रखकर डाक्टरी में अभिवृद्धि हो सकती है। अतः डा० असरानी उनका सहारा लेते हैं। एक अस्पताल खोला जाता है। डाक्टर की चलती नहीं इसलिए डाक्टरी मिसेज द्वारा चलाई जाती है।

कल्याणी के हृदय में विद्रोह का जन्म होता है परन्तु वह खुलकर विद्रोह नहीं कर पाती। डा० असरानी के ऊपर से बने-सँवरे अभिमानपूर्ण व्यक्तित्व और समाज की छलनामयी स्थिति के कारण ऐसा असम्भव है। परन्तु कल्याणी अपना स्वतन्त्र जीवन जीना चाहती है। भीतर के दर्द को दबा कर रखना जब असम्भव हो जाता है तो वह कविता के द्वारा अपने हृदय की व्यथा निकालने लगती है। कुछ प्रसिद्धि भी होती है परन्तु जब डा० असरानी इसी को "प्रोपैगेण्डा" का अस्त्र बनाकर पब्लिसिटी करने का ढोंग रचते हैं तो उससे सहा नहीं जाता। वह कविता की कापी फाड़ देती है और फिर कविता ही नहीं लिखती। डा० भटनागर के शब्दों में वह अपने जीवन की स्वतन्त्रता प्राप्त करना चाहती है—कि हँसे-खेले खेल-कूदे अपना जीवन जिये। परन्तु इससे डा० असरानी में ईर्ष्या जाग्रत होती है और वह कल्याणी के चरित्र पर शंका करने लगते हैं। एक दिन वह कल्याणी से जबरदस्ती भाषण दिलाना चाहते थे परन्तु कल्याणी भटनागर के यहाँ जाकर जान-बूझकर देर कर देती है और बीच सड़क पर मूर्छित गिर जाती है। डाक्टर उसे इतना मारता है कि उसे कई सप्ताह तक भीतर पड़े रहना पड़ता है परन्तु उपन्यास के प्रवक्ता वकील साहब से वह कहता है कि पत्नी मैके गई है और रहस्य खुल जाने पर भी अनुचित भाव से अपने को न्याय के पथ पर मानकर चलता है। अन्त में डाक्टरी का काम कल्याणी को सौंप कर वह कराची चला जाता है और कल्याणी को साँस लेने का अवकाश मिलता है। बीच में कल्याणी ने धर्म के निबाहना चाहा वह धार्मिक नरक बन गई परन्तु जब पति यहाँ भी उसके व्याख्याता बन जाते हैं तो उसकी आत्मा चीत्कार कर उठती है। यहाँ पहली बार नारी का विद्रोह मुखरित होता है। जैनेन्द्र के शब्दों में वह पति की ओर मानो चीखकर पूछ उठती है "तुम साफ-साफ यह क्यों नहीं देते हो कि तुम क्या चाहते हो? मुझे छिन्न-भिन्न कर देखना चाहते हो—सो वह हो तो रहा है। आखिरी साँस तक मेरा बिक जायगा तब भी मैं इंकार नहीं

करूँगी। लेकिन इसके बाद तुम मुझे अपनी तरह रहने क्यों नहीं देते हो ? अच्छा तो मैं अभी अपनी सब मूर्तियाँ तोड़ देती हूँ। बस ! इससे तो तुम्हें चैन पड़ेगा ?"

प्रश्न यह है कि यह सब कल्याणी सह कैसे गई ? कल्याणी कहती है आत्म भावना द्वारा डाक्टर के काले दुष्कर्मों को उपेक्षा करके दिखाना चाहती है परन्तु मन का विद्रोह छिपा नहीं रहता। ऐसा कई बार चलता है। सब सहकर कल्याणी सहने का एक दर्शन भी बना लेती है जो 'त्यागपत्र' की मृणाल के दर्शन का पूरक है उसी कोटि का है। मृणाल अपने को समझती है परन्तु वह सुशिक्षित नहीं है सामान्य है। कल्याणी विदाम्बरी है अतः वह आत्मपीड़न को छिपा भी जाती है। जो स्त्री-स्वातंत्र्य (—कि स्त्री अपना जीवन जीने के लिए स्वतंत्र हो) उसके भीतर उमड़ रहा है उसी को जबर वह अपने दो सिरों में लेती है। वह सनातन का पल्ला पकड़ती है परन्तु वह ज्ञान का संबल है। भीतर के अर्थ में भाव का पल्ला पकड़ा है जिस पर उसका वश नहीं है। हृदय को दबा कर चलने के प्रयत्न में वह टूट जाती है। अपने इस द्वैध व्यक्तित्व को वह समझ नहीं पाती। वह अपने भीतर भारतीय नारी के सतीत्व के सनातन आदर्श को पल्लवित देखना चाहती है न मिलने पर कष्ट पाती है परन्तु पति की छलना का भार ढोने में भी वह असमर्थ है। नारी के सनातन और नवीन रूप का द्वन्द्व उस भीतर-ही भीतर तोड़ देता है। उसे न स्वातंत्र्य जीवन की उपलब्धि होती है न पतिपरायणता की।

डाक्टर चले गये हैं। करांची में कुछ रोजगार करेंगे। वहाँ उन्होंने एक कान्ता रख रखा है जिसका पता कल्याणी को लग जाता है परन्तु वह पति नाम के प्राणी की मनोविवशता को भी आँख की ओट करके चलना चाहती है। इधर कल्याणी का भाव-बोध पति के दुर्व्यवहार का बदला लेने के लिए एक प्रतीक की खोज कर लेता है। वह प्रतीक मनोवैज्ञानिक सूझ की उपज है, परन्तु उससे कल्याणी के व्यक्तित्व के दुर्बल पक्ष की भी झाँकी मिलती है। वह अपने सपन में किसी महाराष्ट्रीय युवती के प्रेत का भाव पाती है। पति ने गला घोंटकर उसकी हत्या कर डाली है और वह प्रतिकार चाहती है। जिस व्यक्ति ने हत्या की है उसे भी मानस प्रतिच्छाया के रूप में कल्याणी देख लेती है। परन्तु एक आश्चर्य की बात यह है कि वह अपने वास्तविक जीवन में ही इस व्यक्ति को ढूँढ लेती है और इस स्त्री की हत्या का बदला लेने के बहाने उसके प्रति आकर्षित होती है। यह मि० देवलालीकर है सिनेमा-प्रोप्राइटर, मद्रास। पता लगता है यह इस मकान में रहे भी हैं। कल्याणी देवलालीकर से स्त्री हत्या का बदला लेने के लिए डट जाती है और उसके लिए अपने व्यक्तित्व यानी सतीत्व को भी बेचने को तैयार है। वह कल्याणी का उन्माद नहीं है। एक तो वह अपनी स्वतन्त्रता दिखाना चाहती है। कहती है "मैं अपने सर्वनाश से डरती नहीं हूँ। मुझपर स्वामी नहीं है। मैं आप अपनी स्वामिनी हूँ। मैं चाहूँ तो कौन मेरा नरक रोक सकता है। दूसरे, सब ओर से उसका सहारा टूट गया है और टूटे हुए व्यक्तित्व के सर्वनाशी और स्वनाशी दर्शन को लेकर वह चलती है।

उसकी यह स्वीकारोक्ति लीजिए, "धर्म भी किया है पर करके देख लिया है। उससे क्या हुआ? तबियत होती है कि सब फाड़ दूँ, सब फेंक दूँ। मैंने ईश्वर में विश्वास किया है। मैं उसकी राह चली बस यहीं तक चली। चलते चलते मेरे सामने पड़ते हैं, यह देवसासीकर। बचकर मैं कहाँ जाऊँ? उनके सामने और राह मुझे बन्द है। ईश्वर की राह पर अनीश्वरता मिलती है तब मैं क्या करूँ? इससे अब मैं कहती हूं कि अच्छा यही हो। मैं भी अब और कुछ नहीं चाहती। मैं निराशी नहीं हूँ। मेरा मन कांपता है, मैं लाचार हूँ। जो कहा ही करूँगी। मैं सब भूल जाना चाहती हूँ। मैं नफरत करना चाहती हूँ। अपने से सब से। ईश्वर प्रेम है और प्रेम प्रवंचना है। इससे ईश्वर प्रवंचना है।"

इस बीच में यह दिखाने के लिए कि डा० कल्याणी उन्मादग्रस्त नहीं है पाल नाम के इंग्लैंड के विद्यार्थी-जीवन के परिचित क्रान्तिकारी को संरक्षण एवं सहायता देने और पुलिस की चुनौती स्वीकार करने की कल्याणी की तत्परता दिखलाकर जैनेन्द्र उसके जीवन में एक आदर्श-पक्ष भी लाना चाहते हैं और इससे उन्हें कल्याणी की प्रगतिशीलता उसके साहस उसकी देशकल्याण भावना और उच्च चरित्रमयता को प्रदर्शित करने का मौका मिल जाता है। यहीं तक हम कल्याणी के जीवन-संघर्ष का पूर्वार्द्ध देखते हैं।

परन्तु पुराना प्रेमी प्रीमियर बन कर दिल्ली आ रहा है और रायसाहब से मिल कर डा० असरानी दिल्ली में एक "तपोवन" बनवा रहे हैं जिसका उद्घाटन प्रीमियर करेंगे। नई कोठी दिल्ली में ली गई है और प्रीमियर वहीं ठहरेंगे। इससे डेढ़-दो लाख रुपये के कन्ट्रैक्टों की व्यवस्था हो सकेगी। कल्याणी की आत्मा भले ही धिक्कारे, उसे ही इस प्रपंच के केन्द्र में रखा गया है। उसे प्रेम की बलि ही नहीं देनी पड़ी है उस प्रेम का व्यवसाय भी करना होगा। पति नाम का यह घृणित प्राणी उसके प्राणों का प्रेम का सतीत्व का नारी-धर्म का इस प्रकार सौदा करना चाहता है। कल्याणी के लिये यह अकल्पित है। पहले तो भावना में भर कर वह उसे त्याग तपस्या और कल्पना की भूमि देना चाहती है परन्तु उसे कितना नीचा उतरना होगा यह वह जानती है। पेट में गर्भ है। परन्तु जिसका वह गर्भ है वह पति होने पर भी क्या घृणित नहीं है? क्या नारी को इसीलिए यह भार ढोना होगा कि विवाह व्यवस्था है और उसे एक बार स्वीकार कर लेने पर मुक्ति नहीं है? कल्याणी भीतर घुल जाती है। उसका मन भर आता है। उसके प्रेम की हत्या इसमें है। फिर वह पेट के शिशु को क्यों बचाये? प्रीमियर को इसे दे क्यों? क्या यह अपने प्रेम की मूर्ति पर आघात करना नहीं होगा?

प्रीमियर वाली भेंट के प्रसंग को जैनेन्द्र ने सुन्दरता से निभाया है। यहाँ प्रेम की व्याख्या भी की है और तभी प्रीमियर के रूप में प्रेम के निष्काम परिपक्व सौम्य परन्तु कर्मोन्मुख (सब्लिमेटेड) नहीं दमित रूप का चित्रण भी उसमें किया है। एक नया चरित्र

सामने आता है परन्तु यह चरित्र भी जैनेन्द्र के प्रेम-दर्शन का विकास ही है। प्रीमियर को दिल्ली में तीन दिन रहना है, परन्तु वह उसी सांझ को चले जाते हैं और तिरस्कार से भर कर भीतर भीतर भीतर बाधाग्रस्त परन्तु मौन कल्याणी टूट जाती है। अन्तिम तीन अध्यायों में वह कल्याणी का टूटना ही चित्रित है। यह टूटना वैसा ही है जैसा किसी क्षयग्रस्त रोगी का धीरे-धीरे घुल-घुलकर मर जाना। बालक को कल्याणी जन्म तो दे देती है परन्तु न वह स्वयं बच पाती है, न नवजातक।

डा० असरानी और राय साहब अन्त तक कुचक्रों में लगे हैं। वे सफल हुए हैं या कदाचित् प्रीमियर ने पुराने प्रेम को ध्यान में रखकर या ओछी ग्लानि में भरकर लूटने भर के लिए उन्हें ठेका दिलवा दिया है और ये दोनों उनके लिए डिविडेंड्स चुनने की तैयारी में हैं। परन्तु कल्याणी की आँखों में स्वयं अपना मूल्य गिर गया है। वह बचती नहीं। अपने तिरस्कारपूर्ण जीवन को वह बचाना भी नहीं चाहती।

परन्तु दुनिया तो दुनियादारों की ही है और सारी कथा की भूमिका में जो पहले अध्याय के दो पृष्ठों में ही सिमट गई है जैनेन्द्र यह बतला देना चाहते हैं कि डा० असरानी का कुचक्र जारी है, उन्हें अब कल्याणी के बच्चों को पालना है वह विवाह करने जा रहे हैं, पर बताया जा रहा है क्योंकि नई स्वामिनी आयेंगी। यह तो दुनिया है।

इस ही कथा को जैनेन्द्र ने बड़े विस्तार से और बड़ी सूक्ष्मता से कहा है। इसमें सन्देह नहीं कि 'कल्याणी' जैनेन्द्र का सबसे शक्तिशाली उपन्यास है जिसकी पुनरावृत्ति उनकी नई रचनाओं में नहीं हो सकी है परन्तु कल्याणी का चरित्र सूक्ष्म चारित्रिक भूमि पर ही समझ में आता है। उसमें सुभाषन नहीं है। फलतः वह साधारण पाठक की पकड़ में नहीं आये और यदि उसके सम्बन्ध में अस्पष्टता का दोषारोपण करे तो कदाचित् यह असत्य नहीं होगा। वैजनाथीकर और पाल की कथाएँ अप्रासंगिक कथाएँ हैं जो छोड़ी जा सकती थीं। वैजनाथीकर में मनोविज्ञान की सूझीबस है कि मन की प्रतिच्छाया ही बाहर का निर्माण करती है। पति के प्रति हिंसा-भाव ने कल्याणी के मन में वैजनाथीकर की मूर्ति तैयार की और महाराष्ट्र की स्त्री के रूप में उसने अपनी हत्या की ही कल्पना की। परन्तु यह मनस्तत्वीय वर्णन आकर्षक होते हुए भी 'केस हिस्ट्री' जैसा है। यह प्रेमचन्द के "कायाकल्प" के समान ही एक अतर्क्य अज्ञात भाव-लोक का निर्माण करता है। यह अवश्य है कि जैनेन्द्र का यह भाव-लोक मनोविज्ञाननिष्ठ है धर्मनिष्ठ नहीं परन्तु उसकी सिद्धि औपन्यासिकता की वृद्धि किस प्रकार करती है यह नहीं कहा जा सकता। पाल की कहानी कल्याणी के चरित्र के ईश्वर रूप को सामने रख कर उभारी गई है। कल्याणी के व्यक्तित्व का ऊपरी तल है कि वह अपने व्यवसाय में सावधान है कर्तव्य में तत्पर। कर्मक्षमता कहीं नहीं है।" (पृ ९)। परन्तु आगे बढ़ कर जैनेन्द्र इस नारी में राष्ट्रीय जागरूकता और अपरिसीम राजनीतिक साहस का भी आरोप कर देते हैं जिससे कल्याणी का चरित्र विचक्षण और चमत्कारक बन जाये।

आत्म-निर्वासन की एक दृष्टि यहाँ भी है जो जैनेन्द्र की विशेषता है और जहाँ वह रूमानी रस के सूक्ष्म और सनातन रूप की प्रतिष्ठा उसमें करके उसे अमान्यता देते हैं वहाँ राष्ट्रीयता का एक पक्ष और जोड़ देते हैं। इन दोनों प्रसंगों के हटाने पर कल्याणी की अनुभूति कम हो जाती है और वह बहुत कुछ सामान्य मनोवैज्ञानिक सूत्रों पर आधारित होगी। परन्तु तब वह सामान्य नारी होगी और जैनेन्द्रकी नारी भावना की अतिशयता उनकी नारी को सामान्य बनने से रोकती है। नारी के सम्बन्ध में उनकी अति भावुकता और अतिआदर्शवादिता ही उनकी कथा का प्रमुख संबल है। यह नहीं तो कथा जैनेन्द्रीय नहीं है। इसीलिए वह अनपेक्षित विस्तार भी उनकी सूक्ष्म प्रभूता लेखनी को स्वीकार हुआ है।

२

कल्याणी की इस कथा को हम कैसे लें? स्वयं जैनेन्द्र कथा के बीच में उसके पढ़ने का अपना दृष्टिकोण रख देते हैं जैसे उन्हें विश्वास नहीं है कि पाठक कथा का उनके मंतव्य के अनुसार ग्रहण कर सकेगा। कहते हैं "समझ-समझ की बातें हैं। हरेक की समझ अपनी है। अपने से बढ़कर किसी के लिए दूसरे की समझ होना कठिन है। अर्थात् एक के लिए दूसरे की समझ झूठ है। इस तरह सारी ही समझें झूठ हैं। यथार्थ यथार्थ है और तत्सम्बन्धी हमारी समझें (ज्ञान-विज्ञान) हमारे ही अर्थ हैं। सच सब के लिए पार है। इसीलिए कल्याणी की कहानी कहते समय आलोचना विवेचना की व्यर्थता से मैं बचूँ। सब दिमागी समझाव है। मैं तो घटना ही कहता चलूँ। घटना में स्वयं सत्य की वाणी का प्रस्ताव है। उसके आलोड़न में भला क्या रखा है? फिर यह कल्याणी का यह जीवन चरित नहीं है। उसके व्यक्तित्व को चारों ओर से लेकर विश्लेषण द्वारा पुनर्निर्माण करने की मेरी इच्छा नहीं है। यह तो बस कहानी है जिसमें संवेदन हुआ तो मैंने भर पाया। सहानुभूति न जागे मुझे क्या चाहिए? आज यदि चाहिए तो उसी को टिकाने के लिए। चरित लिखने की मेरी ताब नहीं। जो मर्त्य है और अब स्वर्गम्य है उसकी मूर्ति गढ़ने का मैं कष्ट उठाऊँ तो क्यों? बस कुछ प्यार की बातें कहता हूँ कि कहीं हमारा चित्त छू जाय और उसमें रस का स्रोत फूट जाय।" इस अवतरण से उनकी कुछ मान्यताएँ बलपूर्वक सामने आती हैं

१—कि उन्होंने चरित नहीं लिखा है।

२—बल्कि उन्होंने घटना ही कही है और घटना में स्वयं सत्य की वाणी का प्रस्ताव है।

३—कि वह न उसका आलोड़न चाहते हैं न उसकी आलोचना-विवेचना, क्योंकि ज्ञान मनुष्य का बनाया [illegible] है जिसका सार ही नहीं है।

४—कि यथार्थ यथार्थ है। यथार्थ उन्होंने घटनाओं में दे दिया है। इस प्रकार वह उपन्यास को परम्परागत दृष्टि से देखने में हमारे सहायक नहीं बनना चाहते। आधुनिक पश्चिमी उपन्यासकारों में से कइयों का यही दृष्टिकोण है। फलतः उपन्यास

के लिए नये नाम गढ़े गये हैं और उनसे भी उपन्यासकार सन्तुष्ट नहीं दिखाई देते। स्पष्ट ही प्रत्येक उपन्यासकार की उपन्यास की अपनी परिभाषा बनती जा रही है और समीक्षक के हाथ बँधते जा रहे हैं। जहाँ उपन्यास भीतर-बाहर को एक मान कर चलता है बाहर को भी भीतर की प्रतिच्छाया मान लेता है जैसे कल्याणी देवलालीकर में पति के प्रति अपने विद्रोह-भाव को ढूँढ लेती है वहाँ व्यक्ति और उससे सम्बन्धित घटनाओं को मर्यादित बन जाना पड़ता है। परन्तु इतना मानने पर भी लेखक व्यक्ति और परिस्थिति के अनन्य सम्बन्ध को जानता है और व्यक्ति के सामाजिक चरित्र के कारण तात्कालिक समाज-स्थिति में खोजता है।

जैनेन्द्र ने कल्याणी के चरित्र या व्यक्तित्व की एक विशेषता (मृत्यु के प्रति उसके आकर्षण) का उल्लेख किया है (पृ० ९-२१) परन्तु इस निष्कर्ष पर कि मृत्यु का भय मानवात्मा के विकास का चिह्न है वह कैसे पहुँच गये यह नहीं कहा जा सकता। यह अवश्य है कि कल्याणी पुनर्जन्म का प्रश्न उठाती है ('मर कर आदमी की क्या गति होती है, क्या इस बारे में किसी को कुछ पता नहीं है?') और यह प्रश्न तात्त्विक और वैज्ञानिक रूप में नहीं आता एकदम निजी और तात्कालिक होकर आता है। और भी उसके प्रश्न हैं "जो मर कर आदमी का प्रेत नहीं भटकता रहता है? आत्मा दूसरा जन्म लेती है, या न्याय के दिन की प्रतीक्षा में मरने के बाद मानवात्मा सोई रहती है। मैं जानना चाहती हूँ। मरने के बाद मेरा क्या होगा? दुनिया को अभी तो एकदम मैं छोड़ना नहीं चाहती। अभी मेरी उम्र... लेकिन...।" ये प्रश्न यदि कल्याणी के भीतर के बोझ को इंगित करते हैं तो इनमें अवश्य सार्थकता है नहीं तो इन्हें जैनेन्द्र की दार्शनिक गुत्थी, दीर्घसूत्री भंगिमा मात्र समझा जायगा। यह नहीं कि बुद्धिजीवी मनुष्य भावजीवी नहीं होता और ये मूलभूत प्रश्न उसके मन में उठेंगे ही नहीं। परन्तु इन प्रश्नों की औपन्यासिक सार्थकता कहाँ है? ये व्यक्ति को सुलझाते कम हैं उलझाते अधिक हैं। स्वयं प्लेटो ने मृत्यु भय पर विस्तार से लिखा है और जैनेन्द्र की जिज्ञासा को वहाँ समाधान मिलना सम्भव है। परन्तु अनिश्चित मनोवैज्ञानिक समाधानों और समारम्भों को लेकर उपन्यास नहीं गढ़े जाते। इससे क्या कथा रस की हानि नहीं हुई है, क्या चरित्र अबूझ नहीं बना है? क्या घटना-मात्र के आग्रह से उपन्यासकार की यह जिम्मेदारी बच जाती है जो प्रत्येक लेखक और कलाकार की जिम्मेदारी है कि वह जो कहे साफ़ कहे दो टूक कहे? कदाचित् जैनेन्द्र अपने पाठकों के इस दोष को समझते हैं और यह कथा के प्रवक्ता वकील साहब की इस चीज से स्पष्ट है "कल्याणी में नहीं मालूम है। चार में तीन हिस्से बात अनकही रख कर सिर्फ एक हिस्सा कहेगी। उस पर समझेंगी कि समझने को काफी हो गया। मानो कि मेरे लिए अनकही तीन हिस्सा बात तो कम ही हो। बाकी एक हिस्सा कहने का जो कष्ट लिया जा रहा हो वह भी यों ही जाने क्यों? अन्यथा तो उतना भी अनावश्यक ही हो। मैं जानता हूँ कि एक सम्बन्ध

ऐसा हुआ करता है जहाँ बात शब्दों से नहीं मौन से ही एक से दूसरे को अधिक घनिष्ठता से प्राप्त होती है। शब्द वहाँ बाधा है। उससे बीच का अन्तर भरने की जगह और बढ़ ही जाता है। परन्तु उन्हें मेरे प्रति कब यह सम्बन्ध समझने की इजाजत थी? तब बात खोल कर क्यों नहीं कही जाती है? मैं अन्तर्यामी हूँ? मनःपर्यय-ज्ञानी हूँ? मैं कौन हूँ? यही पाठक का पक्ष है। जहाँ समझाने की चेष्टा ही नहीं है, स्वयं लेखक ही समझने का दावा नहीं करता वहाँ पाठक के हाथ में समझ के सूत्र कैसे आयेंगे? वहाँ वह फिलासफी है कि 'शब्दों द्वारा स्मृति की वेदना को टालते नहीं रहना चाहिए। यों उसे दुर्बलता सूझ है। शब्द अविश्वास मूढ़ है। मन की तकलीफ़ को जब वे बतावें और उस तकलीफ़ से ही जब वे बनें तब तो सच है अन्यथा मिथ्या है। माया बड़ा षड्यन्त्र है और शब्द कोई भी यथार्थता को नहीं पकड़ सकता।" वहाँ देखना यह होगा कि असली बात क्या है। भीतर की पीड़ा ही तो परन्तु वह कहीं पकड़ में तो आवे। वास्तव में जैनेन्द्र कहानी (व्यापक अर्थों में) में भाव-संवेदन ही देना एक मात्र सार्थकता मानते हैं और यह भाव-संवेदन भी व्यथामूलक या कारुणिक (देखिए, पृ० ८०। "सच तो यह है कि आदमी के भीतर की व्यथा ही सच है। इत्यादि।) परन्तु यह करुणा शब्दों का आश्रय न लेकर संकेतों द्वारा प्रकट हो एकदम अनिर्दिष्ट नहीं बनी रहे। उसे आनन्द मय बनाना ही उपन्यासकार का ध्येय नहीं हो सकता। यह कवि का ध्येय अलबत्ता हो सकता है। उस व्यथा को तो बाणात्मक उचित बनना ही ठीक होगा। लेखक जहाँ दूसरे के आत्मपीड़न में आनन्द लेने लगता है वहाँ वह परपीड़न के दोषसे (और अन्ततः आत्म पीड़न के दोष से भी क्योंकि लेखक के लिए पर ही स्व है) किस प्रकार मुक्त हो सकता है। क्या वकील साहब के इन शब्दों में जैनेन्द्र की अपनी असमर्थता ही नहीं बोल उठी है "पर मेरी बिसात कितनी? मैं अदना आदमी। इसी से यह कहानी ले बैठा। कहानी का मना क्या कहना? वहाँ करने को कम नहीं है। करने से कतरा कर कहने में मन बहलाना मालिक की चोरी करना है। पर मेरी बिसात थोड़ी जो है और मालिक का पूरा हक अदा कर सकने से मैं अपनी हार मान बैठा हूँ। इससे बेचारा बन कर कहानी ही कहता हूँ।" जहाँ आत्मा चरित्र तर्क अभिव्यक्ति सब—सभी संदिग्ध बन गये हैं, वहाँ केवल व्यथा क्या टटोली जा सकती है?

२

तीन चरित्र हैं जो "कल्याणी" में प्रमुखता प्राप्त करते हैं कल्याणी डा० असरानी और प्रीमियर। इनमें प्रीमियर परोक्ष में है और जब आते हैं तो समूचे और इतने तेजपुंज बनकर कि हम में चकाचौंध ही पैदा कर देते हैं। कदाचित् उनको परोक्ष में रखकर ही कल्याणी के भीतर व्यथा संजोई जा सकती थी। इसी से उन्हें घात-प्रतिघात से ऊपर रखा गया है। उनमें व्यथा का ऊर्ध्वोन्मुख रूप हमें मिलता है। उनके चरित्र की व्याख्या रचक-रूप में स्वयं लेखक ने कर दी है, "बीज पड़ता है तो मिट्टी और पानी के

संयोग से उसमें किल्ला भी फूटता है। किल्ला फिर बाहर की ओर अंकुरित होता और पत्तियाँ देकर लहरा उठता है। ऐसे वह बड़ा होकर फूल और फल देता और अपने आसपास हरियाली रचा जाता है। इस आदमी की शिलखाना में बीज पड़ा तो क्या हुआ? क्या वह किल्ला बन सका? अंकुरित होकर छांहदार हरियाला वृक्ष वह हो सका? शायद नहीं। पर शायद यह अच्छा हुआ। महाशाल हिमालय तो वृक्ष नहीं है। वृक्ष को जड़ चाहिए। परन्तु आकाश की जड़ कहाँ है? वायु बहती है, धूप फैलती है। ये सबको मिलती हैं। पर ये जड़ से बँधी हैं। इसी तरह निष्काम आतप का सन्नाटा और सौम्य प्रेम की परिपक्वता उस पुरुष के चेहरे पर दीखती है, पर उसका लक्ष्य कोई बिन्दु नहीं है, वह असमस्त रूप से सब के लिए है। यह चरित्र विश्वसनीय हो सकता है, मनोविज्ञान ऐसा कहता है। परन्तु इस चरित्र को लेखक के हृदय की सहानुभूति नहीं मिली है। फलस्वरूप वह रेखाचित्र मात्र रह गया है।

व्यथा का उपस्थित रूप कल्याणी में है जिसके प्रति लेखक की अपार सहानुभूति है। सारी पुस्तक में ही कल्याणी का दमित प्रेम विस्फोटित है, कहीं प्रकाश में, कहीं प्रच्छन्न में। असफल प्रेम की पीड़ा, क्रूर दुर्दमनीय पति, स्वतन्त्र जीवन जीने की इच्छा, भारतीय नारी की पति के आदर्श के प्रति बौद्धिक निष्ठा और अपनी दयनीय स्थिति के प्रति निरंतर विद्रोह—ये तत्त्व कल्याणी के चरित्र को अदमनीय बना देते हैं। वह सहज ही हमारी सहानुभूति पा जाती है।

डा० असरानी का चरित्र खलनायक का चरित्र है। उसमें पति का वह विकृत घृणित अपरूप है जो पाशविकता का प्रतीक बन गया है। अर्थ ही जिसे सब कुछ है, नारी का प्रेम, उसकी पतिनिष्ठा, उसकी सहनशीलता, उसकी सब जिसके लिए क्रय-विक्रय की वस्तु है। सचमुच डा० असरानी का चरित्र अपरूप होते हुए भी यथार्थ से सिंचित है। उसमें व्यवहार की दुनिया की झाँकी है। वह कर्मलोक का चरित्र है। कल्याणी भावलोक की प्राणी है। द्वन्द्व अनिवार्य है। इस द्वन्द्व में भाव की पराजय और कर्म की जय घोषित है क्योंकि यही अपरिहार्य था—क्योंकि संसार कर्मभूमि है।

परन्तु इन तीन चरित्रों के साथ-साथ बीच में प्रवक्ता वकील साहब और उनकी पत्नी हैं। पत्नी कम है, परन्तु कल्याणी के चरित्र को उसने उस ढंग से देखा है जिस ढंग से कदाचित् उपन्यासकार कल्याणी को आदर्श बनाकर दिखाना चाहता है। नाटकों में नट-नटी अथवा सूत्रधार और उसकी पत्नी की योजना रहती है। जहाँ कथा दुर्गम है या चरित्र अबूझ है वहाँ यह आवश्यकता बन भी सकती है। कल्याणी को अबूझ या दुर्बूझ जानते हुए जैनेन्द्र ने यह व्यवस्था कर रखी है कि उसके चरित्र की "रनिंग कमेण्टरी" हमें मिलती रहे परन्तु इस व्यवस्था ने कल्याणी के चरित्र को कदाचित् रहस्यमण्डित ही किया है क्योंकि वकील साहब का अपना चरित्र (या दृष्टिकोण) बीच में आता है। उसी के पार हम कल्याणी के चरित्र को देख सकते हैं, अन्यथा नहीं।

वास्तव में कल्याणी को केन्द्र में रखकर कई दृष्टिकोणों से उसे देखने की चेष्टा की गई है और किसी भी एक दृष्टिकोण पर जैनेन्द्र का आग्रह नहीं है। क्योंकि उनका विश्वास है कि मनुष्य चरित्र किसी का भी नहीं जानता जानना आपेक्षिक होता है फलतः अधूरा ही जाना जा सकता है और यह सम्भव है कि चारों दिशाओं से उपलब्ध ज्ञान परस्पर पूरक न होकर एक-दूसरे का काट करता है क्योंकि सृष्टा की मायिक सृष्टि में सब सम्भव है। इस दृष्टि से 'त्यागपत्र' की भाँति 'कल्याणी' भी नया प्रयोग ही है। भीतर के दर्द को बाहर निकालने का वहाँ आग्रह है वहाँ खोज ही सब कुछ है पाना तो प्रसादफल ही है।

८

सुखदा

"सुखदा" में जैनेन्द्र दस वर्ष बाद फिर उपन्यास-कला की ओर लौटे हैं परन्तु यह उपन्यास-कला भावना और अभिव्यंजना की मांसलता में उनके पूर्ववर्ती उपन्यासों 'त्याग-पत्र" और 'कल्याणी' जैसी न होकर 'सुनीता' के समतल पर है। 'सुनीता" में न्यूनता कम है मांसलता अधिक है। इसमें कथा को भी काफी भरकम बनाया गया है और अन्तिम पृष्ठों में काफी गत्यात्मकता है। 'अनाम स्वामी" के प्रारम्भिक अध्यायों के प्रकाशन से यह आशंका हुई थी कि जैनेन्द्र दार्शनिक ऊहापोह में खो जायेंगे वह शुष्क बन जायेंगे परन्तु ऐसा नहीं है। इस उपन्यास में उन्होंने कथा का रस सुरक्षित रखा है और चित्रण भी काफी सरल है।

कथा थोड़ी है, जैनेन्द्र की सारी कथाओं जैसी। कहानी कहने वाली सुखदा ही है १८ वर्ष की आयु में भीतर से सम्पूर्णतः टूटी हुई यह क्षय-ग्रस्त नारी अपनी जीवन गाथा लिखती है। निष्कपट भाव से वह अपनी कथा कह जाती है। यद्यपि कहानी में उसके पति कांत क्रान्तिकारियों के नेता हरीश (हरिदा) लाल प्रभात वेदार, कोहली आदि आते हैं परन्तु कथा मूलतः कांत सुखदा और लाल के त्रिकोण को लेकर चलती है। फिर भी कथा सुखदा की ही है कांत और लाल तो उसके उपकरण-मात्र हैं। उनके भीतर की झाँकी हमें नहीं मिलती। फलतः वे अस्पष्ट ही रह गये हैं। प्रधान पात्री की आँख से सारी कथा देखी जाती है और इसी से वह एकांगी बन जाती है।

कथा के मूल में स्त्रीत्व-पुरुषत्व विवाह-प्रेम हिंसा-अहिंसा घर और बाहर की कुछ मूल समस्याएँ हैं जो 'सुनीता' से प्रारम्भ होकर "सुखदा" और "विवर्त' तक चलती हैं। विवाह के सम्बन्ध में जैनेन्द्र के विचार कदाचित् कांत के इन शब्दों में केन्द्रित हो गये हैं "विवाह क्या चीज है, मैं अक्सर सोचता हूँ। क्या वह स्वत्व को बन्धन में रख देता है, स्वत्व का अपहरण कर लेता है। समर्पण में तो सार्थकता है। लेकिन समर्पण का तो व्यक्ति को पता ही नहीं रहता।" (सुखदा पृ० ९९) जैनेन्द्र विवाह को नारी-पुरुष के व्यक्तित्व के विकास का एक मार्ग मानते हैं विवाह यदि इस विकास में बाधक हुआ तो उसकी सार्थकता कहाँ रही? उनके उपन्यासों में यह द्वन्द्व-स्थिति बार

भार उभारी गई है। एक ओर विवाह का बन्धन है दूसरी ओर उसके प्रति विद्रोह। विवाह के सम्बन्ध में रूढ़ परम्पराओं और मान्यताओं का विरोध करते-करते नारी टूट जाती है परन्तु वह अपने व्यक्तित्व को निर्जीव बनाना नहीं चाहती। यह विद्रोह ही सुखदा के चरित्र में चरितार्थ हुआ है। उसका उदार पति (कान्त) उसकी प्रगति में बाधक न बनकर अपनी सहिष्णु-वृत्ति के कारण सहायक बनना चाहता है परन्तु यही पत्नी (सुखदा) उसे समझ नहीं पाती। वह इस उदारता को पुरुष की पुंसत्वहीनता समझ कर उसके प्रति घृणा से भर जाती है। एक ओर सामाजिकता है दूसरी ओर नारी का अपना मनोविज्ञान। झगड़ा विनोद को लेकर होता है। विनोद को नैनीताल भेज कर उसको शिक्षा देनी होगी। वह बड़ा आदमी बनेगा। इस "बड़े आदमीपन" की पोल जैनेन्द्र ने "आप क्या चाहते हैं" निबन्ध में खोली है। परन्तु सुखदा पति की पुंसत्वहीनता (उसके आर्थिक स्टेटस) से प्रभावित होकर पुत्र में यह "बड़ा आदमीपन" देखना चाहती है। अपनी मनःस्थिति का विश्लेषण उसने इस प्रकार किया है, "मैं नहीं समझ सकती कि उस क्षण में क्या चाहती थी? शायद मैं जीतना चाहती थी। हर किसी से जीतना चाहती थी। क्या कहीं हार का भाव भी था कि जीत की चाह इतनी आवश्यक हो गई थी। यह सब कुछ मुझे नहीं मालूम। लेकिन दुर्दम कर्तृत्व के संकल्प मेरे मन में सहसा चारों ओर से फूट कर महक उठे। अपनी परिस्थिति और अपनी नियति की सब मर्यादाओं और बाधाओं को तोड़ कर ऊपर चलना होगा ऊपर, ऊपर। कुछ मुझे रोक न सकेगा। ऐसा मालूम होने लगा जैसे जो है सब तुच्छ है सब शून्य है मेरी महत्ता के आगे सब निरस्त हो गया है। उस समय मेरे स्वामी पतित और वंचित मुझे अपदार्थ लग आये।" (वही पृ० ११)

इस द्वन्द्व को स्वयं सुखदा के मुँह से जैनेन्द्र ने इस प्रकार विश्लेषित किया है "स्वामी ने प्रतिरोध नहीं किया। प्रतिरोध क्यों करना चाहिए था। स्त्री को राह देना उसे न समझना है। रति वह उतनी नहीं चाहती जितनी स्वीकृति चाहती है। स्वीकृति में दूसरे का अपने पर स्वत्व शायद स्वाधीनता भी चाहती है। वह न पाकर पुरुष की ओर से निपट अनुमति पाती है तो इस पर स्त्री का क्षोभ सीमा लाँघ जाता है।" (वही पृ० १४) यही द्वन्द्व सुखदा के मानसिक चरित्र का प्राण है। वह प्रतिरोध चाहती है बन्धन चाहती है स्वामित्व चाहती है। यह नारी का प्राकृतिक रूप है। परन्तु वह कर्म की स्वतन्त्रता भी चाहती है प्रेम करने का स्वच्छन्द अधिकार भी चाहती है पत्नीत्व चाह कर भी वह अपने व्यक्तित्व का सम्पूर्ण स्वातन्त्र्य चाहती है। यह सामाजिकता की पुकार है। बाहर की पुकार। घर उसके भीतर है समाज उसके बाहर है। घर और समाज किस प्रकार साथ-साथ एक ही समय में एक साथ निबहें यह समस्या है। अपने मूल मनोविज्ञान से लड़ कर स्वामित्व की प्राकृत चाह को तोड़ कर नारी किस प्रकार सामाजिक मन का निर्वाह करे जो अपने व्यक्तित्व के प्रति उत्तरदायी हो जो हृदय का प्रेम

निखेर सके कि वह स्वतन्त्र है, यह आधुनिक नारी की सब से बड़ी समस्या है। इस प्रश्न को न समझ कर नारी अपने को तोड़ लेती है। विद्रोह तभी तक चल सकता है जब तक पुरुष कठोर है। जहाँ उदार है वहाँ उसकी उदारता नारी के विद्रोह को कुण्ठित कर देती है। इसी से सुखदा कान्त के प्रति घृणा न कर पाती है। वह समझती है पति की सहिष्णुता दर्शाता है भीतर संशय भरा है। उन्मुक्त होकर वह सहज-हास्तिनी बन जाती है। कान्त कहता है "तुम करोगी (काम से एकान्त में निकलने से) यह मैंने सम्भव नहीं माना था। इसका मतलब है संशय मेरा अपना अथवा संशय। सोचता हूँ जाऊं और उस पर कहूँ कि वह डरता क्यों है? तुम्हारा मुझ से विवाह हुआ है हरण तो नहीं। विवाह में जो दिया जाता है वही पाता है, पराधीनता किसी और नहीं जाती। सुनो सुखदा स्वतन्त्रता तुम्हारी अपनी है और कहीं आने-जाने में मेरे खयाल से रोक-टोक मानना मुझ पर आक्षेप डालना है। मुझ से पूछा तो तुम्हें अपने में प्रतिरोध लाने की कोई आवश्यकता नहीं है। परन्तु यही इसी उदारता में सुखदा की हार है। वह आश्चर्य में भर कर कहती है क्या कहते हो? मुझे कहीं जाना नहीं है और जानती हूँ कि कोई काम उन्हें मुझ से नहीं है।" (वही पृ० ९६)

कथा के पहले २२ अध्यायों में सुखदा के (घर के) भीतर के बन्ध तोड़ कर बाहर (समाज भूमि पर) आने का प्रयास है। मूल प्रश्न यही है जैसा "सुनीता" में। हिंसा अहिंसा का प्रश्न कथा के मूल में नहीं बल्कि पृष्ठभूमि में आता है। अन्त में सुखदा का विद्रोह सफल होता है कान्त हार जाता है अपने को सुखदा से अलग खींच लेता है घर टूट जाता है और सुखदा क्रान्ति-दल की प्रमुख अभिनेत्री बनकर लाल के "विलास-भवन" में रहने लगती है। अन्त में जब कोहली, हरीश, प्रभात आदि उससे मिलते हैं तो उसे अपनी परिस्थिति का ज्ञान होता है। सुखदा के शब्दों में "इन चारों आदमियों की इस मुलाकात से मैंने अनुभव किया कि अपनी प्राचीर की गृहस्थी की लकीर को लाँघ कर मैं बाहर किस कुंए में आ गई हूँ। यहाँ जहाँ मर्यादाएं निश्चित नहीं हैं और किसी प्रकार की रक्षा व्यक्ति को प्राप्त नहीं है जहाँ सबको समान अवसर है और समान संघर्ष। हर व्यक्ति स्वयं में जहाँ भिन्न है और दो के बीच में लिहाज नहीं है सिर्फ समानता है। मुझे इस बाहर की दुनिया का यह पहला स्वाद बिल्कुल अच्छा नहीं लगा। लेकिन मालूम हुआ कि रास्ता यद्यपि तोड़ा मैंने है तो भी किसी महत्वे बाहर हो रहने के बाद अब उसकी भीतर की सुरक्षाओं में पहुँचना सम्भव नहीं है। (वही पृ० ११६)।

सुखदा की यह स्वतन्त्र स्थिति उसे भार हो जाती है परन्तु साथ ही एक ऐसी भी परिस्थिति क्रान्तिकारी समाज में आ जाती है जहाँ से कथा का उतार शुरू हो जाता है। उपन्यास के २१वें अध्याय से ही मोड़ आरम्भ होता है। लाल का भेद हरीश पर खुल गया है और वह दल में लांछित है। प्रभात—कोहली आदि से सुखदा को पता चलता है कि लाल कृपाल है और स्वयं हरीश ने उसे बुलाया है। जमना-कछार को पार कर

ात के साथ सुखदा वहाँ पहुँची परन्तु तभी लाल भी आ उपस्थित हुए। हरिदा लाल
अप्रसन्न हैं। वह आन्दोलन को स्थगित करना चाहते हैं दल को तोड़ना चाहते हैं।
ाल पर इलजाम है उसने सुखदा को लौटाया पाँच हजार रुपया दिया किराये की
ी को साथ रखा। लाल जानते हैं हरिदा के हृदय में उसके प्रति स्नेह है पर वह
पनी सफाई देना नहीं चाहते। जिस स्थूल ढंग की मतिकथा लेकर, जो परिधि बनाकर
हरिदा चलना चाहते हैं वह लाल को पसन्द नहीं। लाल नारी की स्थूल देह का ही
ाक्रिय उपयोग नहीं चाहता उसकी भावना का भी उपयोग चाहता है नहीं तो क्रान्ति
अधूरी ही रहेगी। परन्तु दण्डित करके भी हरिदा लाल को छोड़ना नहीं चाहते। वह
कहते हैं "लाल को चाहिए कोई जो लगाम दे। और लगाम देने वाला नहीं होता देने
ाली होती है। इसीलिए तुम से कह रहा हूँ ताकि वह बँधे नहीं तो चाहता है तो
मरे।" (वही पृ १६५) उनका प्रस्ताव है कि सुखदा लाल को प्यार करे। लाल की
उमर हो गई है परन्तु इस मामले में वह बालक है। दो दिन सुखदा को लाल के साथ
रहना है। हरिदा नकली साधु बने हैं। वह दोनों को आशीर्वाद देकर विदा करते हैं।
लाल सुखदा को कान्त के पास छोड़ देना चाहता है परन्तु वह घर पर नहीं है। अन्त में
दोनों फिर विश्वास-कक्ष में आते हैं। सुखदा नारीत्व देकर भी लाल को बचाना चाहती
है। वह यम के हाथ से अपने को बचा ले। परन्तु लाल झिगना नहीं जानता। सुखदा
थम जाती है। इस पर जैनेन्द्र कहते हैं, "स्त्री का यह क्या हाल है? क्या है जो उसे ऐसा
अवश कर देता है कि वह स्वयं नहीं रह जाती गल कर पानी बन जाती है? पुरुष उसे
सने उसकी मार आता है तब वह उसे इतना समझती है कि समझ को कुछ बाकी नहीं
रह सकता कुछ चुनौती नहीं रहती पर जब वह नहीं आता उसमें बल्कि या तो उसे
लाँघ कर जाता या उससे लौट कर जाता वह कहीं किसी अनबूझ में है वहाँ जहाँ कुछ
पकड़ने को मिलता ही नहीं तब स्त्री को एक साथ क्या हो जाता है? जैसे इस प्रसङ्ग
अपमान की बराबरी करने को उसका सारा मान एक ही साथ आकर पलड़े में झुक
पड़ने को आतुर हो जाता हो। उस अनबूझ की तरफ बढ़ते हुए पुरुष का पीछा करके
एक बार तो उसका मुँह अपनी ओर कर देखने की बान पर जैसे वह प्राण प्रण पर तुल
जाती है। तब कहीं कुछ उसके लिए नहीं रह जाता। न कहीं मर्यादा रहता है न धान
रहता है न समाज रहता है। मानो वह होती है और सामने चुनौती। तब अपने में वह
रह नहीं पाती अपने को अतिक्रमण उसे करना पड़ता है। स्त्री इस चुनौती के जवाब पर
देवी बन जाती है डायन बन जाती है और स्वयं देख कर विस्मय में रह जाती है कि
वह कब स्त्री नहीं रही।" (वही पृष्ठ १७३ १७४)।

लाल उसे छोड़ कर चल गये। स्वामी आए। परन्तु आत्मकुण्ठिता सुखदा उनके
साथ नहीं जा सकी। अन्त में शाम के करीब लाल आये। उसने लाल को सब कुछ दे
देना चाहा। परन्तु लाल का आत्मबोध जाग्रत था। वह अतीव आत्म-बल का संचय कर

सुखदा को सोफे पर फेंक कर कहता है "जाओ बच गईं तुम।" और राक्षसी अट्टहास। "इस बार बच गई आगे मौत मत बुलाना।"

परन्तु इस घटना के बाद सुखदा को लगा जैसे जाने क्या ऊपर से उतर गया है, सामने से हट गया है भीतर से खुल गया है। 'मानो मैं हल्की हो आई। जैसे मीठी धूप में नहाती खिलती इठलाती हल्की फुल्की बदली होऊं।' (वही पृ० १७६) और जैनेन्द्र के अनुसार यही नारी की पूर्णता है।

अगले तीन अध्याय (२७ २८ २९) उपन्यास को परिसमाप्ति देते हैं परन्तु सुखदा के चारित्रिक विकास की दृष्टि से वे व्यर्थ हैं। हरीश दल से मतभेद रख कर भी लाल को माफ कर देता है और कान्त की सहायता से स्वयं को गिरफ्तार करा देता है। जैसे यह प्रायश्चित हो। और इनाम का रुपया कान्त को ही मिलता है जो सुखदा की धिक्कार को और भी अधिक बढ़ा देता है। परन्तु लाल के कान्त को छुड़ाने के प्रयत्न को असफल कराते हुए लेखक उसे इस औपन्यासिक रंगमंच से हटा देता है। दल भंग हो जाता है। कोहली प्रभात की गोली से मृत्यु प्राप्त करता है और अन्य सदस्य भी बिखर जाते हैं। पति आते हैं परन्तु सुखदा उन्हें अपना नहीं पाती। वह भीतर से टूट गई है।

क्यों टूट गई है क्या कारण बना है यह सुखदा के दृष्टिकोण से देखने पर ही पता लगता है। उसने पति का विश्वास नहीं खोया है स्वयं अपना विश्वास वह खो बैठी है। वह मन से पापिनी है तन से नहीं। परन्तु क्या मन ही सब कुछ नहीं है ? क्या विवाहिता नारी का मन इतना स्वतन्त्र है कि पति से बाहर अपने प्रेम का कोई केन्द्र बना सके ? बना सकने पर भी क्या उसका मन उसे नहीं धिक्कारेगा ? यहीं जैनेन्द्र का आदर्शवाद सामने आता है। वह नारी के लिए कर्म-क्षेत्र की सम्पूर्ण स्वतन्त्रता मांगते हैं। घर के बाहर भी उसकी स्थिति हो। परन्तु तब क्या घर रह भी सकेगा ? "घरे-बाहरे" में बाहर के आघात से घर टूट जाता है और मधुरानी (विमला) प्राय-श्चित रूप से लौट आती है। यह प्रत्यावर्तन बाहर के आदर्श की पराजय है घर की विजय। परन्तु जैनेन्द्र कविगुरु के इस दृष्टिकोण से सहमत नहीं है। साप्ताहिक 'हिन्दु-स्तान' में प्रकाशित एक लेख में उन्होंने कविगुरु के समाधान से अपनी असहमति प्रगट की है। 'सुनीता' में उन्होंने नया-नया आदर्श रखना चाहा। घर बाहर से पराजित नहीं हुआ बाहर ही घर से पराभूत हो क्षेत्र छोड़ कर भाग गया। "सुखदा" नारी के घर के सम्पूर्ण बन्धन तोड़ कर बाहर निकल आई। बड़े साहस का काम उसने किया परन्तु बाहर की जीत के अट्टहास में भीतर का रुदन भी छिपा है। वह जीती परन्तु भीतर से हार भी गई। उसने नारीत्व खो दिया। पत्नीत्व गृहिणीत्व सब कुछ देकर भी वह अभाव स्वतन्त्र व्यक्ति नहीं पा सकी। क्यों ? इसलिए कि नारी अपने संस्कारों द्वारा घर से बंधी है। उसका मनस्तत्व उसे पति और पुत्र से बांधे है। यही नारी की प्रकृति है। अपनी प्रकृति से बढ़कर वह जीत ही नहीं सकती अपने से भागने के प्रयत्न में टूट जाती है।

प्रश्न है कि क्या जैनेन्द्र ने नवीन नारी (या आधुनिक नारी) के लिए पथ प्रशस्त किया है। नहीं। वह भारतीय नारी के आदर्श (पत्नीत्व गृहिणीत्व मातृत्व) में ही सुरक्षा मानती है। बाहर जाकर वह केवल स्त्रीत्व के बल पर कहाँ चल सकी है? संक्षेप में "सुखदा" नारी के बहिर्गमन की कहानी है। बाहर जाकर भी नारी मन की दहलीज नहीं लाँघ पाती। यही तो विषमता है। बुद्धि जीतती है हृदय रो देता है। नारी की यही द्वन्द्व (द्वय) स्थिति "सुखदा" में उभरी है। जैनेन्द्र के परवर्ती उपन्यासों में इसी समस्या का नया रूप सामने आता है। "विवर्त" में विवाहिता नारी अपने मन के परिणीत पुरुष को अपने को देना चाहती है परन्तु बीच में आती है "अमीरी" (बड़ा आदमीपन)। परन्तु नारी की अपरिसीम करुणा उधर प्रणय व्याकुल प्रेमी जितेन की क्रोधजनित अकरुणा (हिंसा) को परास्त करने में सफल है। यहाँ भी पति में अप्रतिम उदारता है मानो सारा "पति-वर्ग" जैनेन्द्र के नारी जीवन के प्रयोगों के लिए ही जीता है। "व्यतीत" में नारी की उद्दाम वासना की जय दिखा कर और पुरुष के प्रति उसकी हिम भावेन भावना को मूर्तिमान कर जैनेन्द्र ने शा की नारी-भावना का हिन्दी प्रतिरूप खड़ा किया है। परन्तु क्या अनीता कट्टो सुनीता सुखदा और विवर्त की नायिका की कोटि की प्राणी है?

२

"त्याग-पत्र" के प्रकाशन के साथ जैनेन्द्र की उपन्यास-कला का एक युग समाप्त होता है। इस युग में जो उपन्यास उन्होंने हमें दिये वे एक प्रकार से लघु उपन्यास कहे जा सकते हैं। इन उपन्यासों में पात्रों की संख्या बहुत थोड़ी है और उनका कर्मक्षेत्र भी प्रेमचन्द और दूसरे उपन्यासकारों के पात्रों के कर्मक्षेत्र से बहुत छोटा है। एक प्रकार से पात्र न तो किसी राजनीतिक समस्या को उठाते हैं और न किसी पारिवारिक अथवा व्यक्तिगत समस्या का समाधान ही उपस्थित करते हैं। इन उपन्यासों में सामाजिक प्रश्नों की एक स्पष्ट रूपरेखा अवश्य दिखाई पड़ती है, किन्तु लेखक बौद्धिक भूमि पर ही चलने का प्रयत्न नहीं करता। सच तो यह है कि जैनेन्द्र के इन लघु उपन्यासों में भाव भूमि की ही प्रधानता है और यह भाव-भूमि कुछ विशिष्टव्यक्तियों तक सिमट कर रह गई है। प्रारम्भ के दो उपन्यासों "परख" और "सुनीता" में औपन्यासिक पक्ष भी बड़ी सुन्दरता से व्यक्त हुआ है और कहानी में काफी मानसिकता भी है। परन्तु बाद की रचनाओं में जैसे जैसे दार्शनिकता की प्रधानता होती गई है वैसे-वैसे लेखक केवल संकेतों के माध्यम से अपनी बात कहने लगा है। "त्याग-पत्र" तक पहुँचते-पहुँचते जैनेन्द्र के उपन्यासों की औपन्यासिक-कला का ह्रास हो जाता है और अपने अप्रकाशित उपन्यास "अनाम स्वामी" में वह केवल बौद्धिक अथवा दार्शनिक लेखक रह गये हैं।

"त्याग-पत्र" से "सुखदा" तक का बीच-काल १० वर्षों का व्यापक जीवन काल है और इन दस वर्षों में जैनेन्द्र ने अनेक प्रकार की सामाजिक और सांस्कृतिक

गुत्थियों को सुलझाया है। उनके निबन्ध, अनुवाद और उनकी टीका-टिप्पणियाँ संख्या में बहुत अधिक हैं और अब कई भरपूर ग्रन्थों में उनका प्रकाशन हुआ है। इन दस वर्षों के बाद यह आशा की जाती थी कि जैनेन्द्र इस क्षेत्र में कोई नई चीज़ नहीं दे सकेंगे अथवा यह भी देंगे वह उपन्यास से बहुत दूर और गम्भीर दर्शन की भूमि के निकट होगा। परन्तु "सुखदा" के प्रकाशन से यह स्पष्ट हो गया कि जैनेन्द्र एक बार फिर अपनी पूर्व स्थिति पर लौट सकते हैं। 'सुखदा' में कथानक का अधिक विस्तार नहीं है किन्तु भाव भावों का आरोह-अवरोह और भाषा-शैली की सरलता एवं मांसलता में वह हमें "परख" और "सुनीता" की याद दिलाते हैं। एक प्रकार से बीच के शुष्क मतव्य प्रधान साहित्य से हट कर इस उपन्यास में जैनेन्द्र एक बार फिर राम-कृष्ण की मनोवैज्ञानिक भूमि पर अवतरित होते हैं। फिर भी यह कहना कठिन है कि इस उपन्यास में उन्होंने कोई नया संदर्भ उपस्थित किया है अथवा वक्तव्य और कला को कोई नया मोड़ दिया है।

अन्य उपन्यासों की भाँति यह उपन्यास भी भाव-प्रधान है। हम देखते हैं कि समस्त उपन्यास में स्वतन्त्र रूप से अथवा चार प्रमुख पात्रों के माध्यम से उपन्यास की नायिका सुखदा का क्षण-क्षण का भाव-संघात ही उपस्थित किया गया है और यह भाव संघात इतना विलक्षण है कि ऊपर से मनोवैज्ञानिक दिखाई पड़ने पर भी वह आधुनिक मनोवैज्ञानिक स्थापनाओं की पकड़ में नहीं आता। सुखदा जो करती है उस के पीछे न उसकी चारित्रिक भूमि है और न उसका कोई स्पष्ट मनोभाव। जैनेन्द्र के अन्य प्रधान पात्रों की भाँति उसका अन्तर्जगत् भी नियम-स्वाधीन है और वह किन्हीं सिद्धान्तों का शासन नहीं करता। जैनेन्द्र में उपन्यासकार की अपूर्व क्षमता है और इसीलिए कथा के प्रवाह में वह हमें बहा ले जाते हैं। उपन्यास की समाप्ति पर जब हम इस कथन का रहस्य समझने लगते हैं तब हम हतप्रभ हो जाते हैं। हम समझ नहीं पाते कि घटना का विकास किन सूत्रों के द्वारा हुआ। फलस्वरूप हम पात्रों पर अपनी दृष्टि केन्द्रित करते हैं और एक बार फिर उपन्यास पढ़ जाते हैं। हम कान्त, सुखदा, लाल और हरिदा को पाना चाहते हैं किन्तु अन्त में इन पात्रों की चारित्रिक रेखाएँ अस्पष्ट ही रह जाती हैं। वास्तव में ये सारे पात्र लेखक के अपने भाव-विकास को लेकर जन्म लेते हैं और मनोवैज्ञानिक अथवा औपन्यासिक चरित्र-विकास के नियमों में नहीं बँधते। यह कहना कठिन है कि जैनेन्द्र प्रेमचन्द की परम्परा को आगे बढ़ाते हैं या उसे पीछे लौटाते हैं। उनका औपन्यासिक जगत् उनका भाव-जगत् है और यह भाव-जगत् ही उनकी देन है। उस पर प्रश्न-चिन्ह लगाया जा सकता है अथवा उसे लेकर तर्क वितर्क किया जा सकता है परन्तु रहस्यमय और अस्पष्ट रह कर भी वह हिन्दी की अपनी महत्त्वपूर्ण वस्तु है।

जैनेन्द्र के अन्य उपन्यासों की तरह यह उपन्यास भी अन्तर्जगत् की कहानी है। अन्य उपन्यासों में जैनेन्द्र ने दो-तीन व्यक्तियों के अन्तर्जगतों को उलझाया है और उनका पारस्परिक घात प्रतिघात दिखाया है किन्तु इस उपन्यासमें सारा विश्लेषण और

सारे कथा-सूत्र केवल एक पात्री को घेर कर विकसित होते हैं और वह उपन्यास की नायिका सुखदा है। सुखदा का पति कांत भी है परन्तु वह उसके मार्ग में बाधा नहीं बनना चाहता। जैनेन्द्र के समस्त पतियों में वह सब से अधिक उदाराशय है और उसकी अपरिसीम उदारता ने उसे एक प्रकार से नीरस यान्त्रिक बना दिया है। सुखदा को रूप और यौवन का गर्व है। वह समाज में प्रतिष्ठा चाहती है धन और मर्यादा चाहती है। वह घर से बाहर निकल कर राष्ट्र के जीवन के साथ चलना चाहती है। कांत उसे ये सब सुविधायें देने को तैयार है। वह स्वयं क्रान्तिकारी दल के अध्यक्ष हरीश का मित्र है। फिर समझ में नहीं आता कि सुखदा का आक्रोश उस पर क्यों है? सम्भवतः वह अपने भीतर ही बन्धनों का अनुभव करती है और पति की ओर से कोई बाधा न पा कर उसको क्षोभ आता है कि उसके आत्मविकास को इतनी सरलता से मार्ग मिल गया। वास्तव में यह आक्रोश एक प्रकार से थोथा आक्रोश है और उपन्यास के अन्त में सुखदा के जीवन की असफलता इसी थोथे आक्रोश की ओर संकेत करती है।

लेखक ने क्रान्तिकारी जीवन की भूमि पर सुखदा के आत्मविकास को उपस्थित किया है। पहले उसके जीवन में गंगासिंह नाम का एक सामान्य व्यक्ति आता है जो उनके यहाँ कुछ दिन नौकर रहता है। बाद में वह पकड़ा जाता है और एक प्रमुख क्रान्तिकारी सिद्ध होता है। गंगासिंह के जीवन से प्रेरणा पाकर सुखदा नई जीवन भूमि पर चलती है। बाद में हरीश प्रभात और लाल के रूप में क्रान्तिकारी दल के तीन व्यक्ति उसके जीवन में आते हैं। इनमें प्रभात अपनी तन-मन से छोटा अबोध बालक है और 'घरे-बाइरे' के अमूल्य की भाँति वह सुखदा से केवल स्नेह ही प्राप्त कर सकता है। हरीश वीतरागी पुरुष है और "पथेर दाबी" के सव्यसाची की तरह उसका व्यक्तित्व इतना निर्लिप्त और ऊँचा है कि वह औपन्यासिक वस्तु बन ही नहीं सकता।

अब केवल रह जाता है लाल। इसी लाल को लेकर सुखदा आत्मविकास का खेल खेलती है। वह आँधी की तरह उसके जीवन में आता है और उसका समस्त आत्मविश्वास लेकर चला जाता है। पहले ही परिचय से सुखदा को यह पता चलता है कि इस व्यक्ति में व्यक्तित्व] नाम की कोई चीज है जो कान्त में नहीं है। वह उसे समस्त आपदाओं से बचाना चाहती है और जब लाल स्वयं अपनी क्रान्तिकारी दल द्वारा दण्डित हो जाता है तो वह यह प्रयत्न करती है कि वह उस स्थान को छोड़ दे और इस प्रकार आसन्न मृत्यु से अपने को बचाये। इस प्रयत्न में वह अपने नारीत्व के समर्पण को भी तैयार है। जिस प्रकार वह सब कुछ देकर भी हरिप्रसन्न को मार्ग पर ले आना चाहती है उसी प्रकार सुखदा अपना सब कुछ लाल को देकर उसे देश के लिए समर्थ करना चाहती है। किन्तु लाल का [illegible] आचरण है। एक क्षण वह विभोर हो जाता है किन्तु दूसरे क्षण वह सुखदा को ठोकर पर ढकेल देता है और अपनी आत्मकुण्ठा से मुक्त हो स्वस्थ मानव बन जाता है। पहले अध्याय से उन्नीसवें अध्याय तक सुखदा के जीवन-विकास का -

यह प्रश्न है। अन्तिम तीन अध्यायों में बहुत तीव्र गति से यह कथा आगे बढ़ती है किन्तु वास्तव में कथा उसी समय समाप्त हो जाती है जब नारी आत्म-समर्पण के द्वारा पुरुष के पौरुष को प्राप्त करना चाहती है और पुरुष अपने पौरुष में अडिग रहता है।

पहले छब्बीस अध्यायों की कथा में मानसिकता अधिक है। जो कुछ होता है वह सुखदा कान्त और लाल के मनों में होता है। अन्त के अध्यायों में उपन्यास की बहिर्भूमि अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान ग्रहण कर लेती है जो जैनेन्द्र की कला के अनुरूप नहीं है। संक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि 'सुखदा' सुखदा के अन्तरंग की कथा मात्र है और इसी अन्तरंग को जैनेन्द्र ने अपनी दार्शनिकता मनोवैज्ञानिक परख और विशिष्ट भाषा-शैली के द्वारा पुष्ट और विकसित किया है। जो बहिर्जगत् इस उपन्यास में आता है वह कार्य विकास के लिए ही आता है। सुखदा के लिए उसका महत्त्व अधिक नहीं है।

"सुखदा' के प्रारम्भ में स्वयं लेखक ने अपनी रचना पर अपनी सम्मति प्रगट की है। उसका कहना है कि इस पुस्तक में कहानी निष्कपटता से कही गई है और अन्याय किसी के साथ नहीं हुआ है। अपनी रचना-पद्धति के सम्बन्ध में भी लेखक ने कुछ शब्द जोड़े हैं। सामान्यतः उसने सुखदा की कथा वैज्ञानिक भाव से कही है किन्तु कहीं-कहीं विशेष प्रसंगों के अन्तर्गत इस कथा में बनाव भी आ गया है। लेखक के इस वक्तव्य से 'सुखदा" के कथानक और पात्रों के चरित्रांकन के सम्बन्ध में हमें कुछ इंगित मिल जाते हैं। जहाँ तक कथानक का सम्बन्ध है इस उपन्यास में हमें कथा का वैचित्र्य नहीं मिलता। इसका कारण यह है कि उपन्यास की कथा एक विशेष संवेदनाशील पात्री के अन्तरंग से सम्बन्धित है और बाहरी जीवन की रूपरेखाएँ अधिक नहीं उभर पाई हैं। इस कथा में मानसिकता की प्रधानता है। उपन्यास में सुखदा दो प्रकार का जीवन जीती है। एक जीवन वह है जो क्रान्तिकारी दल से सम्बन्धित है और जो सुखदा के सामाजिक विद्रोह को सूचित करता है। उपन्यास के अन्तिम दो अध्यायों में यही जीवन प्रधान हो जाता है और इसीसे घटनाओंमें गतिशीलता आजाती है। किन्तु यह जीवन प्रासंगिक जीवन है। वास्तव में सुखदा के लिए वह अन्तरंग जीवन अधिक महत्त्वपूर्ण है जो पति नाम के प्राणी के प्रति उसमें विद्रोह उठाता है और जो भावुक लाल के प्रति मानसिक और आत्मिक आत्म-समर्पण के रूप में समाप्त होता है। वास्तव में सुखदा की कथा उसके घर के प्रति विद्रोह और घर से बाहर जाने की कथा है। सच तो यह है कि परम्परागत ढंग की कथा हो ही नहीं सकती। उसमें घटनाओं का विस्तार न होकर भावनाओं का ऊहापोह है।

उपन्यास के संगठन में लेखक ने मनोवैज्ञानिक उपकरणों को संकलित किया है। सारी कथा सुखदा की आत्मकथा के रूप में सामने आती है और वह इसलिए अधिक आकर्षक हो जाती है कि सुखदा क्षयग्रस्त है और भीतर से टूटकर अपने समस्त जीवन को एक ही त्रिकुटी पर लाने में समर्थ है। नवीन मनोवैज्ञानिक उपन्यासों में प्रधान पात्र या पात्रों की चेतना का अजस्र प्रवाह बहता है और इस स्मृतिमूलक चेतना-प्रवाह

को उपन्यासकार बहुत सुन्दर ढंग से उपयोग में लाता है। जैनेन्द्र ने चेतना प्रवाह की अभिव्यंजना की इस नई पद्धति को अपनाया है और सारा उपन्यास सुखदा के आन्तरिक प्रवाह के रूप में उपस्थित होता है। वास्तव में उपन्यास की रचना-पद्धति अति आधुनिक है और जैनेन्द्र एक प्रतिबिंबित पात्रों के मन को सम्पूर्ण रूप से उघाड़ कर हमारे सामने रख सके हैं। घटनाओं के परम्परागत संकलन के अभाव में सुखदा का टूटा हुआ व्यक्तित्व और उसकी आत्मपीड़ा हमें अन्त तक बाँधे रखते हैं।

उपन्यास में तीन प्रमुख पात्र हमारे सामने आते हैं सुखदा कान्त और लाल। वास्तव में सुखदा का ही अधिक प्रसार है और अन्य दोनों पात्रों को हम उसी के दृष्टिकोण से देखते हैं। आत्मकथात्मक उपन्यास की यह अपनी सीमा है। उसमें आत्मकथा प्रस्तुत करने वाला पात्र ही विशेष महत्त्व प्राप्त कर सकता है और अन्य पात्रों के साथ न्याय नहीं किया जा सकता। यद्यपि 'धारंभिका' में पात्रों के प्रति न्याय करने की बात कही गई है, परन्तु न्याय केवल सुखदा के साथ ही हुआ है। अन्य पात्र जैनेन्द्र के सैद्धान्तिक दृष्टिकोणों के ही प्रतीक हैं। वे उतने सजीव नहीं हो सके हैं। कुछ क्रान्तिकारी पात्र भी हमारे सामने आते हैं जैसे हरीसिंह प्रभात नरेश चौकसी और धर्मा। परन्तु वे विभिन्न नाम-रूप मात्र हैं और क्रान्तिकारी चेतना के प्रतीक मात्र होने के कारण उनका व्यक्तित्व विकसित नहीं हो सका है। एक प्रभात को छोड़कर शेष सब उपन्यास के उत्तरार्द्ध में आते हैं और बड़ी शीघ्रता से अपना कार्य समाप्त कर रंगमंच को छोड़ देते हैं। उनका विशिष्ट चरित्र सामने नहीं आता। जिन तीन प्रमुख पात्रों को विस्तारपूर्वक लिया गया है उनसे साधारण प्रेम-कथाओं का वह त्रिकोण बन जाता है जिससे उपन्यास का पाठक पूर्ण रूप से परिचित है। किन्तु प्रेरणा की भूमि विरचल और नई समस्या होने के कारण यह त्रिकोण महत्त्वपूर्ण हो गया है। इस त्रिकोण के मध्य में सुखदा है। वह आधुनिक युग की ऐसी नारी का प्रतीक है जो जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में आगे बढ़ना चाहती है। सुखदा को रूप का गर्व है। वह अपनी प्रति सम्पूर्ण रूप से सम्पुष्ट है। असन्तोष यह है कि उसके सामने आगे बढ़ने के मार्ग प्रशस्त नहीं हैं। समाज में प्रतिष्ठा देने वाली चीज है धन। सुखदा सम्पूर्ण रूप से धन चाहती है और इस क्षेत्र में पति की सीमाओं को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं है। अपने भीतर की बड़प्पन की चाह को पूरा करने के लिए वह अपने पुत्र विनोद को नैनीताल भेज कर उच्चकोटि की शिक्षा दिलाना चाहती है। उसका वातावरण साधारण नहीं रह सकेगा। कान्त इस प्रस्ताव का विरोध करता है, पर सुखदा के सामने निस्तेज हो जाता है। सुखदा के भीतर की अग्रगामी भावना प्रत्येक पद पर विरोध चाहती है परन्तु जब अपने पति की ओर से उसे कोई विरोध नहीं मिलता तो वह आत्मकुण्ठिता हो जाती है। वह यह समझ नहीं पाती कि पति इतना उदार कैसे हो सकता है। वास्तव में कारण स्वयं उसके भीतर है और अपनी तेजस्विता को चरितार्थ करने के लिए उसे कान्त में अनेक कुण्ठाओं की कल्पना करनी पड़ती है।

अन्त में हम यह देखते हैं कि सुखदा कान्त से अपना सम्बन्ध विच्छिन्न कर लेती है और लाल के विलास-कक्ष में आकर उसे पहली बार ऐसा अनुभव होता है कि उसने नारीत्व की मुक्ति प्राप्त करली है। परन्तु इसी समय क्रान्तिकारी दल में ऐसा अवसर उपस्थित हो जाता है कि सुखदा को अपने जीवन के समस्त मूल्यों को स्पष्ट रूप से सामने रख देना होता है। वह अपने को सुझाना चाहती है कि वह स्वतन्त्र है, किन्तु वैवाहिक जीवन की मर्यादाओं से वह सूक्ष्म रूप से फिर भी बँधी हुई है। अन्त में वह अपने को मन से पतित स्वीकार कर लेती है और पति के प्रति अवज्ञा की भावना से उसका हृदय स्वयं आत्मपीड़ित हो उठता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि 'सुखदा' में अथवा सुखदा के चरित्र में नारी के भारतीय आदर्श (पातिव्रत) और नये सामाजिक आदर्श (कर्मक्षेत्र की सम्पूर्ण स्वतन्त्रता) का संघर्ष है। उसके चरित्र में इतनी सूक्ष्म संवेदना और भावना कल्पित है कि उपन्यास उसका भार नहीं ढो सका है। वैज्ञानिक दृष्टि से देखने पर वह अपने पति के प्रति अनुदार जान पड़ता है। परन्तु स्वयं सुखदा के भीतर से देखने पर उसका यह विद्रोह सार्थक और मनोवैज्ञानिक सिद्ध होता है।

सुखदा के पति कान्त के रूप में हमें कदाचित् जैनेन्द्र के उदारचरित्र नाम की परिणति मिलती है। जैनेन्द्र ने जिन पतियों का निर्माण किया है उनमें कान्त इतने उदार और निरीह हैं कि उनके सम्बन्ध में हमारी आस्था डगमगा जाती है और हम लेखक के प्रति विक्षोभ से भर जाते हैं। कान्त के चरित्र-निर्माण में सभी गांधीवादी उपकरण इकट्ठे कर लिये गये हैं। एक प्रकार से कान्त जैनेन्द्र के अपने गांधीवादी व्यक्तित्व की प्रतिच्छाया है। वह बल की महत्ता स्वीकार नहीं करते। वह समाज के सामान्य धरातल पर चलना चाहते हैं। वह क्रान्तिकारियों के भी साथ हैं और क्रांतिकारी दल के नेता हरीश के प्रति उनकी अपार श्रद्धा है। स्वयं सुखदा के प्रति उनकी भावना बड़ी उदार है। वह विवाह को ऐसी संस्था मानते हैं जो स्त्री-पुरुषों के सामने विकास के नये मार्ग प्रशस्त करती है। विवाह में बन्धन नहीं बन्धन-मोचन है ऐसा उनका विश्वास है। इस प्रकार कान्त के चरित्र को आदर्शवाद की सर्वोच्च सीमा तक खींच लाया गया है। उनके व्यक्तित्व की विशेषता यह है कि उसमें व्यक्तित्व है ही नहीं। सुखदा एक स्थान पर क्षोभित होकर कहती है कि वह ऐसी मुहर है जो सदैव दूसरे के हाथ में चलती है। उसमें उन्हें पालतू और भीरु बतलाया है। वास्तव में अति आदर्शवाद के कारण कान्त का चरित्र अति सामान्य और अवास्तविक हो गया है। इस पात्र में कहीं भी प्रक्षोभ नहीं कहीं भी क्षोभ नहीं। उसमें आत्म-द्वन्द्व की कोई भी स्थिति दिखाई नहीं पड़ती। भावना-जगत् में वह चाहे जैसा भी ऊँचा पात्र हो व्यवहार-जगत् में ऐसे पात्र का कोई मूल्य नहीं। उपन्यास का क्षेत्र व्यवहार जगत् है और इसीलिए कान्त के चरित्र के कारण उपन्यास अस्पष्ट और असाधारण हो गया है। व्यावहारिक जीवन

मैं पति इतनी दूर जा सकता है यह कहना कठिन है।

लाल और हरीश के रूप में दो क्रांतिकारी पात्र हमारे सामने आते हैं। इनमें एक प्रकार से "पथेर दावी" के सव्यसाची की प्रतिच्छाया है। सव्यसाची के रूप में शरच्चंद्र ने एक ऐसा क्रान्तिकारी पात्र हमारे सामने खड़ा किया है जो राग-विराग से बहुत ऊपर है और एक अत्यन्त उदात्त परन्तु भावना-हीन भूमि पर क्रान्तिकारी दल का सञ्चालन करता है। स्वयं क्रान्तिकारियों ने सरच्चन्द्र के इस चरित्रांक पर आक्षेप किया है परन्तु "पथेर दावी" और "चार अध्याय" उपन्यासों में इस प्रकार का चरित्र अत्यन्त महत्व प्राप्त कर सका है और औपन्यासिक जगत् में उसे लोकप्रियता मिली है। हरीश कदाचित् इसी चरित्र-भूमि को हमारे सामने प्रस्तुत करता है। हरीश भावना को कोई महत्व नहीं देते। वह हिंसा को प्रधानता देते हुए भी अपने आदर्शों के भीतर से गान्धीवादी हैं। वह सामान्य जनता को बराबर सामने रखते हैं। एक प्रकार से लेखक ने उनके चरित्र को इतनी ऊँचाई दे दी है कि वह व्यावहारिक जगत की वस्तु न होकर भाव-जगत् की वस्तु बन गये हैं। जैनेन्द्र ने उनके सम्बन्ध में जो सन्दर्भ दिया है उससे पता चलता है कि वह पहले सन्यासी थे परन्तु बाद में अपने गुरु के आदेश से आध्यात्मिक जीवन को छोड़कर उन्होंने देश के बन्ध-मोचन को अपने जीवन का मंत्र बना लिया। देश के सम्बन्ध में उनकी भावना क्रान्तिकारी होते हुए भी आध्यात्मिक है। वह बराबर नैतिकता और चरित्र पर बल देते हैं और नारी के सक्रिय सहयोग को महत्वपूर्ण मानते हुए भी क्रान्तिकारीदल को स्खलन से बचाना चाहते हैं। उनके लिए नारी भावना की नहीं कर्तव्य की धाम है। जैनेन्द्र ने हरीश के चरित्र में क्रान्तिकारी वर्ग के उस भाग को अंकित किया है जो सम्पूर्ण रूप से भारतीय है और जो हिंसा पर विश्वास रखते हुए भी आध्यात्मिक और गांधीवादी है। इस चरित्र के विपक्ष में लाल हमारे सामने आता है। वह क्रांतिकारी आन्दोलन को एक मात्र राजनैतिक और सामाजिक चेतना नहीं मानता। उसके लिए आन्दोलन का महत्व यही है कि उसके देश की अर्थनैतिक भूमि का विकास होता है। वह नारी की सम्पूर्ण मादकता का उपभोग चाहता है। उसका कहना है कि नारी के उन्मुक्त मन पर किसी प्रकार का बंधन उचित नहीं है और चरित्रनिष्ठा का प्रश्न उसके सामने आता ही नहीं। वह नारी को केवल मात्र नारी के रूप में देखना चाहते हैं जो प्रत्येक पग पर पुरुष की साथिन हो।

हरीश इस सृष्टि को मैथुनी मानते हैं और इसीलिए नारी से विरक्त हैं। यह भारतीय क्रान्तिकारी की विशेषता और दुर्बलता है। लाल पश्चिमी क्रान्तिकारियों को आदर्श मानते हैं और क्रान्ति-पथ को ज्यादा अधिक विस्तृत करना चाहते हैं। उनके लिए चरित्र का स्खलन महत्वपूर्ण वस्तु नहीं है। महत्वपूर्ण यह है कि नारी अपनी समस्त भावना को अर्पित कर सकती है या नहीं। वास्तव में ये दोनों पात्र दो सिद्धान्तों के प्रतीक हैं। एक पश्चिम की ओर मैक्सिमी और नैरीबाल्डी को देखता है और दूसरा अपने

देश की नैतिकता प्रधान क्रान्तिकारिता को जो एक चरम छोर में महात्मा गांधी में मूर्तिमान हो उठी थी।

उपन्यास के अन्त में हम यह देखते हैं कि हरीश ने क्रान्तिकारी दल को भंग कर दिया है। इससे यह स्पष्ट है कि लेखक यह समझता है कि आदर्शमिक आध्यात्मिक क्रान्तिकारिता इस युग में सफल नहीं हो सकती। लाल के रूप में क्रान्तिकारी नेता का एक नया आदर्श हमारे सामने आता है जो हमारी अपनी परम्पराओं से हटा होने पर भी अधिक सजीव और सशक्त है। परन्तु लाल की अपेक्षा हरीश हमारे मन पर अधिक छाप छोड़ते हैं। उनमें लेखक ने अपरिसीम उदारता और निर्दोष क्षमा भाव रखा है और उनके कठोर व्यक्तित्व के भीतर एक अत्यन्त कोमल हृदय की स्थापना है। उपन्यास में द्वन्द्व की स्थिति सूक्ष्म रूप से हरीश के चरित्र में ही है। वह अपने सिद्धान्तों से लड़कर हार जाते हैं और अन्त में लाल के बचने के लिए मार्ग निकाल कर स्वयं अपने को पकड़ा देते हैं। इस प्रकार हार में ही उनकी विजय अन्तर्हित है। हिंसात्मक भूमि पर भी इसे हम गांधीवादी विजय ही कह सकते हैं। सिद्धान्त के प्रतीक होने के कारण ये दोनों चरित्र उभर नहीं पाते हैं। वास्तव में "सुखदा" में औपन्यासिक मांसलता कम है और सैद्धान्तिक चमत्कार अधिक।

जहाँ तक देश-काल का सम्बन्ध है लेखक उसकी कोई विशेष सूचना नहीं देता। परन्तु यह घटना १९३४-३५ के आसपास की कल्पित की जा सकती है। इसी समय गांधी जी ने क्रान्तिकारी दलों को चुनौती दी थी और उन्हें स्पष्ट रूप से कार्यक्रम लेकर प्रकाश में आने को कहा था। गांधी जी की इस चुनौती के कारण विभिन्न क्रान्तिकारी दलों को अपने भीतर देखने का मौका मिला और अन्त में हिंसा-अहिंसा और व्यापक राजनीति के प्रश्न सामने आये। फलस्वरूप अनेक क्रान्तिकारी दल तोड़ दिये गये। जैनेन्द्र ने इस घटना को देश की राजधानी दिल्ली में स्थापित किया है। परन्तु अपने समस्त उपन्यासों की तरह जैनेन्द्र इस उपन्यास में देश-काल को अधिक महत्व नहीं देते। वह हिंसा-अहिंसा और नारी-जीवन की मूलगत समस्याओं को सामने लेकर आते हैं और इस प्रकार उनकी कथा देश-काल निरपेक्ष बन जाती है।

उपन्यास की सब से अधिक विशिष्टता लेखक की व्यक्तिगत भाषा-शैली और उसकी वह कलात्मक सूक्ष्म संवेदना है जो मानसिक घात-प्रतिघातों को बड़ी बारीकी से पकड़ने में समर्थ है। जहाँ "त्याग-पत्र" और "कल्याणी" में जैनेन्द्र की भाषा-शैली नीरस बन गई है और वक्तव्य इतना सूक्ष्म एवं संकीर्ण हो गया है कि उसमें साहित्यिक कला की गुन्जाइश ही नहीं रह गई है वहाँ इस उपन्यास में हम भावना का अनेक-रूपी विकास देखते हैं। परन्तु यह कहना कठिन है कि जैनेन्द्र के सभी मनोवैज्ञानिक और मनोविश्लेषण-शास्त्र की मान्यताओं पर पूरे उतरते हैं। वह स्वयं पात्रों को कितना समझ सके हैं यह कहना कठिन है। उपन्यास के सभी पात्र भावोद्वेलित हैं किन्तु स्वयं पात्रों

को अपनी भावना का सूत्र प्राप्त नहीं है। फलस्वरूप पात्रों के चरित्र अस्पष्ट और अति आदर्शवादी हैं। उपन्यासकार उनके मन को टटोल कर चलना चाहता है किन्तु पात्रों के आकस्मिक भाव-विस्फोट में वह अपना मार्ग खो देता है। यह इस उपन्यास की सब से बड़ी दुर्बलता है। यह कहना कठिन है कि जैनेन्द्र भाव-वैषम्य को क्यों प्रधानता देते हैं पर सम्भवतः उनके कठोर दार्शनिक व्यक्तित्व के नीचे एक अतिस्पन्दित भावुक हृदय है जो विचारशीलता का दम भरता हुआ भी भावनाओं में डूबता-उतराता रहता है और अपनी थाह नहीं पाता। इस प्रकार जैनेन्द्र के व्यक्तित्व की तरह ही "सुखदा" की कथा और उसके पात्र अबूझे रह गये हैं।

६

विवर्त

"विवर्त" (१९५३) जैनेन्द्र की "घरे-बाहरे" त्रयी की अन्तिम कड़ी है। पीछे जाने पर "सुनीता" और "सुखदा" से उसका नाता जुड़ता है। इन तीनों उपन्यासों में नारी के बहिर्गमन के प्रश्न को लेखक ने उठाया है और घर-बाहर के सम्बन्ध को लेकर परिस्थितियों का निर्माण किया है। तीनों की विषयवस्तु बहुत कुछ समान है यद्यपि नई नई परिस्थितियों के आकलन और उपन्यासकार की विचारगत सूझ के कारण तीनों कथाओं में कथा-रस की भिन्न-भिन्न स्थितियाँ सामने आती हैं। परन्तु जहाँ पिछले उपन्यासों में घर-बाहर और क्रान्तिकारी जीवन की समस्याएँ बाहरी समस्याएँ हैं वे एकात्म नहीं हो पाई हैं वहाँ "विवर्त" में वे द्वन्द्व खोकर एक हो गई हैं। 'सुनीता' में श्रीकान्त-सुनीता-हरिप्रसन्न का त्रैत है, "सुखदा" में कान्त-सुखदा और लाल हैं तो "विवर्त" में बैरिस्टर नरेश, भुवनमोहिनी और जितेन (महर्षि) हैं। "सुनीता" में हरिप्रसन्न में क्रान्तिकारी सूझ-बूझ है परन्तु उसमें कर्तृत्व नहीं है। उसकी सम्भावनाओं पर ही कथा-सूत्रों का निर्माण किया गया है यद्यपि अन्तिम पृष्ठों में क्रान्तिकारी योजना का आभास अवश्य मिल जाता है। "सुनीता" का प्रेरणा-स्रोत कवि-गुरु का "घरे-बाहरे" है और कथासूत्रों को एकान्ततः ग्रहण कर भी लेखक उनसे आगे नहीं जा सका है यद्यपि दावा उसने ऐसा किया है। "सुखदा" और "विवर्त" के लेखक के सामने कवि-गुरु की एक और रचना "चार अध्याय" रही है और उसकी विरल कथावस्तु को लेखक ने अपने उपन्यासों में पृथुल बना कर उपस्थित किया है। "चार अध्याय" में रवि बाबू ने "घरे बाहरे" की समस्या नहीं उठाई है परन्तु जैनेन्द्र दोनों समस्याओं को एकसूत्र बना कर चले हैं। इससे जहाँ कथा मनोनिष्ठ हो गई है वहाँ उसकी प्रभविष्णुता भी चली गई है वह शिथिल बन गई है। जो हो यह स्पष्ट है कि "विवर्त" में "सुनीता" और "सुखदा" की कड़ियों का ही विकास है। "सुनीता" में शक्तिनिष्ठ नारी पति के आग्रह पर ही घर से बाहर जाने का साहस करती है, अरण्यगमन पर पति की ओर भी प्रिय बन जाती है। "सुखदा" में पति और पत्नी के बीच बड़ा अन्तर है, पति की ओर से उसे छूट है परन्तु घर से बाहर जाने का मार्ग लाल के परामर्श से ही खुलता है। सुखदा लाल की ओर आ

कर पति की नहीं रह जाती। यह नारी के बहिर्गमन का दूसरा रूप है। नारी पतिनिष्ठ रह कर ही बाहर जाने की अधिकारिणी है नहीं तो भीतर का केन्द्र टूट जाने पर बाहर मर्मोत्सर्ग ही हाथ आती है। तीसरी स्थिति विवर्त में कल्पित की गई है। यहाँ घर बसाने से पहले ही नारी (मोहिनी) किसी दूसरे (जितेन) की हो गई है। कदाचित् प्रेमी से विद्रोह करके ही वह घर बसाती है। परन्तु विद्रोह भूलकर वह बैरिस्टर नरेश की ही हो जाती है। चार वर्षों के बाद एक दिन जब जितेन गाड़ी उलटकर आश्रय पाता है तो वह विद्रोह जग जाता है और मोहिनी पति और प्रेमी के बीच में झूलने लगती है। वह जितेन को बचाना चाहती है परन्तु बचा नहीं पाती। पति की अपरिसीम उदारता के कारण उसका पत्नीत्व अब भी सुरक्षित है। "सुखदा में पति की उदारता की एक सीमा है और स्वयं सुखदा का मन अपने पापाचार से प्रताड़ित होने के कारण उससे हट जाता है। फल होता है कि सुखदा अपना अकेला जीवन जीने के लिए छोड़ दी जाती है। परन्तु वह सफल नहीं होती। उसके भीतर की वेदना उसे तोड़ देती है। यहाँ पति को अकल्पित रूप से उदार बनाया गया है। फलस्वरूप घर नहीं टूटता बना रहता है और नरेश भी नरेश रहता है यद्यपि मोहिनी का हृदय टूट गया है और उसके टूटने की आवाज स्पष्ट ही सुनाई पड़ती है। इस प्रकार इस उपन्यास में जैनेन्द्र ने पति नाम के प्राणी की जो प्रतिमा गढ़ी है वह श्रीकान्त और कान्त से अधिक उदार, आकर्षक और अभिजात्यपूर्ण है यद्यपि यह उदाराशयता आदर्श जगत् की ही वस्तु हो सकती है। यह स्पष्ट है कि जैनेन्द्र पत्नी के स्वतन्त्र जीवन जीने की आकांक्षा को अनैतिक और अव्यावहारिक नहीं मानते (पता नहीं पति के लिए वह ऐसी व्यवस्था को क्या मानेंगे) और पति से इस विषय में अपरिसीम उदारता का आग्रह करते हैं। यह उदारता ऐसे प्रेमी के प्रति है जिसे उच्च प्राण और क्रान्तिकारी होने के कारण नारी का सहज आकर्षण प्राप्त है। परन्तु यह तो उपन्यास की कथा के लिए योजना है। प्रश्न मूल रूप से पति की उदारता और पत्नी के प्रेम की स्वीकृति का है। तन-मन के द्वन्द्व लेखक इस सैद्धान्तिक भूमि पर ही उपस्थित करता है और उपन्यास की नायिका तन-मन के बीच में झूलती है। पति को तन देती है और मन का बहुत बड़ा भाग देती है परन्तु क्या प्रेमी को मन का कोई अंश भी वह न दे सकेगी। स्पष्ट ही यह स्थिति विषम है। परन्तु जैनेन्द्र ने औपन्यासिक त्रिकोणीय द्वन्द्व को जनसमाज में केन्द्रित न कर पति-पत्नी के दो व्यक्तित्वों में ही केन्द्रित किया है। पति का प्रेम जब तक शुद्ध नहीं होता दैहिक मात्र ही रहता है तब तक पत्नी की सम्पूर्ण उपलब्धि नहीं है। वह पत्नी के प्रेम-प्रसादित मन को ही पाकर पूर्णता पाता है। जैनेन्द्र का समाधान है कि नारी पति को पत्नीत्व देकर भी प्रेमी को नारीत्व (स्नेह) तो दे ही सकती है जो उसकी प्रेरणा बन सके। पता नहीं यह समाधान कहाँ तक उचित होगा क्योंकि प्रेमी प्रेम ही माँगता है (मन ही नहीं मन के साथ तन भी लगा है) केवल आत्मिक स्नेह (प्लाटोनिक लव) उसे कैसे तृप्ति देगा।

इसीलिए प्रेमी या तो हरिप्रसन्न की तरह पलायन कर जाता है, या लाल की तरह टूट कर मनुष्य हो जाता है या फिर जितेन की तरह जेल की कोठरी में ही अपनी सुरक्षा समझ लेता है। वास्तव में प्रेमी और पति के द्वन्द्व का यह कोई समाधान नहीं है। विवाह की संस्था को स्वीकार बनाये बिना समाधान कैसे सम्भव हो सकेगा और विवाह का सम्बन्ध प्यार से है मानो अर्जित सम्पत्ति से। फलस्वरूप केवल मनोवैज्ञानिक यह प्रश्न नहीं है। यह अधिक सामाजिक नैतिक भी है कदाचित् उतना ही जितना मनोवैज्ञानिक। मन मन की उदारता मात्र से इस प्रश्न का समाधान कैसे और कहाँ तक हो सकेगा कहना कठिन है।

कवि ठाकुर ने अपने एक निबन्ध में नारी के इस द्विविध रूप की व्याख्या की है और कुछ कविताओं में भी नारी के इस द्विविध रूपों को देखा है। नारी प्रेममयी है परन्तु वह मातृत्वमयी भी है। वह प्रेमिका है तो मां कम नहीं है। सभी नारियाँ एक ही मात्रा में प्रेमिका और माता नहीं होती। किसी में प्रेम-वृत्ति अधिक है किसी में मातृ वृत्ति। प्रेममयी नारी भी अन्त में मातृमयी (स्नेहमयी) बन कर ही सार्थक होती है। एक अधिकार चाहती है दूसरी बलिदान। कदाचित् दोनों के चरितार्थ होने में ही नारी जीवन की पूर्णता है। जैनेन्द्र इसका समाधान यों करना चाहते हैं कि पति के प्रति अधिकार (या ममत्व प्रेम) चले तो निराश और विफल प्रेमी के प्रति मातृत्व (सेवा स्नेह) चले। वह प्रेमी को एकदम अस्वीकार क्यों कर दे। परन्तु स्वीकार करने की भी सीमा कहाँ है, यह जैनेन्द्र ने नहीं बतलाया। उन्होंने अन्त में नारी की इस दिशा में बढ़ने की अक्षमता ही प्रगट की है और स्वयं प्रेमी या तो पलायन को ओढ़ लेता है या घर की चहारदीवारी को स्वीकार कर लेता है। यह क्या वास्तविकता नहीं है? क्यों वह जगत् के कर्म-संकुल पथों में अपने प्रेम की प्रेरणा लेकर नहीं चल सके? क्यों वह विफल प्रेम में भटक कर केवल विवाह की सामाजिक संस्था को ढीला करने का प्रयत्न करे? इसमें सन्देह नहीं कि वैवाहिक सम्बन्ध के नाम पर अनुदार बनना विवाह को छोटा करना है परन्तु इसे सामाजिक सन्देश के रूप में कैसे ग्रहण किया जा सकेगा? जब तक विवाह और परिवार की संस्था है तब तक नारी घर से बाहर निकलने की छूट अकारण ही कैसे पायेगी?

'घर-बाहर' अथवा पत्नी के प्रेमी के प्रति उत्तरदायित्व को लेखक ने इतना विस्तार दे दिया है कि जितेन के क्रान्तिकारी जीवन की क्रान्तिकारिता नष्ट हो जाती है। वह पहले प्रेमी है मध्य में क्रान्तिकारी है (यद्यपि प्रच्छन्न रूप से प्रेमी ही है क्योंकि उसकी क्रान्तिकारिता निष्फल एवं प्रताड़ित प्रेम की ही उपज है भीतर की वस्तु नहीं) और अन्त में भी प्रेमी है। यह स्थिति उपन्यास के उत्तरार्द्ध को दुर्बल बना देती है जो केवल विचित्र घटनाओं और विचक्षण योजनाओं का समाहार मात्र रह जाता है। वास्तव में पहले बारह अध्यायों में कही गई जितेन-मोहिनी-कान्त की कथा ही प्रमुख कथा है और

बड़ी में लेखक सूक्ष्म भाव-तरंगाघात उत्पन्न कर सका है। उत्तरार्द्ध में वह "ग्रौपन्यासिक" बन गया है। उससे पूर्वार्द्ध का मेल स्थापित नहीं हो पाता। सच तो यह है कि इस उपन्यास में जैनेन्द्र ने स्पष्टतः ही क्रान्तिकारियों के साथ अन्याय किया है और उनके दुर्बल पक्षों को ही अधिक उभारा है। उन्हें निराश या प्रताड़ित प्रेमी बना कर वह कोई बड़ी उपलब्धि नहीं कर सके हैं। आखिर क्या है जितेन की क्रान्तिकारिता? तिन्नी और बारह "बालकों" को लेकर उसने क्रान्तिकारी जीवन का जो वह बरौंदा रचा है उसमें सार्थकता कहाँ है? वह दल के प्रत्येक सदस्य को एक हजार रुपया देकर दल को तोड़ने की व्यवस्था जितेन करना चाहता है। दल तोड़ देता है क्योंकि उसने मोहिनी को खोकर लौटा दिया है और उसे विश्वास है कि मोहिनी ऐसी ही व्यवस्था कर देगी। परन्तु इसमें देश-धर्म कहाँ आया? इस क्रान्तिकारिता को वर्ग-संघर्ष पर खड़ा किया गया है इसलिए कि वर्ग भेद के कारण ही मोहिनी जितेन की नहीं हो सकी। कदाचित् इसीलिए जितेन का प्रताड़ित मन सामाजिक समभूमि का निर्माण करना चाहता है। अमीरों का धन पर कोई अधिकार उसे स्वीकार नहीं है और वह उस उनसे छीनकर गरीबों को दे डालना चाहता है। यही उसकी क्रान्तिकारिता है। परन्तु कुण्ठित प्रेम के आगे यह क्रान्तिकारिता कब तक चल सकती? वह नहीं चल सकती।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि "विवर्त" में जैनेन्द्र दल-संघर्ष के रूप में एक नई क्रान्तिकारिता उपस्थित करते हैं जो देश-सम्बन्धी क्रान्तिकारिता से भिन्न है। नई परिस्थितियों पर उसकी नजर है। परन्तु महायती जीवन की भूमिका उभारने में वह पूर्णतया सफल नहीं हो सके हैं। तिन्नी के अभिजात्य जीवन का जो चित्र उन्होंने बैरिस्टर नरेशचन्द्र और भुवनमोहिनी में दिया है वह स्वयं लेखक की आकांक्षा और वितृष्णा का विषय होने के कारण भले ही आकर्षक हो गया हो परन्तु उसमें वह सिद्धहस्तता नहीं है जो 'सुनीता' के मध्यवित्तीय जीवन में या इसी प्रकार की अन्य कृतियों में है। परन्तु सम्भवतः जैनेन्द्र द्वारा कल्पित पति की उदारता इसी अभिजाती जीवन में सम्भव हो सकती है जहाँ धन की सुविधा है और प्रेम शोभा मात्र है जहाँ विवाह घर को सनाथ रखने के लिए है और उसमें सरलता है, स्निग्धता नहीं भीतर की ज्वाला कम है प्रकाश अधिक है। इसी से जैनेन्द्र का समाधान और भी हास्यास्पद हो उठा है।

२

क्या है वह मर्म-वेदना जिसे जैनेन्द्र ने 'विवर्त' की कथा का मूलाधार बनाया है? जितेन मोहिनी का क्यों नहीं हो सका? प्रतिरोध किसकी ओर से आया जितेन की ओर से या स्वयं मोहिनी की ओर से? क्या हम स्थिति से जैनेन्द्र परिचित नहीं था? फिर दोषी कौन है वह या मोहिनी या अदृश्य संस्कार? ये कुछ प्रश्न हैं। जितेन मध्यवित्ती है, इतना सही जानना। मोहिनी स्वर्ग के सपने में भूली हुई है वह

सीधी बम्बई उड़ जाना चाहती है। परन्तु जितेन चाहता है कि वह "बाप के घोंसले" को छोड़ कर (या अमीरी छोड़ कर) गरीबी की भूमि पर उड़े जिसे मोहिनी के लिए सम्भव नहीं है। मोहिनी संस्कारनिष्ठ है, उसकी यह दुर्बलता अन्त तक बनी रहती है। परन्तु जितेन्द्र दृढ़विचारी है, मुखर है। प्रारम्भ में ही इस द्वन्द्व-स्थिति का चित्रण लेखक ने विस्तारपूर्वक कर दिया है और इस सम्बन्ध में वह दो टूक है। मोहिनी जब जितेन को भावप्रवणता न समझ कर पूछती है कि वह बताये वह क्या चाहता है तो वह उत्तर में कहता है "तुम ठहरी अमीरजादी मैं मेहनत करके खाता हूँ। पाई पाई पसीने के बल मुझे कमानी होती है। फिर हमारे बीच यह क्या हो गया है? सोच लो मोहिनी कहीं तुम से भूल तो नहीं हो गई।" नारी की स्वाभाविक मर्मदृष्टि से मोहिनी देख लेती है कि जितेन का प्रेम उखड़ा-उखड़ा हुआ है। वह इतना प्रगाढ़ नहीं है कि उसमें सामाजिक विषमता विलीयमान हो जाय। वह दुनिया को वर्गों की निगाह से देखता है अमीर-गरीब उसके लिए जितने सत्य हैं उतना प्रेम नहीं। अहेतुक प्रेम उसमें नहीं है। वह प्रेम को प्रेमराज की ही देखता है, जिस में अहं के बलिदान की शक्ति है वह प्रेम जितेन का नहीं है। वह प्रेम के उस उच्च स्तर पर नहीं उठा है। मोहिनी उसकी इस द्विधा को जान लेती है और वही मार्ग पकड़ती है जो प्रत्येक नारी ऐसी स्थिति में पकड़ती है। वह प्रथम प्रेम से प्रताड़ित होकर अपने से भागती है अर्थात् विवाह का भार पिता पर डाल कर स्वयं मुक्त हो जाती है। पिता के पूछने पर व्याज से वह जितेन को ही जैसे उत्तर देती है "तुम जो हो हो। हर एक को खुद होने की स्वतन्त्रता है। मैंने जाकर किसी से पूछा नहीं कि तुम अमीर क्यों नहीं हो? ऐसे ही कोई हम से भी नहीं पूछ सकता कि हम क्यों अमीर हैं? जाकर पूछो भगवान् से जाकर पूछो कानून से। अपनी-अपनी पसन्द है। जिसे नहीं पसन्द है गरीबी वह अमीर बनना चाहने को स्वतन्त्र है जिसे अमीरी नहीं चाहिए वह आज़ाद है कि अमीर न बने। उसमें कहने-सुनने की क्या बात है?" अन्त में वह बैरिस्टर नरेश की पत्नी बन जाती है और विवाह को चार वर्ष से ऊपर हो जाते हैं।

इन चार वर्षों में जितेन का क्या-क्या हुआ है, यह हम इन अध्यायों को पार करने पर ही जान पाते हैं। वह क्रान्तिकारी बन गया है। एक दर्जन आदमी उसने अपने चारों ओर जोड़ लिए हैं और एक अकालग्रस्त बंगाली से उन्नीस वर्ष की तिन्नी को भी ले लिया है जो उसका छोटा-सा घर चलाती है। परन्तु उसके भाव भी हैं मन की नहीं। वह उसे अपना मन नहीं दे सका है, मन उसका काम में है। यह अवश्य है कि तिन्नी के आत्मसमर्पण ने उसे ऊँचा उठाया है। स्वयं वह तिन्नी के लिए अनाक्रमक और अबाध है, परन्तु इससे उसके लिए उस मातृत्वमयी नारी की सार्थकता कम नहीं होती। इस तरह व्यक्तियों को एक छोटे-से परिवार के रूप में लेकर जितेन क्रान्ति करना चाहता है। वह अमीरों को उखाड़ देगा। उनके धन को वह गरीबों में बाँटेगा। परन्तु यह व्यक्ति-

कारिता अन्त में प्रेम प्रताड़ित मन का विक्षोभ मात्र रह जाती है। आखिर क्या है यह अमीरी के प्रति विक्षोभ जो जितेन को रेल उलट कर और इन-आइनों की एक लम्बी शृंखला खड़ी कर देने पर उतारू करता है? क्या यह वर्ग-संघर्ष है अमीरी को मिटाना है या अपने को खोना है? जितेन अपने को धोखा देता है। वह क्रान्ति का दम भरता है परन्तु भीतर-भीतर भुवनमोहिनी की अमीरी के प्रति आक्रोशग्रस्त है। वह उसे गरीब प्रेमी की सामर्थ्य दिखाना चाहता है। वह उसे बताना चाहता है कि अमीर नरेश में ही सार्थकता नहीं है उसमें भी सार्थकता है वास्तव में बड़ी सार्थकता उसी में है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि जितेन भ्रमग्रस्त है और इस भ्रम से उसके भीतर (और उपन्यास में बाहर भी) भ्रम की सृष्टि हुई है। वह दुर्बल चरित्र है परन्तु प्रेम में दुर्बल होने पर भी वह अपने को दृढ़ प्रतिज्ञ व्यावहारिक और कमठ क्रान्तिकारी सिद्ध करना चाहता है। इसमें उसके भ्रम को बल मिलता है। मन की कुण्ठा कर्म के रूप में बाहर आती है तो वह अपने अस्तित्व के प्रति आश्वस्त होता है। कहा जा सकता है कि जितेन भुवन मोहिनी के कहने पर नहीं आता तो कथा ही नहीं बनती। परन्तु जितन का क्रान्तिकारी रूप छद्म है। गाड़ी उलट कर भुवनमोहिनी के सम्पर्क का आश्रय पाने में ही उसकी सार्थकता है।

भुवनमोहिनी का सम्पर्क उसे मिला परन्तु वह प्रेमिका का सम्पर्क नहीं करुणा मयी नारी का सम्पर्क है। उसमें मातृत्व की तरलता है प्रेम का उत्ताप नहीं। फलतः बीमारी से सँभलने पर जितेन परिस्थिति को समझ कर अपनी हार स्वीकार कर लेता है पर सपना टूटने पर उसे आक्रोश भी कम नहीं होता। वह चीत्कार कर उठता है "ओह तो आप मुझे बचाना चाहती है। वैसे ही आपकी मेहरबानियाँ बहुत हैं। जो नहीं अपना इन्तजाम मैं कर लूँगा।" वह मोहिनी के प्रति सदृगहस्त हो जाता है "मोहिनी जानता हूँ कि तुम श्रीमती हो। समझदार हो गई हो। सम्भ्रान्त हो जिम्मेदार हो। बड़े कुल की आन और लाज तुम पर है। लेकिन इस बूते मुझ पर दया ही करते न बन पड़ेगा। तुम्हारा सब तुम्हारे पास रहेगा। आन को आँच न आयेगी। भरोसा रखो कि जिसको कुछ की तरह दूर दूसरे जिले में तुम छोड़ आना चाहती हो वह दूर तुम से दूर रहेगा। इतनी दूर कि तुम्हें कल्पना भी नहीं होगी। मैं आ गया क्योंकि समझता था कि तुम में कुछ बचा होगा। लेकिन आकर देख लिया। अब फिर वह गलती मुझ से होने वाली नहीं है। तुम जिस लोक की हो मेरा उससे सम्बन्ध नहीं। मैं जिस दुनिया में हूँ वहाँ चैन का नाम-निशान नहीं। देख चुका हूँ कि तुम चैन से और रह सकती हो। बस और मुझे नहीं जानना है। इसलिए अब तुम जाओ और तुम्हें कसम है जो मेरे बारे में कुछ सोचो या इन्तजाम के बारे में सोचो। नागफांस मैंने ही तो बोये हैं। तो मैं ही उन्हें काट और भोग लूँगा। तुम्हारा दामन उससे पाक रहेगा। बस और तुम्हें क्या चाहिए? इज्जत चाहिए, पवित्रता चाहिए। तब मोहिनी ने प्रश्न का

था। समझता था ये चीजें तुम्हें भाती नहीं हैं तुम्हें कुछ और चाहिए। लेकिन
है जिन शायद पुराने हुए कि जब चलो वह सब बीत गया। अच्छा हुआ कि बीत
गया। इस प्रकार वह मोहिनी के भीतर की ममतामयी प्रेमिका को उकसाना चाहता
है परन्तु यह सम्भव नहीं होता। मोहिनी जब बाहर से आया हुआ पत्र उसे देकर साथ
बात करती तो उसकी वाणी की याद ता में प्रेमी का अधिकार पढ़कर जितेन कह बैठता
है 'तुम मन में क्यों कष्ट पाती हो मोहिनी ? मेरे लिये खतरा है सो तो ठीक ही है
पर मैं तुम्हारे लिए जो खतरा हूँ यह सोचने से मुझे कैसे बचा सकती हो ? कितना बड़ा
बोझ तुम्हारे मन पर है यह क्या मैं नहीं जानता हूँ ? गलती हुई कि तुम्हारा रास्ता
काटने मैं आया। दो जन अपनी-अपनी राह जा सकते थे। फिर यह मुझे क्या हुआ ?
यहाँ वृत्ति भेद है वर्ग भेद है। फिर मुझे क्या हुआ कि अपनापन देख बैठा ? माफ करना
मैं अपनी राह कैसे छोड़ूँ ?" यह स्पष्ट है कि वृत्ति भेद और वर्ग भेद की बात झूठी है।
यह आत्मप्रवंचना है। इस आत्मप्रवंचना को सार्थक बनाने के लिए (अर्थात् सुमन
मोहिनी के मानस शान्तिकारी बनने के लिए) ही वह उसके जेवरों की चोरी करता है,
परन्तु अन्त में उसका प्रेमी मन उसे धिक्कारता है और वह दल को तोड़ कर जेवर लौटा
देता है। बीच के सारे प्रसंग भीतर से ममत और तरल होते मन को छिपाने के प्रयत्न-
मात्र हैं। मोहिनी के लिए प्रतिदान कुछ नहीं है वह पूर्णतः प्रतिष्ठित है बलपूर्वक चाहे
तो वह उसे नहीं मिल सकती। इस सत्य को समझती पर वर्गों का अँधेरा सामने से हट
जाता है। नारी नारी है प्रेम वर्गों से ऊपर है। बैरिस्टर नरेश के प्रति क्या मोहिनी का
कोई कर्तव्य नहीं है। जितन का प्रेम ही अब उसके लिए अन्तर्दाह बन पाया है। उसने
जितन के मन की दुबलता को ठीक ही पहचाना था और इसी से वह विश्वासपूर्वक नरेश
की हो सकी। नरेश से प्रतिरोध पाकर जितेन के प्रति उसका प्रेम भड़कता परन्तु उधर
से उदारता और सहानुभूति पाकर घर का बन्धन दृढ़ हो जाता है और बाहर का प्रहार
विमुख हो जाता है। फलस्वरूप बन्धन-संघर्ष का वर्णन बहुत दूर नहीं जा सकता। सभी
मोहिनी के काठिन्य से जितन का गर्व सीमा पर जाता है और उसे अपने मन की दुर्बलता
का स्वीकार करना पड़ता है। इस ईश्वर मनस् को लिम्मी भलीभाँति समझ गई है क्योंकि
नारी प्रकृत्या भावुक है अपनत्व दृष्टि-सम्पन्न प्रेम और प्रताड़ना का वह भलीभाँति
समझती है। वह पूछती है "एक बात पूछूँ बहन ! तुम्हारे यहाँ वह बीमार रहे थे।
तुमने सेवा से उन्हें अच्छा किया। फिर वह ऐसा क्या करते हैं ? तुम्हें क्यों सताते हैं ?
मोहिनी के पास इसका उत्तर है कि वह उसे अमीरी का दण्ड देते हैं। परन्तु जब लिम्मी
और भी आगे बढ़ कर पूछती है बहन बुरा न मानना। तुम उन्हें क्या सताती हो"
तो मोहिनी स्तब्ध रह जाती है। लिम्मी कहती है "देश को बहन हम लोगों के पति भी
होते हैं परमेश्वर भी होते हैं। पति को परमेश्वर भी मानने को कहा गया है। क्या यह
इसीलिए नहीं है कि प्रेम का अस्वीकार हमारा धर्म नहीं है। तुम क्यों उनके प्रेम को

पीछे स्वीकार नहीं कर सकी ? विवाहित थी तो ।" यही मोहिनी उसे रोक देती है। कहता है 'जितेन नहीं मैं तुम्हें बहकने न दूँगी ।

परन्तु यह रोकना क्यों ? इसीलिए न कि मोहिनी अपने भीतर के दर्द को देखना नहीं चाहती अपने व्यक्तित्व के चरम नारी-भाव को वह छिपाना चाहती है। परन्तु क्या यहाँ स्वयं जैनेन्द्र का पति-प्रेमी के प्रति पत्नी (नारी) के दृष्टिकोण वाला दर्द अन्य पत्नियों में नहीं पहुँच गया था। वास्तव में इस त्रिकोण के दो कोण इस तरह बढ़ते गये (उभार होते गये) कि तीसरे कोण का पराभव अवश्यम्भावी था। अतः प्रेम का स्वीकार करने की बात यहाँ उठी ही नहीं। मोहिनी का अपरिसीम सेवा भाव और पति प्रेम और नरेश की पत्नी के प्रति अपार आस्था ऐसे तथ्य हैं जो जितेन का विफल कर देते हैं। स्वयं जितेन को पता लगता है कि वह विवर्त में पड़ा है वह अपने भीतर के अन्ध गर्त में घिर गया है जहाँ वह की दुर्बलता और आत्मकुण्ठा को उसने क्रान्ति की पुकार मान रखा है। उसका दुर्बल मन अमीरजादी मोहिनी के प्रति आतंकित है अविश्वस्त है इसी से वह उसके प्रेम को स्वीकार नहीं कर पाता। कह सकता है कि वह अपनी वर्गीय कुण्ठाओं में बँधा है। परन्तु मोहिनी पर अमीरजादी बनने का आरोप नहीं किया जा सकता यह कहा जा सकता है कि उसने जितेन को छला। यही विवर्त उसके भीतर है जिससे छुटकारा पाने के लिए उसे बाहर की जेल को स्वीकार करना पड़ा है। जितेन स्वयं यह स्वीकार कर लेता है कि बाहर उसी में था। "सब तो यही जानते थे कि वह साथियों का क्रान्ति का विश्व की शान्ति का काम कर रहे हैं। यह मैंने उन्हें बताया था। लेकिन भीतर से ही वह खुद नहीं जानता था। वे लोग जानते थे और मानते थे। मैं जानता भी नहीं था मानता भी नहीं था। इसी से शायद मैं मैला था। आगे सम्बन्ध में प्रसन्न था परन्तु उपन्यास के अन्त में 'विवर्त' की कथा की इस भूमि पर से जैनेन्द्र दार्शनिक के लहजे में बोलने लगते हैं तो असहनीय हो जाता है कि भूल यह है कि वह जेल है और हम कैदी हैं। जेल भगवान् की है कैदी हम भगवान् के हैं। एक यही हल है मोहिनी नहीं तो अपनी नहीं 'हाँ' की धुन लोपत रहें और 'हाँ' हम से कभी छूट न पावे (पृ० २२६) जितेन की इस विकलता में भगवान् कहाँ से आ बैठा यह जैनेन्द्र ही जानें। इतना अवश्य कहा जा सकता है कि जितेन की मोहिनी के प्रति घृणा घृणा नहीं थी वह प्रेम ही था परन्तु यह कोई बड़ा दर्शन नहीं है। बड़ा यों है कि स्वयं जितेन ने इसे स्वीकार किया परन्तु फिर भी वह अन्त में अपने को भगवान् का कैदी बता अपने प्रताड़ित मन को छलता है तो उसे क्या कहा जावे ? इस दुर्बलता से दर्शन के महान् प्रश्न उठाये जाते हैं कि "किसे मरना है और कौन किसे मार सकता है। जन्म-मृत्यु तो है बिना इनके सृष्टि नहीं। काम के ये अस्त्र हैं इन्हीं औजारों से उसकी रचना है। इस क्रिया में राम क्या और रूप क्या ? नहीं मोहिनी वह नहीं है। क्रोध नहीं है क्षमा नहीं है कुछ और है वह ही है, अन्यत् नहीं हो सकता।

नाश कर भी भगवान् नहीं हो सकता। उसकी हस्ती ही नहीं। जो नहीं है वह नहीं है। जितना भी कर लो भी कभी हो नहीं जायगा फिर भी जो असत् होता है क्यों होता है? मिथ्या क्यों हो जाता है? बुरा क्यों होजाता है? ईश्वर के सर्वशक्तिमान सर्व व्यापी रहते शैतान क्यों हो जाता है? कहाँ से हो जाता है? यही सवाल है।"

इस प्रकार आत्मप्रवंचना को भगवान् को सौंप कर (या अबूझे काल प्रवाह का अनिवार्य चक्र मान कर) समाधान पाने का प्रयत्न किया जाता है। प्रश्न फिर भी बने रहते हैं क्योंकि ऊहापोही प्रश्नों का तो अन्त ही नहीं। यह स्पष्ट है कि प्रश्नों से खेलना जैनेन्द्र खूब जानते हैं क्योंकि वह आश्वस्त भी हैं कि समाधान उनके पास नहीं है उन्हें देना नहीं है। इसीलिए विज्ञ की मुद्रा वे लिया करते हैं जो कभी-कभी दयनीय भी हो उठती है।

आखिर सभी प्रश्नों का अन्त भगवान् पर क्यों हो? परन्तु सामाजिक प्रश्नों के दूसरे छोर पर झलकने वाले सत्य की आँच न सह सकने पर ही क्या जैनेन्द्र भगवान् को नहीं ले आते जिससे पाठक भ्रम में पड़ जाये क्योंकि उस ब्रह्म को जानता कौन है? इस प्रकार जैनेन्द्र के उपन्यास सामाजिक क्रान्तिकारिता को कुण्ठित कर बैठे हैं और मूल बद्ध चिन्तन से चल कर आगे प्रश्न चिह्न पर ही समाप्त होते हैं। उन्हें समाज की यथा तथ्यता सह्य है। भीतर की क्रान्तिकारिता उनके व्यक्तित्व का अंग नहीं है। उनके भीतर का दार्शनिक (अकर्म्य स्वाधीन व्यक्तित्व) उनका बाहर के सामाजिक मन से पीछा छुड़ा कर अपने खोल में छिप कर अपनी सुरक्षा कर लेता है। क्या इसे 'कछुआ-धर्म' नहीं कहा जा सकता?

यह नहीं कहा जा सकता कि समस्या से जैनेन्द्र परिचित नहीं हैं। उन्होंने क्रान्ति धर्म की बातें विनोद के मुँह से खूब कराई हैं जैसे पृ० ८६ पर विनोद मोहिनी के उत्तर में कहता है 'तोड़-फोड़ से उलट-पुलट से क्या होगा? जानता हूँ कुछ नहीं होगा पर नींव तुम लोगों की ऐसे टूटेगी पर शायद टूटनी नहीं चाहिए, पड़नी होनी चाहिए। ऐसी कि वह नींव बन जावे। पर मैं भूल में हूँ। जिन्हें सोना है वे नहीं जागेंगे। मरना है वे जगें भी क्यों? लेकिन और बहुत से लोग हैं। तुम लोगों के बड़प्पन को अपने सिर पर लेकर उन्होंने अपने को नीच बनाया है। तुम्हारी ऊँचाई उनके नीचेपन पर टिकी है उन को तो जागना है। उनको जागना और जान लेना है कि यह धोखा है। धमाके की आवाज ही उनके कान में पहुँचेगी धर्म-उपदेश की नहीं। तुम लोग बैठे अपनी अहिंसा को लेकर। चींटियों को चूरा खिलाओ और हार पहनो और कठोर वचन से बचो। हमें कठोरता से ही काम बना है। ढकोसला बहुत हुआ। लाखों उसके पीछे परेशान हुए हैं। पैसा घुमता है और सभ्यता का जाल फैलता है। तुम्हारी यह दुनिया है। यह दुनिया बचाया नहीं रहने पायेगी। धर्म की सीढ़ी हुई आज भूल गई है, अवलम्बित जकड़ आई है। धर्म के धन पलता है और धन से धर्म पनपता है। इस षड्यन्त्र का भण्डाफोड़ कर देना

है। इसमें आगे आयेंगी और बेकसूर मरेंगे पर पाप भी इससे होगी।" परन्तु उनकी यह आशिकारिता उनके उस दर्शन में डूब जाती है जो सब कुछ अनिर्वचनीय मानता है सब कुछ प्रतीति अथवा माया। यह दार्शनिकता ही बन्ध्या है। जैनेन्द्र के शब्दों में दुनिया में कई पर्त हैं और आदमी में कई आदमी। है तो एक पर दीखता है प्रतीत होता है इसग है भिन्नता। प्रतीति होने से ही जगत् है। प्रतीति है माया इससे जगत् माया है। माया-ममता होने को धर्म है। यही होने का आनन्द यही उसका दम। अपनी प्रतीतियों से सब वर्तन करते हैं। इससे सदा नये-नये खेल पड़ते हैं। शायद होना और होते रहना छलना ही है। पर सोचो इस उपेक्ष-जुग में क्या रखा है?" इस प्रकार वास्तविक को अवास्तविक बना कर चलने से उपन्यास-कला की हानि होती है। दर्शन की उच्च भूमि से देखने पर हमारी क्षुद्र मानवीय संवेदनाओं की विवशता असाधक हो उठती है विराट् में क्षुद्र डूब जाता है परन्तु उपन्यास मानवीय संवेदनाओं की ही भूमि लेकर चलता है। मनुष्य के मन की दुर्बलताएँ ही उसका सत्य हैं। वह उन्हें प्रतीति-मात्र मानेगा तो उसके सर्जन में यथार्थ की शक्ति कहाँ से आयेगी? मौलिकता कहाँ से आयेगी यह स्पष्ट है कि यह दार्शनिकता का अतिरेक जैनेन्द्र की उपन्यास-कला की विडम्बना है। वह सहसा इतनी ऊँची भूमि से बोलने लगते हैं या उनके पात्र इतनी ऊँची धारणा-भूमि धारण कर बैठते हैं कि घटनाएँ नितान्त क्षुद्रता में अपनी सार्थकता खो देती हैं और पात्रों का तल धूमिल पड़ जाता है। कदाचित् घटनाओं और पात्रों का इस प्रकार कुण्ठित और प्रताड़ित करने से उपन्यासकार के अहं की सिद्धि होती है वह विधाता का प्रतिस्पर्द्धी बन जाता है और मनोविज्ञान एवं मनोविश्लेषण-शास्त्र की सारी मान्यताएँ जैसे तिरोभूत हो जाती हैं। वह सगर्व कह सकता है कि "जो है ऐसा है। परन्तु क्या वह यह भी नहीं जानता कि वह वास्तव में ऐसा नहीं केन्द्र में उसके सृष्टा का अहं सदर्प विराजमान है।

३

"विवर्त" है जितेन और मोहिनी के मन का। जब चेतना के पर्त-दर-पर्त खुलते हैं तो उन्हें पता लगता है कि व अपने से दूर भाग रहे थे और इसी में उन्होंने अपनी सुरक्षा समझी थी। परन्तु सुरक्षा ऐसे नहीं है। सुरक्षा है खुलने में। मन के आवर्तों में ही मरण है। "विवर्त" ही एकमात्र मार्ग है। परन्तु अन्धकार से प्रकाश में आना कठिन है। उसके लिए साहस चाहिए सत्यनिष्ठा चाहिए। वास्तव में सत्य से भाग कर अपने को सुरक्षित रखना ही हास्यास्पद है। जितेन और मोहिनी के लिए परस्पर का प्रेम बन्धन ही सत्य है परन्तु हम सत्य को स्वीकार ही कब करते हैं? हमारा सत्य और स्नेह बँटा हुआ है। यही विडम्बना है। जिसे हम सत्य अथवा व्यवहार (अथवा सामाजिक व्यवस्था) के लिए अपनाते हैं उसे हम अपना स्नेह नहीं दे पाते और जिससे स्नेह-सम्बन्ध जुड़ता है उसमें सत्य का सम्बन्ध स्थापित नहीं होता। वास्तव में यह दुहरी अव्यवस्था जीवन को अभिशाप बना देती है। हम भीतर के सत्य को बाहर करना नहीं चाहते और

अपने स्नेह-सम्बन्धों की पवित्रता आन्तरिकता को स्वीकार नहीं कर पाते। जैनेन्द्र ने इस समस्या की व्याख्या विस्तारपूर्वक की है [illegible] नहीं करते हैं। बहुत अपेक्षा अपना बाँध लेते हैं। ऐसे सच को छोड़ देते हैं झूठ को ओढ़ लेते हैं। झूठ के तो पैर होते नहीं हैं वह चल नहीं सकता चलता है तो सच के पैरों पर सवार होकर। बुद्धिमानी के जोर पर जब हम उसी को चलाने की जिद करते हैं तो गिर पड़ती है और लगता है जैसे हम हारते जा रहे हैं। पर हार यह हमारी नहीं होती सिर्फ मिथ्या की होती है—वैसे ही जीत हमारी नहीं होती सिर्फ सत्य की होती है। कैसे होगा योग इन दोनों का सत्य का और स्नेह का भगवान् जाने। लेकिन जैसे भी हो आदमी को यही करना है। स्नेह को भी नहीं छोड़ना है सत्य से भी नहीं डिगना है। स्नेह उसका जीवन है सत्य उसका जीवट है। दोनों के बिना वह कहीं नहीं है। लेकिन दोनों में मेल भी पूरी तरह नहीं बैठ पाता है यही उसकी समस्या है। इसी में उसका पुरुषार्थ है।

परन्तु यह समस्या को सूक्ष्मातिसूक्ष्म बना देता है। कहना यह है कि हम उसे क्यों नहीं अपना सकते जिससे हम प्रेम जोड़ते हैं? क्यों उससे भागते हैं और सत्य या व्यवहार की दीवार के पीछे मुँह छिपा लेते हैं। यही जितेन-मोहिनी के साथ हुआ। एक ने विवाह की चाह की दूसरे ने धर्म-संघर्षमूलक क्रान्तिकारिता की। दोनों ने अपने मन के अन्यतम स्नेह-सूत्रों की ओर से आँख मीच ली। अब क्या हुआ? जितेन चला गया। जेल और फाँसी की यातनाओं में उसने अपने मन की इस छलना का प्रायश्चित्त किया। और मोहिनी? क्या अब भी वह वही चंचल मुग्धमोहिनी है जो सपनों में उड़ना चाहती है? स्पष्ट ही वह नहीं है। वह टूट गई है। वह वह नहीं है उसके भीतर का केन्द्र ही लुप्त हो गया है। नरेश की उदाराशयता से घर कदाचित् अब भी चल सकेगा क्योंकि उसने दो हृदयों के टूटने का शब्द सुना है परन्तु मोहिनी वह पहली नहीं रही है। मनुष्य जब अपने भीतर के स्नेह को अस्वीकार करता है और लोक एवं शास्त्र की व्यवस्था लेकर चलता है तो यही होता है क्योंकि वह अपने से भागता है और भागने से भाग कर बहुत दूर जाया नहीं जा सकेगा।

जैनेन्द्र के इस उपन्यास में प्रेमगाथाओं का त्रिकोण परम्परागत स्थिति को छोड़ कर एक दूसरा ही रूप धारण कर लेता है। वह भीतरी व्यवस्था बन जाता है। वास्तव में वह त्रिकोण है, भी नहीं क्योंकि नरेश उदाराशयी है, खलनायक नहीं है। जितेन और मोहिनी के बीच में क्या है? अवचेतना कि मोहिनी परकीयागामी है। यह असत्य है क्यों-कि प्रेम क्यों मोटर-बंगला देखे जैसा मोहिनी मानती है। परन्तु क्या मोहिनी जितेन से भाग कर स्वयं अपने को नहीं छलती? यह माना जा सकता है कि वह जितेन के प्रति अपने प्रेम को चेतना के निचले पर्तों में छिपा लेती है परन्तु अन्त में तो भीतर का दर्द बाहर आकर ही रहता है। तब भी वह जैसे जान कर नहीं जानती। परन्तु एक समय आता है जब ऊपर का जीवन सहसा उतर जाता है और गृहिणी के अधिकार और कर्तृत्व

के नीचे प्रेमिका का समर्पित व्यक्तित्व स्पष्ट झलकने लगता है। यही "विवर्त" की कहानी है। परन्तु अपने को पहचान लेने पर भी अब क्या कोई मार्ग बचा है? शायद नहीं। क्यों विवाह की पवित्रता को जैनेन्द्र अब भी बनाये रखना चाहते हैं और मोहिनी के उदाराशयी पति नरेश के सहज प्रेम को (जो उसे अप्रत्याशित और भरपूर मिला है) कैसे ठुकरा दे। सच तो यह है कि यह समस्या समाधान के योग्य है भी नहीं क्योंकि मनुष्य का मन बराबर छलनाओं को जन्म देता रहेगा और वह बराबर मृग-मरीचिकाओं के पीछे दौड़ेगा। हाँ यह सम्भव है कि वर्गवाद जैसी असत्यता को बीच में न आने दिया जाये और स्नेह को यथार्थ रूप से स्वीकार किया जाय। यही "विवर्त" का सन्देश है। सत्य के प्रति आग्रही और उदाराशयी बनकर ही कदाचित् प्रेम-सम्बन्धी या वैवाहिक जीवन की विडम्बनाओं से बचा जा सकता है। हार्डी में वैवाहिक विडम्बनाओं के पीछे नियति है शरत् में चारित्रिक असमानताएँ जो कथा को मनोमिष्ठ बना देती है। परन्तु चेतना के पर्त के नीचे छिपे प्रेम (विवर्त) या असन्तोष (सुखदा) या अधिकार भावना एवं अर्थ लिप्सा (कल्याणी) या पवित्रता अपवित्रता का सामाजिक विश्वास (त्यागपत्र) मानते हैं। उन्होंने नारी को तन-मन के द्वन्द्वों में केन्द्रित करना चाहा है। मन प्रेमी का है, तन पति का है। फलतः नारी टूट जाती है। घर की सीमा का उल्लंघन वह नहीं कर पाती फलतः प्रेमी का जीवन दुःखान्त हो जाता है। वह पलायन या वेश में ही अपनी सुरक्षा समझता है। यह प्रेम की पराजय है या विजय यह नहीं कहा जा सकता।

१०

व्यतीत

'विवर्त' के बाद 'व्यतीत' आया है। यह जैनेन्द्र की नवीनतम रचना है। उपन्यास वह बड़ा नहीं है —केवल लम्बी कहानी कहिए जो आठ दस अध्यायों में कह दी गई है। यद्यपि वह जीवन की एक बड़ी विस्तृति सिमेट लेती है कवि जयन्त के जीवन के लगभग पच्चीस वर्ष। परन्तु इन पच्चीस वर्षों में कवि जयन्त ने क्या किया है? जैनेन्द्र का कदाचित् विश्वास है कि कोई करता क्या है होता क्या है? कवि जयन्त का कुछ हुआ है। सो उसे लेखक ने इन एक-सौ सत्तर पृष्ठों में सांकेतिक ढंग से कह दिया है।

हुआ चाहे जो हो उपन्यास के प्रारम्भ में लेखक हमें बताता है कि कथा का नायक टूट गया है —व्यतीत है। पैंतालीस वर्ष की अवस्था में ही वह बीत कर रह गया है। यों वह बहुत बड़ा है। दो-एक जगह उसके जन्म-दिन मनाने का भी आयोजन है। उस पर उसे हँसी आती है। इस टूटने की प्रक्रिया में कैसे वह इतना सम्माननीय हो उठा इसका कोई रहस्य लेखक हम पर नहीं खोलता।

कथा का त्रिकोण जयन्त अनिता और मिस्टर पुरी से बनता है। कथा जैनेन्द्रीय ही है। जयन्त के प्रति गहरा आसक्ति-भाव होते हुए भी अनिता मिस्टर पुरी से विवाह सूत्र में बँध गई है परन्तु उसके भीतर जो है उससे छूटना उसके लिए असम्भव है। वह जयन्त को छोड़ना नहीं चाहती उसके भवितव्य का सारा उत्तरदायित्व वह अपने ऊपर ओढ़ लेती है। टूटने की प्रक्रिया उस समय शुरू होती है जब जयन्त पिता-परिजन भविष्य की उपेक्षा करता हुआ आई० सी० एस० की परीक्षा से विरत होकर [illegible] की अखबारनवीसी पसन्द कर लेता है और कविता का बहाना लेकर अपनी अव्यवस्थित मन की आसक्ति को कर्मण्यता का भुलावा देता है। परन्तु भुलावा भुलावा है। वह कितने दिन टिक पाता? अनिता उसे ढूँढ लेती है और एक दिन उसकी दुर्गन्धित कोठरी में आ धमकती है। बताती है गली के बाहर मोटर में वह है उसके पति। फिर जयन्त के मना करने पर भी पूरे मन-प्राण से दफ्तर में जाकर अन्यमनस्क जयन्त को उसके मालिक से छुट्टी दिलवा कर पति के संरक्षण में 'जो' में ले जाती है। तीन सन्ध्याएँ ऐसे ही बीतती हैं और अन्त में रात के ग्यारह बजे घर पर अकेली पहुँच कर और पिता की मरणासन्न

स्थिति की खबर देकर अनिता जयन्त को उठाना चाहती है कि उसे स्वयं नीचे नहीं उतरना पड़े परन्तु जयन्त व्यवस्था मर्यादा और सामाजिक स्तरों की बात में उसे भुलाना चाहता है। पिता की मृत्यु होने पर जयन्त घर जाता है तो अनिता भी अपने पति मि पुरी के साथ पहुँच कर उसका सारा प्रबन्ध कर देती है। बँटवारे में जयन्त के हाथ ढाई हजार रुपया आया है। वह उसने बड़ी बहन को दे-दिया है। अनिता इसे ठीक नहीं समझती। किसी तरह वह जयन्त को वहां रोकना चाहती है। घर सँभालने के लिए नौकर रख देती है पर अनिता के जाते ही जयन्त फिर काम पर आ जाता है। परन्तु अब परिस्थिति बदल गई है। जयन्त के उच्च सम्बन्ध को मालिक ने जान लिया है और वह चाहते हैं कि जयन्त के द्वारा वह मि पुरी तक पहुँच सकें और उनके ऊँचे सम्बन्धियों में अपनी कम्पनी के शेयर बेच सकें।

इसी प्रसंग में सुमित्रा से जयन्त की भेंट होती है। वह उसके मालिक की पुत्री है। मेट्रिक्यु में पढ़ती है पर कविता भी लिखती है। दोनों पास आते हैं। सुमित्रा को हिन्दी का गहरा ज्ञान कराने के बहाने मालिक दोनों को पास लाते हैं। इस बीच में स्वयं जयंत के मुहल्ले में एक कांड घटित होता है। कलुआ ताड़ी पीता है और उसकी पन्द्रहवर्ष की बेटी बुधिया को उसका कर्ज चुकाने के लिए दूसरे को अपना तन देना पड़ता है। एक दिन सुमित्रा के यहाँ से लौट कर जयंत देखता है कि दो सूदखोर आपस में ही बुधिया के लिए लड़ रहे हैं। पिता ने पैसा लिया है। बुधिया से तन से वे वसूल करना चाहते हैं। जयन्त बीच में पड़ कर बुधिया को बचा लेता है। यहाँ हमें बुधिया के दर्शन का भी पता चलता है जो मृणाल के दर्शन की ही प्रतिध्वनि है। कहती है — 'बावा हर किसी से पैसा ले-लेते हैं और बाके ताड़ी में फूंक देते हैं। मां गई तब से यही हालत है। मैं अपने बस किसी को नहीं लौटाती। लेकिन बावा खरस देखते ही मुझे मारने लग जाते हैं। दुनियाँ वो उन्हें मारती है। मैं शिकायत नहीं करती लेकिन तन कभी बहुत पीर दे आता है। तन पीर दे आता है तभी लौटाती हूं नहीं तो जिसका पैसा लिया। यह दर्शन पीड़ितों के दर्शन के रूप में उपस्थित किया गया है। बावा अपनी लज्जा छिपाने के लिए मारते हैं। युग पैसे का है। ताड़ी के लिए पैसा चाहिए। पैसा पिता को चाहिए। बुधिया उसके बदले में तन देती। तन को वह यों ही तुच्छ समझ कर दे डालती है, मन उसका मरा नहीं है। लेखक इस प्रसंग पर से चिन्तन करता है, मैंने बुधिया को देखा। क्या उसके लिए मरा जाता भूका ? तन मिट्टी ही तो है। शास्त्र बताते हैं कि वह अपना नहीं है। क्या बुधिया ने इसी मर्म को पाया है ? उसका तन उसका नहीं है जैसे उसका छोड़ सब का हो।

तन को पसारना भी बात धार्मिक है नैतिक है। जैनेन्द्र उसे दुकानदारी की चीज बना देते हैं यद्यपि वह यह आग्रह करते हैं कि यह ईमानदारी का सौदा है और कि आनन्द इष्ट नहीं है कर्तव्य इष्ट है। यह स्पष्ट ही अनिवार्य है। एक ओर सुमित्रा है जो

पैसे के बल पर प्रेम खरीदना चाहती है। जयंत के काम को उत्तेजित करने के लिए जुगुप्सा भरी तस्वीरें दिखाती है। शिक्षित सभ्य और कुलीन होने पर भी काम-ग्रस्त है और सौ रुपये के नोट का खेल कर उसे खरीदना चाहती है। दूसरी ओर बुधिया है जो सहज नारीत्व और नारी की ममता से भरी है। जो देना चाहती है लेना नहीं चाहती। कृतज्ञता प्रकट करने का एक ही ढंग उसे ज्ञात है कि वह तन को अर्पित कर दे परन्तु इस मुक्त रूप और अहेतुक आत्मदान को क्या हम सुमिता के अभिजात्यगर्वित लिप्सा भाव से छोटा कहेंगे। बुधिया के लिए तन कुछ नहीं है अभिजात्यगर्वी सुमिता के लिए तन ही सब कुछ है जिसके लिए वह सर्वस्व देने को तैयार है। उच्चवर्गीय नारी के पतन का वह चरमबिंदु है। श्रीकान्त की तरह जयंत भी इस परिस्थिति से उबर आता है। पिता का देहान्त हो गया है। उसे जाना है। अनीता का आग्रह है। परन्तु बुधिया जाने की बात सुन कर भी विचलित नहीं है। उसका आत्मदान अस्पृश्य है। वह जयन्त को प्रसन्न देखकर ही तृप्त है। जयंत निर्मोही है परन्तु जहाँ उपाय ही मोह के परे हो वहाँ वह निर्मोहीपन कष्ट कैसे पैदा करेगा? बहुत दिनों बाद जब अकस्मात् बुधिया मिलती है तो विवाहिता है। बच्चों की माँ है परन्तु जयन्त के प्रति उसी स्नेहभाव से भरी हासमुखी है।

अनिता से भेंट होती है। पति पुरी बड़े व्यवसायी हैं। सैकड़ों तरह के काम होते हैं। वह कोई एजेन्सी ले-लें तो कैसा हो! परन्तु जयन्त का मन भरा है। अनिता के उपकार के बोझ को ढोना उसके लिए सम्भव नहीं है। वह बुधिया की बात का इंगित कर देता है और इस प्रकार अनिता को अपने प्रेम की याद दिलाता है। परन्तु वह किसी की एजेन्सी नहीं ले सकेगा चाचा-बाबा में काम नहीं करेगा। वह लड़ाई पर जायेगा या जोग लेगा। अनिता सब जानती है सब समझती है। वह अपने को खोने के बहाने हैं। जीवन भर खोने नहीं दिये। अनिता उससे विवाह कर लेने का आग्रह करती है। परन्तु स्वयं भी वर्ष उसके विवाह को नहीं हुए और चैन चला गया है। जयन्त किसी नारी की जिन्दगी बरबाद करना नहीं चाहता परन्तु अनिता चाहती है कि वह घर बसाये। वह कदाचित् उसकी अपनी सुरक्षा की मांग है क्योंकि घर बांध कर जयन्त बैठता तो उसका भी घर बना रहता। नहीं तो वह ज्वालामुखी पर बैठी है। कब सब धस जायेगा कह नहीं सकती। फिर घर बने या उजड़े उसके लिए तो जयन्त ही ठौर है।

आखिर एजेन्सी की बात कुछ मन में आ जाती है।

परन्तु तभी मिलता है कुमार जो विलायत जाने वाला है। साथ में पत्नी है उर्मिला और कजिन है चन्द्री (चन्द्रकला)। हल्ला मच रहा है। उर्मिला उसे नहीं छोड़ना चाहती तो चन्द्री भी हठ पर है। चन्द्री का ठिकाना लगे तो उसे चैन मिले। कुमार जयन्त का मित्र है। बस घर लिवाए है। चन्द्री को वह देख ले। उर्मिला का आग्रह है कि वह कुछ कर सकता हो तो करे। परन्तु चन्द्री धुन में है। कुमार का तब फौजी

कब उसे पूर्णतया ले लेगी। वह काम-काजी है व्यवहारी है। हाथ का सौदा क्यों छोड़े ? परन्तु चन्द्री की जो मांग है, उसे देना वसन्त के हाथ में नहीं है। अन्त में चन्द्री इस रहस्य को समझ जाती है और कुमार की खोज में बम्बई चली जाती है। वह उसिता के साथ बहुत लेगी और किसी प्रकार की मुरव्वत नहीं करेगी।

फिर वसन्त अनिता के पास लौट आता है और युद्ध में जाने की बात बताता है। क्योंकि उसे प्राण देना है। परन्तु युद्ध में न जाकर वह बम्बई चला जाता है और चन्द्री को कुमार के साथ जाने से विरत करने में सफल होता है। फिर अचट घट जाता है। अनिता को छुट्टी देने के लिए वसन्त चन्द्री से विवाह कर लेता है परन्तु क्या है वह विवाह जो अपने को बचाने की नीयत से किया गया है। इस प्रकार विवाह की बात को लेकर वसन्त गलत दर्शन का आश्रय लेता है और अपने को छलता है, "कहते हैं विवाह करते हम हैं होता भगवान् के यहां है। यह भी सुनता हूं कि जन्म-जन्मान्तर तक विवाह की व्याप्ति है। दो एक-दूसरे से एक इस भव में ही नहीं होते पहले से चले आते हैं। इसमें यह काम कर्तव्यता से नहीं होता भवितव्यता से होता है। सचमुच ऐसा ही लगता है ।" अनिता उसके मन के छल को पकड़ लेती है। उपकार की नीयत से किया गया यह विवाह कितने दिन टिक सकता ? क्या वह चन्द्री को छोड़ा नहीं करेगा ? स्वयं वसन्त स्वीकार कर लेता है कि यह ब्याह की बात छल है। वह वस्तु जो चली गई, लौट कर इस जीवन में आने वाली नहीं है। ऊपर से स्थितप्रज्ञ अतिशय कम-कुशल बड़े कुल की मान-मर्यादा में अत्यन्त ही चुस्त और समीचीन अनिता वसन्त के भीतर के दर्द को पहचानती है और चल जाती है परन्तु विवाह हो जाता है। मि० पुरी की कार्यकुशलता से सब सध जाता है।

विवाह हो गया। अनिता चली गई। हनीमून के लिए दम्पति कश्मीर जायेंगे। पत्नी को बताना होता है कि मि० पुरी अपनी मिसेज के आग्रह से एकाउन्ट में ढाई हजार क्रेडिट कर गये हैं। यहीं से चंद्रा के मन में संदेह का सूत्रपात होता है और वसन्त उसे किसी प्रकार आश्वस्त नहीं कर पाता। इसके बाद की कथा अज्ञेय के उपन्यास "नदी के द्वीप" की कथा है, यद्यपि उसमें मौलिकता नहीं है और साहित्य एवं संस्कृति का ऊपरी आवरण उतार दिया गया है। हनीमून के लिए दम्पति कश्मीर जाते हैं, परन्तु वसन्त चन्द्री का नहीं बन सकता। भागा-भागा रहता है। अन्त में चन्द्री उसके भीतर के दर्द को समझ जाती है और टूट जाती है। तभी अनीता से तार मिलता है कि घर पर चोरी हुई है। दोनों लौटते हैं। अनिता चाहती है कि वसन्त चन्द्री का बन कर रहे पर चन्द्री वसन्त के भीतर की पीड़ा को पहचान कर वसन्त-अनिता को अवसर देना चाहती है। वह सब कुछ मौन की ओट कर लेती है। परन्तु अनिता अपने मन से सहने में असमर्थ है। वह अनाचार को सह नहीं सकती। वह चली जाती है और चन्द्री भी बोझ नहीं बनना चाहती। वसन्त उसके लिए सोच में क्यों पड़े ? वह भी पिता के यहाँ चली जाती है।

जयन्त के लिए रास्ता खुला है। वह कमीशन स्वीकार कर लेता है, प्रस्तुत और प्रशंसनीय बन जाता है। अन्त में वह जान पर खेल जाता है परन्तु मृत्यु के बदले यश की प्राप्ति होती है, उसके अनुपम पराक्रम के लिए कसीदे छपते हैं। लोग उसके भाग्य पर विस्मित हैं, ईर्ष्यालु हैं। समाचार-पत्रों में छपता है तो अनिता और चन्द्री दोनों सिहरते हैं। चन्द्री के एक सम्बन्धी सिविल मास्टर हैं। चन्द्री ने लिख दिया है। उनके भेजे डा० कपिल आते हैं। वे परिचय प्राप्त करते हैं। उनकी पत्नी उन्हें घेर लेती। उनके पास क्या है सम्मान और अकुण्ठित सेवाभाव और मुस्कान के सिवा। कपिल-दम्पति के आग्रह से डा० बखावर के मसिह हाथ में स्थानान्तर होता है। चन्द्री उनकी कज़िन है। चन्द्री आई। परन्तु मिसेज कपिल की सिफारिश लेकर आई। तीन दिन से जयन्त उसे लौटा रहा है। चाची नहीं अब और सहन नहीं कर सकती। कुछ भी तो वह आग्रह नहीं करती, एक शब्द कहती है और वह चुपचाप लौट जाती है। कहती है तुम्हें कष्ट होगा और फिर वह एक शब्द कुछ नहीं कहती सीधी मुड़ कर चली जाती है। आज गुलदस्ता लाई फूल सब ताजा है। देखो यह रखो। देकर बिना कुछ कहे चली जा रही थी। मैंने रोक लिया है। लिख आई हूँ कि देखती हूँ ठीक हुए तो अभी बुलाये जाती हूँ। मैं इस बार तरह वापस नहीं कर सकती, बुलाऊँ। परन्तु जब इस पर भी जयन्त मिसेज कपिल को चली जाने को कहता है तो चन्द्री समझ जाती है, अनिता का जादू उतरा नहीं है। वह फफक-फफक कर रोने लगती है और जयन्त कुछ कर नहीं पाता। जयन्त की इस प्रतिक्रिया को उपन्यासकार ने विस्तारपूर्वक लिखा है (पृ० १७१)।

बखावर के घर से जयन्त कपिला के घर आ गया है। उसके संरक्षण में उसे भगिनी का सौहार्द्र मिला। कई हफ्ते बीत गये। अकस्मात पति के साथ अनिता आ धमकी और पति पुरी को कुशल जा रहे हैं। वे पत्नी अनीता को जयन्त को सौंप कर लौट गए। शायद कि जयन्त अब अविष्ट है और उसके प्राण बचाना है। पति उदार हैं। वह अनिता को जयन्त को सौंप कर छूट जाना चाहते हैं। कपिला ने इसका अनुमान कर लिया है और स्वयं जयन्त इसे समझ कर अपनी छोटाई से ग्रस्त है। फिर भी वह मरने को छल कर महत्ता की ओट लेता है। रात को पुरी चले गये और होटल में अनिता और जयन्त साथ-साथ लौटे। जाड़े की उस रात में अनिता और जयन्त के हृदयों में जो तूफान उठा उसे लेखक ने बड़ी सतर्क एवं संयम लेखनी से चित्रित किया है। अनीता को भीतरी कष्ट है। जयन्त ने उसी से बचने के लिए (या उसी को पाने के लिए, जो मूलतः एक ही बात है) अपने प्राणों को संकट में डाला था। वह अपना सब कुछ देकर भी उसे क्यों नहीं बचाये? पति उसे जयन्त को दे गये हैं। परन्तु जयन्त दुविधा में है। जयन्त जब जानता है कि वह मन से पूरी की नहीं उसकी है तो शरीर को निभाते हुए दान लेने से इन्कार क्यों करता है? यह दुविधा अनिता की समझ में नहीं आती। वह

कहती है 'स्त्री-देह को शास्त्र में प्रकृति कहा है। पाप की खान बताया है। तुम वही न मानते हो जयन्त ? यह भाषणों की फ़िलासफ़ी उसकी समझ में नहीं आती। वह एक झटके से जयन्त के भीतर के बन्धन तोड़ देना चाहती है। उसका भावविस्फोट प्रशंसनीय है। स्पष्ट उसके भीतर प्रेम और विवाह का द्वन्द्व उठ खड़ा होता है। अब वह अनिता नहीं है विवाहिता है पापिष्ठा है। वह पाप कर रही है पाप करने जा रही है। उसमें भय डर दुःसाहस जाग उठता है। जयन्त यदि बलपूर्वक उसे ले-लेता है तो वह तैयार है। परन्तु जयन्त की कायरता उस पर कड़ी चोट करती है। सहसा असम्भव हो जाता है। तपनेवाला बहादुर हँसता नहीं दिया जाता तो वह उन्मादिनी होजाती है। परन्तु जयन्त जैनेन्द्रीय आदर्श में पला है। वह नहीं बढ़ेगा। अनिता को पापिष्ठा बनाकर वह उसकी आत्मा को दूषित नहीं करेगा। वह अपने मन में सुरक्षित अनिता की प्रतिमा की रक्षा करेगा। पूरे बलप्रयोग के साथ उसने उसे निष्क्रम करने का प्रयत्न किया। तो भी बस में न आई तो बस में उसके दो तमाचे लगाये। प्रताड़ना पाकर अनिता का उन्माद उतर गया। वह बिस्तर पर जाकर सो रही और दिन चढ़े तक सोती रही।

दूसरे दिन रात को जाना तय हुआ। पिछली रात जो किया वह उसका विस्फोट मात्र था। जयन्त यह न समझे। वह सचमुच उसके सुभीते के लिए रहने को तैयार है। वह जयन्त के भीतर के पुरुषार्थ को जगाना चाहती है कि वह अपूर्ण नहीं रहे। पुरुष के भाग में क्या अपूर्णता नहीं है। स्त्री-पुरुष क्या अलग रहने के लिए सिरजे गये हैं। अन्री कामनामयी थी इसीलिए असफल रही। अनिता ज्ञानमयी तटस्थ अनासक्त बन कर अपने को दे डालती है।

फिर क्या हुआ यह अनुमानित है। जयन्त अडिग रहा। वह अनीता की मूर्ति को निष्कलुष बनाये रहा। परन्तु स्टेशन पर अनिता को छोड़ते हुए उसने बता दिया कि उसे गैरिक वस्त्र भेजा है। उसने अनिता को एकदम बाहर निकाल डाला है। कल तक वह हम का प्रयोग कर सकता था। आज अकेला है और परिव्राजक है।

अंतिम पृष्ठों में विभिन्न कथासूत्रों को विलक्षण ढंग से जोड़ दिया गया है और पात्रों के जीवन की परिणति देने की चेष्टा की गई है परन्तु वीतरागी बन कर भी क्या जयंत अपने को पा सका है ? अंतिम पंक्तियाँ बतलाती हैं कि नहीं। उसका आत्मकथन इस प्रकार है 'मोहिम लगता है जीवन व्यर्थ भार है। क्यों वहाँ इसे कभी देकर नहीं सका ताकि कुछ पा जाता और या अटकता न फिरता। लेकिन सुनता हूँ दूसरा भी जन्म है। अब तो उसी में आस है। इससे तो यही जान पड़ता है कि जीवन की व्यर्थता ने अब भी उसे घेर रखा है।

इसमें संदेह नहीं कि जैनेन्द्र की सब कथाओं में 'व्यतीत' की कथा सब से शिथिल है। उसे हम परख के भीतर का नवीन संस्करण कह सकते हैं। व्यतीत में जैनेन्द्र ने एक बार फिर असम्भव और अव्यावहारिक आदर्श को उपस्थित किया है और उसे एक

प्रकार से प्रति मानव बना दिया है। अनीता का प्रेम उसे प्राप्त नहीं होता। वह सूक्ष्म नहीं है। धन और ऐश्वर्य वह उसे नहीं दे सकता परन्तु धन और ऐश्वर्य से युक्त पुरी भी अनिता को तुष्ट नहीं कर सकता। अनिता जयंत के जीवन को सार्थक करना चाहती है। जीम नहीं चाहता। सुविधा। सुविधा। चन्दा। कपिला। परन्तु जयंत अनिता के प्रति अपने प्रेम की पीर को दबाये निष्काम बना रहता है। चंद्री के प्रति वह स्पष्टतः अन्याय करता है। स्वयं चंद्री उससे दूर हट जाती है परन्तु इस हटने में आक्षेप नहीं है अपितु स्थिति मात्र है। अनिता पति की अनुमति पा कर जयंत को राह पर लाने के लिये चरम सीमा तक पहुँच जाती है परन्तु जयंत अपने पुरुषत्व को कलंकित नहीं होने देता। प्रेम उसका केवल है वासना उसे स्वीकार नहीं। वह तन नहीं चाहता क्योंकि इससे अनिता कलुषित होती। क्योंकि वह पर स्त्री है। यह ठीक है कि पति की ओर से छूट आत्मविधि से विवाहित नारी को क्या छोटा नहीं करती। फलतः जयंत जीता है, प्रेम हारा है। इस हार में ही प्रेम की उज्ज्वलता है यद्यपि टूटने का घोर अवसाद भी है भीतर दर्द और दाह भी है। अनिता को चित्रण करके जैनेन्द्र ने भारतीय नारी की पति-परायणता और विवाह-संस्था की वैधिकता की रक्षा कर ली है, परन्तु यह नहीं पता लगा कि इससे उसका व्यक्तित्व क्या बड़प्पन पा सका ?

"व्यतीत" में जैनेन्द्र ने पति और प्रेमी के आदर्शों को लेकर साथ चलना चाहा है और इसी लिए उन्होंने इन दोनों क्षेत्रों में अव्यावहारिक अतिवाद का जन्म दिया है। पति का आदर्श मि० पुरी में प्रस्तावित हुआ है जो पति का धर्म निभाये जाते हैं। उनकी सहृदयता है और अच्छे हैं। परन्तु सहपत्नी अनिता के व्यक्तित्व को बना कर नहीं चलते। पत्नी के हृदय में जयंत के प्रति प्रेम है, इससे वह अपरिचित नहीं परन्तु उनके हृदय में जरा भी द्वन्द्व नहीं है। "सुखदा" "और विवर्त" में पतियों की जो चित्रपत्नियाँ मिली हैं वो विकासमान हैं। पत्नी के स्वतंत्र जीवन जीने में दोनों को कोई रोक नहीं है। वास्तव में 'विवर्त' में पत्नी को बड़ी दूर तक छूट दी गई है, जान-बूझ कर अजाना बना गया है और पति का अहिंसक आदर्श स्थापित किया गया है। "व्यतीत' के पुरी 'विवर्त" के आदर्शों को लेकर और आगे बढ़ते हैं और अनिता स्वयं जयंत को पास आने के सब प्रयत्नों को असफल देख कर अंत में स्वयं अनिता को जयंत को सौंप जाते हैं। अनिता भी उनके मन की बात जानती है और उनकी उदारता को सिर आँखों लेती है। वह जैनेन्द्र का पति-पत्नी-प्रेमी का संसार जो कोई हेय नहीं जानता जो मनोवैज्ञानिक सूत्रों से ऊपर उठ कर महामान्यों की दुनिया का निर्माण करता है। यह अलौकिकता वास्तविहीन उज्ज्वलता अमानवीय है अति प्राकृत है और मानवीय दृष्टि के कलाकार को कोई बड़ा श्रेय नहीं देती। ऐसे उदार पति कहाँ मिलेंगे ? कबीर और लोई का एक वृत्तान्त चलता है, कि सत्य की रक्षा के लिए पति कबीर ने पत्नी लोई को उस सेठ तक कंधे चढ़ा कर पहुँचा दिया जो उसका तन चाहता था। कबीर ने लोई के मन में पातिव्रत की सुरक्षा

समझी और अपने संत के सत्य प्रेम को भी निभाया। कहानी में कहा गया है कि इससे सेठ में क्षोभ का जन्म हुआ। वह सत्य के तेज को सह न सका और कबीर का मन जीता हुआ। परन्तु यहाँ किसी के मन के अनाचार को कुण्ठित करने की बात ही नहीं है। अनिता जयंत को सौंप दी जाती है कि वह अपनी देह को होम कर जयंत को व्यर्थता से बचाये उसके प्रेमी-जीवन को सार्थक करे। कोई पापिष्ठा नहीं है। अनिता क्या है यह कहना कठिन है। जयंत को मन देकर विवाह करने का अर्थ हुआ पुरी को तज देने की सामाजिक व्यवस्था। यह व्यवस्था जब हो गई तो फिर जयंत की ओर लौट कर उसके मन को प्राप्त करने की चेष्टा करना वहाँ लांछा की बात नहीं है। यह अवश्य है कि अनिता दूर तक अदेही प्रेम को लेकर चलना चाहती है और चंद्री-जयंत को पति-पत्नी के रूप में स्वीकार कर लेती है। परन्तु क्या वह यह नहीं जानती थी कि जयंत चंद्री का नहीं हो सकता। क्या यह चंद्री के प्रति और जयंत के प्रति अनाचार नहीं है। इस अविवेक ने चंद्री के दुखांत की सृष्टि कर दी है यद्यपि लेखक ने चंद्री में भी पर्याप्त आदर्शवाद भरना चाहा है जिससे वह बलपूर्वक जयंत से अपना अधिकार नहीं ले पाती कदाचित् इसीलिए कि कुमार के भाव में वह डूबी है। उसकी इस दुर्बलता को समझ कर ही जयंत उसे घर में लाया है। इस प्रकार जयंत अनिता चंद्री पुरी सब अविश्वसनीय बन जाते हैं। वे मनोवैज्ञानिक सूत्रों पर नहीं चलते। उनके भीतर अपनी निजी शक्ति नहीं है शक्ति है केवल जैनेन्द्र में पति प्रेमी और नारी के उभय पक्षों (विवाहिता और प्रेमिका) के आदर्शों की सैद्धान्तिक व्याख्या में। वास्तव में जैनेन्द्र इन सिद्धान्तों को प्रारंभ से ही लेकर चले हैं और निरन्तर सूक्ष्मतर और सूक्ष्मतर से सूक्ष्मतम होते गये हैं। उनका तर्क एक ऐसे घेरे में चलकर अविश्वसनीय रहस्यमय एवं अतिचारी जीवन-दर्शन की सृष्टि करता है जो न व्यावहारिक है न मनोवैज्ञानिक न वास्तविक जीवन से सम्बद्ध। उसने एक ऐसे विद्रूप की सृष्टि की है जो आकाशबेलि के समान सुन्दर और स्वस्थ लगने पर भी अपने भीतर की दुर्बलता से ग्रस्त है। वह परजीवी है। उसका अपना जीवन नहीं है। सच तो यह है कि 'व्यतीत' में जैनेन्द्र विवाह और प्रेम की समस्या के उस सूक्ष्म आतंकित अव्यावहारिक एवं अकल्पित सीमान्त तक पहुँच गये हैं कि उनके सिद्धान्त स्पष्टतः हवाई और उपहासास्पद लगते हैं।

पति की उदारता का यह हाल है तो पत्नी अनीता भी अपने प्रेमी के प्रति कम उदार नहीं है। वह उसका जीवन वंचित नहीं रहने देना चाहती। वह उसे कामकाजी दुनिया का आदमी बनाना चाहती है। चंद्री से विवाह करा कर भी वह असफल होती है और देखती है कि जयंत दुखिया सुमित्रा अथवा चंद्री किसी को भी अपने जीवन में लेने को तैयार नहीं है। अंतिम परिणति की ओर वह अग्रसर होती है। खुद अपने को देकर (पाप उसे नहीं लगेगा क्योंकि स्वयं पति की सहमति उसे मिली है) वह जयंत के जीवन की व्यर्थता दूर करेगी पर संस्कारों का एकदम तोड़ना उसके लिए असंभव बात है। इसी

११

जयवर्द्धन

हिन्दी उपन्यास के क्षेत्र में जैनेन्द्रकुमार एक नवीन चेतना के प्रतीक हैं। इस नवीन चेतना में नये मूल्यों की खोज प्रधान है और उसमें जीवन-चिन्ता को अग्रसर करना ही जैसे उपन्यास का धर्म बन गया है। जैनेन्द्र से पहले प्रेमचंद तक का उपन्यास बहुत कुछ वर्णनात्मक था और उसमें समाधान प्रश्न से अधिक महत्वपूर्ण थे। प्रेमचंद ने यहाँ कहानियों में वहाँ उपन्यासों में भी मध्यवर्ग ग्राम और नगरके "मानों" की नयी समस्याओं को स्पर्श किया है परन्तु उनकी साहित्य-चेतना समन्वयात्मक और धार्मिक थी तात्त्विक नहीं। जैनेन्द्र मूलतः विचारक हैं। उन्हें विचारक-उपन्यासकार भी कहा जा सकता है। फलस्वरूप उनके उपन्यासों में पुन-चिन्तन का आकर्ष है प्रश्न-ही-प्रश्न हैं समाधान नहीं। वह जिज्ञासा को उभारते हैं और प्रश्न को खुला छोड़ देते हैं। अपनी इस प्रवृत्ति के अनुरूप ही उन्होंने अपने लिए नयी उपन्यास-कला का भी निर्माण किया है। 'परख' से इस "जयवर्द्धन" तक उनकी औपन्यासिक गतिविधि के लगभग तीन दशक हो जाते हैं। पिछले युग के उपन्यासकार जीवन-चित्रण में सक्षम थे और उनकी उपपत्तियाँ उपन्यास के अंत में आती थीं और अधिकतर नीतिमूलक रहा करती थीं। जैनेन्द्र ने उलटी दिशा से आरंभ किया अर्थात् वे उपपत्तियों से जीवन-चित्रण की ओर बढ़े। कहा जा सकता है कि इससे उनके चरित्र दुर्बोध और रहस्यमय बन गये हैं और उन्हें किन्हीं अर्थों में प्राणवान नहीं कहा जा सकता। जैनेन्द्र ने उन्हें जितना व्यक्तित्व देना चाहा है उतना ही व्यक्तित्व उन्हें मिला है। अपने बल पर वे नहीं खड़े हैं। वे 'बहुत बेचारे' हैं। यही हाल घटनाचक्र का है। जो घटता है वह स्वाभाविक नहीं प्रयोजित है उदाहरण-मात्र है क्योंकि वह सिद्धान्त के भीतर से आता है जीवन के भीतर से नहीं। इस प्रकार वस्तु-संघटन और चरित्र-चित्रण के योगायोग को तिलाञ्जलि देकर जैनेन्द्र ने उपन्यास को जीवन चक्र से मुक्ति दे-दी है। इससे उसे सरलता भले ही मिली हो और नई परम्परा का निर्माण वह भले ही कर सका हो उसकी नयी सीमाएँ भी स्थापित हुई हैं। जैनेन्द्र के लिए उपन्यास जीवन प्रयोग नहीं विचार-योग है। उसमें मन के दाव-पेंच हैं, अ-पकड़ में आने वाले 'कुछ' को पकड़ में लाने का अनथक प्रयत्न है परन्तु स्वतन्त्र और प्राणवानचेतना

के अभाव में जीवन और कला का रस उनमें भरपूर नहीं मिलता। जैसे-जैसे जैनेन्द्र उपन्यास-लेखन के क्षेत्र में आगे बढ़ते गये हैं उनकी रचना बनती गई है विचार हावी होते गये हैं और मनोविश्लेषण-शास्त्र की कुञ्जियाँ ही प्रधान हो गई हैं। अप्रत्याशित और अबूझ पर स्वस्थ कला का निर्माण असम्भव प्रयत्न है। उपन्यास रूप का मूल उत्स है मनुष्य का मानव भाव उसका संवेदनात्मक साहचर्य। यह सहज-रस जैनेन्द्र की परवर्ती रचनाओं में क्षीण होता गया है और "सूत्र" प्रधानता पा गये हैं। "जयवर्द्धन" में जैनेन्द्र की उपन्यास-कला की यह सफलता-असफलता साफ उभर आई है।

४४ पृष्ठों के इस बृहत्काय उपन्यास में जैनेन्द्र ने हमें क्या दिया है? क्या कथा क्या चरित्र? क्या प्राण प्रतिपाद्य? क्या मनुष्य की सहज-स्वाभाविक भाव भूमि? क्या विचार? वह कौन सी नवीनता है जिसे लेकर जैनेन्द्र "जयवर्द्धन" को सार्थक कर सके हैं। जयवर्द्धन की तरह ही क्या वह भी बद्ध नहीं है? इस उपन्यास से उनका कथा-चेता मन क्या खुला है और कहाँ चुभा है ये कुछ प्रश्न हैं जो "जयवर्द्धन" पढ़ने पर मन में उठते हैं। स्वयं जैनेन्द्र की पृष्ठभूमि पर ही इन प्रश्नों का समाधान सम्भव है।

"जयवर्द्धन" की कथा को पहले लें। कथा दो स्तरों पर चलती है जिसमें एक नैतिक अथवा समष्टिगत है दूसरा नितान्त व्यक्तिगत। एक का सम्बन्ध जयवर्द्धन के मन्त्री-पद की समस्या से है और उन विचारों से है जो 'राज' को विकास का अन्तिम चरण नहीं मानते ही वह लोकतन्त्र हो या कल्याण-राज या रामराज्य या इन्द्र विस्तार क्षेत्र का द्वन्द्व जिसमें बाहर के कर्मजगत् के राजनैतिक द्वन्द्व भी मिल गये हैं। राष्ट्रीय राजनीति की भूमि पर अनेक स्वार्थों एवं दलों के बीच जयवर्द्धन की स्थिति उलझती गई है और अन्त में उसे लगा है कि "अपना" होना चाहता है तो उसे राज का त्याग आवश्यक है। फलस्वरूप वह मन्त्री-पद से अलग होजाता है। एक प्रकार से यह उपन्यास जैनेन्द्र का दूसरा "त्यागपत्र" है और पहले "त्यागपत्र" की भाँति यहाँ भी नायक त्यागपत्र देकर अपनी दुर्बलता को बहलाना ही चाहता है। जो हो 'जयवर्द्धन' का प्रारम्भ दलीय स्वार्थों के संघर्ष से हुआ है और अन्त में जयवर्द्धन ने घोर विरोध से श्रान्त होकर पलायन का अहिंसक मार्ग ग्रहण किया है। समाधान है कि "जयवर्द्धन" भारत की राजनीति में से निकल गये हैं। विरोधी दलों के नेता हैं आचार्य स्वामी चिदानन्द नाथ और लिज़ा तथा इन्द्रमोहन। आचार्य गांधीवादी हैं, स्वामी चिदानन्द भारतीयतावादी या प्रतिक्रियावादी नाथ और लिज़ा चिदानन्द के विरोधी और अग्रगामी इन्द्रमोहन हिंसाकर्मी व्यक्तिवादी। इस प्रकार जयवर्द्धन किसी भी दल में न बँध कर सबके लिए संकट बन गया है और उसे घेर कर पक्ष विपक्ष स्थापित हो गये हैं। आचार्य जयवर्द्धन के प्रति विश्वस्त हैं अतः उन्हें बल दे रहे हैं परन्तु स्वामी चिदानन्द उन्हें अनैतिक समझते हैं और भारत के वीर्य पुरुष को वह अपयशी के रूप में देखना नहीं चाहते। नाथ और लिज़ा इस प्रतिक्रियावाद के विरोधी हैं परन्तु शासन-तन्त्र के क्षेत्र

में वे लोकवाद से आगे बढ़ने के लिए तैयार नहीं हैं। इन्द्रमोहन आतंकवादी हैं, परन्तु जयवर्द्धन का वह दूर तक सहन कर सकते हैं। इस प्रकार राजनीति में कूटचक्र की स्थापना हो जाती है जो जयवर्द्धन को झकझोर कर उसे त्याग के लिए मजबूर करती है।

कथा की दूसरी भूमि व्यक्तिगत है और जयवर्द्धन–इला के प्रेम-सम्बन्ध की वैधता अवैधता को लेकर चलती है। वास्तव में राजनीतिक द्वन्द्वों के साथ-साथ और मूल में प्रेम पक्ष ही है और सम्भवतः काममूलक विरोध ही राजनीति का द्वन्द्व बन गया है। इला आचार्य की कन्या है जो माता के अभाव में स्वामी चिदानन्द के आश्रम में पली है। बीस-बाईस वर्ष पहले स्वामी जी के आश्रम में ही पहली बार जयवर्द्धन का इला से परिचय हुआ था और उसकी स्मृतियाँ उसमें अब भी उसी तीव्रता से सजग हैं। स्वामी चिदानन्द के इला सम्बन्धी दृष्टिकोण से हम परिचित नहीं हैं परन्तु उनका अनैतिक मत कदाचित् विरोधमूलक ही है। वह अपने से न कह कर जयवर्द्धन पर स्पष्ट है कि इला अविवाहित होकर भी उसके साथ रहती है। वह समझते हैं कि इला या जय को आचार्य का अनुमोदन प्राप्त नहीं है अथवा यह कि इला उनसे भागेगी नहीं। परन्तु जब अन्त में जयवर्द्धन और इला को आचार्य का अनुमोदन प्राप्त हो जाता है और स्वयं जयवर्द्धन उनके अन्तर्मन को उनके सामने खोल कर रख देता है तो वह तरल हो जाते हैं और आशीर्वादात्मक बन जाते हैं।

रहे नाथ और लिज़ा। इसमें सूत्र-संचालन लिज़ा का ही है। वह नाथ की राष्ट्रीयता को भड़काकर देश-नेत्रिका बन जाती है और स्वामी चिदानन्द के विरोध में "धर्म"-राजी दल की नेत्री है परन्तु धीरे-धीरे वह नाथ से दूर भी होती जाती है और जय के पास आती जाती है। राज्यसत्ता के प्रति उसमें तीव्र आकर्षण है और व्यक्ति जय नहीं मन्त्री जय उसका लक्ष्य है। जय के मन में उसे लेकर संघर्ष चलता है परन्तु वह स्वयं इला के बन्धन में बँधा है। आकर्षण और विकर्षण का यह द्वन्द्व लिज़ा के दर्पपूर्ण मुखर और तेजस्वी चरित्र को इला की अपेक्षा अधिक आकर्षक बना देता है। इला सह चलती है, मौन है, परन्तु कदाचित् इसी से उसमें मानवीय तत्त्वों की कमी हो गई है। वह त्याग तपस्या [illegible] प्रेम और बलिदान की प्रतिमूर्ति है। उसका प्रेयसी-रूप उसके मातृत्व-रूप के नीचे दब गया है। वह जय को सम्पूर्ण रूप से अपने ऊपर ओढ़ लेना चाहती है। यही जैसे उसके नारी-जीवन की सार्थकता हो। उसे लिज़ा से द्वेष नहीं है। वह जयवर्द्धन को व्यक्ति-रूप में पाना चाहती है राजपति-रूप में नहीं। जयवर्द्धन का विश्वास वह प्राप्त कर सकी है जो अन्त तक बना रहता है। यही उसका संबल है। उपन्यास के अन्त में जयवर्द्धन उसे भी छोड़ कर चला जाता है परन्तु इससे जयवर्द्धन ही छोटा होता है इला का रूप और भी चमक उठता है।

इन्द्रमोहन का भी इला के प्रति आकर्षण है और कदाचित् इला के ही नाते

जयवर्द्धन उसे प्रिय रहा है। परन्तु लेखक इस सम्बन्ध में निश्चित सूत्र उद्‌घटित नहीं करता। जो हो यह स्पष्ट है कि उपन्यास का केन्द्र जयवर्द्धन में नहीं है इला में है, क्योंकि उसी को लेकर सभी प्रमुख पात्रों में मानसिक ग्रन्थियों की सृष्टि हुई है और उसके मोचन पर ही कथा को परिणति प्राप्त हो सकी है। आचार्य पिता हैं इसी से जयवर्द्धन के प्रति उनका राजनीतिक अथवा दलीय विरोध कठिन होता हुआ भी गल गया है। ऊपर से भले ही उनके लिए इला त्याज्या हो परन्तु उनका कारावास इला और जय से उन्हें बचाने वाला कवच ही सिद्ध होता है। स्वयं जय इस बात को जानता है और इसी से बन्दी आचार्य उसके लिए श्रद्धेय ही नहीं वरेण्य भी हैं। समानान्तर संदर्भ में यही स्थिति स्वामी जी की भी है। अन्तर यह है कि वह पिता नहीं हैं प्रेमी हैं और अपने को वरेण्य समझते हैं। फलतः उनका आक्रोश इला पर कम है जयवर्द्धन पर वह फूट पड़ते हैं। इस प्रकार त्रिकोण नहीं षट्कोण की सृष्टि हुई है और सुलझाव यदि कोई दिखाई देता है तो यही कि जयवर्द्धन पद से हट जावे और इला से विवाह कर ले। इससे उसके लिए निजत्व-लाभ सम्भव हो सकेगा। परन्तु इन्द्रमोहन उग्र है और इतनी दूर तक जाने के लिए वह तैयार नहीं है क्योंकि पदच्युत जय उसकी नाप से छोटा हो जाता है। वह जय को इला के त्याग पर तैयार करता है जिससे वह बलिदानी हो और उसका बड़प्पन बना रहे।

समस्त ग्रन्थ में कथा और विचार के ताने-बाने इन दो भूमियों को छूते हुए उलझे-उलझे चलते हैं क्योंकि कोई भी पात्र अपने अन्तर्मन को स्वीकार करना नहीं चाहता। फल यह है कि विचार रोचक होते हुए भी बोझिल हैं और कथा के सूत्र अन्त तक जुड़ नहीं पाते। जैनेन्द्र सर्वत्र कथाकार नहीं बनना चाहते। इसी से कथा स्वयं जितना खुलती है उतना ही वह मान लेते हैं। यह उनकी औपन्यासिक मुद्रा है। इस मुद्रा में आधुनिकता अवश्य है और मनोविश्लेषण-शास्त्र की नयी मान्यताओं का समर्थन भी है परन्तु यह कहना कठिन है कि इससे हिन्दी-उपन्यास कोई महती शक्ति बन सका है। निस्सन्देह नये उपन्यास में रस की हानि ही हुई है। उसमें विरल मनोविज्ञान एवं जीवन की नयी गति-विधियाँ अवश्य हैं परन्तु वे सब मिलकर भी न जीवन की समग्रता का स्थान ले सकती हैं, न औपन्यासिक रस (चरित्रों एवं घटनाओं के योगायोग) की पूर्ति कर सकती हैं। इसमें सन्देह नहीं कि जयवर्द्धन का विचार-पक्ष प्रबल है उसमें राजनीतिक भविष्य-चिन्तन है या कहिए मन-कल्प (युटोपिया)। ४०-५० वर्षों बाद लोकतन्त्री राज्य-व्यवस्था भी अपूर्ण सिद्ध होगी और राज्य विकेन्द्रित तथा लोकधर्मी बनकर समाप्त हो जाना चाहेंगे। जयवर्द्धन का राजनीतिक व्यक्तित्व और राष्ट्रगत चिन्तन इसी नयी स्वप्न-भूमि का उन्मोचन है। इस प्रकार उपन्यास की राजनीतिक समस्या निबन्धनीय है उसे औपन्यासिक बनाना कहाँ तक उचित रहा है यह कहना कठिन है। राजनीतिक 'थीसिस' को उपन्यास की रस-भूमि कैसे मिल सकती? फलत

चरित्र-भूमियाँ अस्पष्ट और वायवी हैं तथा कथा दीर्घसूत्री एवं जटिल है। यह कथ्य में नहीं है, तर्क में है। तर्क ऊपर ऊपर तिरता है प्राणों को नहीं छूता। इसीसे 'जयवर्द्धन' यदि संवेदनीय नहीं है तो उसके लिए हम जैनेन्द्र को दोषी नहीं ठहरा सकते। उनकी औपन्यासिक गति-विधि इसी परिणति की सूचक है। एक तरह से वह अपनी विचारणा की अन्ध गलियों में पहुँच गये हैं। जीवन के प्रति तादात्म्यमयी कुतूहली लालसा उनमें नहीं रही है। वह ताने-बाने उलझाते हैं कि सुलझाने पर न अपूर्व अर्थ परन्तु पाठकों के पल्ले गाँठें ही अधिक पड़ती हैं क्योंकि जहाँ उपलक्ष्य चमत्कार है, वहाँ खुले मन का सौन्दर्य और रस कहाँ मिलेगा? ये सीमाएँ हैं जो जैनेन्द्र को अपूर्व बनाती हुई भी उनकी जीवन-दृष्टि और कला चेतना को एक रूप और सीमित बनाती हैं। यह अवश्य है कि इस पर भी वह अपने पात्रों की तरह ही निजी प्रातिभ और संग्रहणीय बन सके हैं। इसी में उनकी ऐतिहासिकता भी है।

२

"जयवर्द्धन' के आरम्भ में लेखक की कुछ पंक्तियों की जो फोटोस्टेट प्रतिलिपि छपी है उसमें उन्होंने यह शंका प्रकट की है कि "निकलना यह उपन्यास सिद्ध होगा। उपन्यास-दृष्टा पात्र की डायरी के रूप में है परन्तु लेखक यह मानता है कि रचना को 'विधिवत् उपन्यास" का रूप नहीं मिल सका है। इस कमी को वह मार्जनीय नहीं समझता। परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि 'जयवर्द्धन' को लेकर यह शंका बराबर मन में उठती रहेगी कि उसमें औपन्यासिक क्या है?—जीवनी आत्मकथा उपन्यास निबन्ध इनमें वह क्या है जो 'जयवर्द्धन' नाम पा गया है। गद्य-साहित्य में ये अलग-अलग श्रेणियाँ हैं कोटियाँ हैं परन्तु इनकी सीमा-रेखायें निश्चित नहीं हो सकी हैं जिसको 'विधिवत् उपन्यास' कहा जा सकता है उसके पीछे निबन्धों की प्रेरणा रही है और प्रारम्भिक उपन्यास समाज-व्यवहार सम्बन्धी रोचक निबन्ध ही कहे जा सकते हैं। बाद में उपन्यास ने आत्मकथा की शैली भी अपनाई और अन्ततः चरित्र और घटना-प्रवाह के वस्तुस्थापक योगायोग को उपन्यास कहा गया। यह योगायोग भी किसी एक 'रूप' में बद्ध नहीं हो सका क्योंकि न घटनाओं की इति-अति है न चरित्रों की। एक ओर एक-हजार पृष्ठों का टाल्सटाय का "वार एण्ड पीस" उपन्यास है दूसरी ओर हेमिंग्वे की छोटी-सी रचना 'स्ट्रेन इन् द वेट"। फलतः मुक्त और निर्बन्ध उपन्यास का विकास सामने आया और धीरे-धीरे उपन्यास को व्यक्ति समाज या राष्ट्र की जीवनी मान लिया गया। प्रेमचन्द ने यह घोषित किया कि भविष्य का उपन्यास 'जीवनी" होगा और जीवनी भी सामान्य नर-नारी की रहेगी। इस प्रकार उपन्यास विशृंखल एवं भिन्न-मुखी तत्त्वों से आरम्भ होकर उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त तक एक निश्चित व्यक्तित्व की उपलब्धि कर सका और बीसवीं शताब्दी के पहले दो दशकों के समाप्त होते-होते उसका स्वरूप पर्याप्त निखर गया। परन्तु इसी समय के लगभग मनोविज्ञान और कला

विश्लेषण-शास्त्र ने उपन्यास के क्षेत्र में प्रवेश किया और उपन्यास समग्र जीवन का चितेरा न रह कर अन्तर्मन का अन्वेषक बन गया। नये शिल्प-विधानों की आवश्यकता हुई और अन्तर्मन को उद्घाटित करने के लिए पत्र डायरी वक्तव्य अनेक पात्री संवेदनाओं या एक ही पात्र की अनेकसूत्री संवेदनाओं का सहारा लिया गया। ये विधियाँ जैनेन्द्र ने अपने उपन्यासों में अपनाई हैं और इन्हीं के द्वारा उनकी रचनाएँ अन्तरंगी और विचारगर्भित बन सकी हैं। जहाँ तक 'जयवर्द्धन' के शिल्प-पक्ष का प्रश्न है वह जैनेन्द्र के मन्तव्य के अनुरूप ही है। अमेरिकन पत्रकार श्री विलबर हूस्टन की २१ फ़रवरी २ ७ सम्वत् से १ अप्रैल २००७ सम्वत् तक की डायरी के पृष्ठों का विस्तार ही उपन्यास परिकल्पित है। आलेख तथ्यगत है परन्तु सत्य को उभारने के लिए कहीं-कहीं उसे कल्पना की मांसलता भी दी गई है यद्यपि ऐसे प्रसंग कम आये हैं और उपन्यास की नीरसता को कम नहीं कर सके हैं। फलस्वरूप डायरी का आलेख हिसाबी अधिक हो गया है और उसमें जीवन की दीर्घसूत्रता और व्यर्थता इतनी व्यापी है कि औपन्यासिक रस-परिपक्वता नहीं आ सका है। जयवर्द्धन विचारणात्मक उपन्यास है, यद्यपि विचरण मन का है अन्तरंगी है तात्त्विक है। उसके पात्र आयु और कर्म दोनों में तारुण्य का अतिक्रम कर चुके हैं। अतः उनके व्यवहार चिन्तन और भावना-प्रधान संवेदनीय नहीं हैं। वे जैसे अपना जीवन जी चुके हैं या भीतर से चुक चुके हैं। ऐसे निःशेष पात्रों को लेकर क्या जीवन के साथ न्याय किया जा सकता है या किया जा सका है। माना कि जगत् व्यावहारिक है औपन्यासिक नहीं है उसमें वह भी है जो निःशेष है और बैसाखी के बल पर चलता है परन्तु उपन्यास में हम जीवन की यथातथ्यता नहीं चाहते अनुरूपता चाहते हैं। यह अनुरूपता भी साहित्य कोटि की हो संवेदनमयी हो और संवेदनीय हो। यही 'जयवर्द्धन' की न्यूनता है। उपन्यास के पृष्ठों पर उतरने से पहले ही उसके पात्र जीवन की चुकते हैं और जब उनके संघर्ष और अन्तर्द्वन्द्व पुरातन स्मृतियों तथा संकल्प विकल्प पर चलते हैं तो वे एक महान् राष्ट्र की उत्तुंग ऊँचाइयों पर टिके रहते हैं परन्तु उनके सुख-दुख राष्ट्र के सुख-दुःख नहीं बन पाते। इसका फल यह होता है कि पात्रों की अन्तरंगी और बहिरंगी भूमिका दूर पड़ जाती है और उनके किसी भी प्रकार का मठबन्धन सम्भव नहीं। पाठक के लिए यह ऊँचाई अबूझी है। वह चमत्कृति दे सकती है रस-विभोर नहीं कर सकती। इस ऊँचाई पर न पात्रों में चरित्र का वेग रह सकता है न घटना की तीव्रता ही अक्षुण्ण रह सकती है। सब कुछ किताबी बन जाता है। जीवन छूट जाता है मुर्दा हाथ लगती है। "जयवर्द्धन में यही हुआ है।

परन्तु क्या हम इसके लिए जैनेन्द्र से शिकायत करें? उनकी औपन्यासिक मति विधि जानते हुए और उपन्यास के विकास की व्यापक प्रगति से परिचित होते हुए यह कहा जा सकता है कि 'जयवर्द्धन' जैनेन्द्र के अनुरूप ही हुआ है। उसमें जैनेन्द्र की

तार्किकता है, सूक्ष्म आलोचन है, भाषा-वैचित्र्य है, धारावाही वैचारिकता है, परन्तु न कथा की सरसता है न कला की रंगीनी। बीते दिनों की स्मृति में इसा द्वारा कुछ मधु पीली रेखाएँ अवश्य भरी गई हैं और हुस्टन के प्रति जिज्ञासा के आत्मस्वागत अप्रतिरोधित विस्मरण प्रसंग में जैनेन्द्रीय भाव विस्फोट की सरस पुनरावृत्ति भी हुई है परन्तु तर्क के मद में वे भावुक क्षण न जाने कहाँ खो जाते हैं और कथा के टूटे धागे जोड़े नहीं जुड़ते। जैनेन्द्र आत्ममुखी कथा को मन-विश्लेषणात्मक ऊहापोह के द्वारा अकल्पित दीर्घता दे देते हैं और धुंधली चरित्र भूमिका पर त्याग और बलिदान की तीव्र अनुभूति देना चाहते हैं। इसी से जो स्वाद्य मिलता है वह हृदय को तुष्ट नहीं कर पाता। उनकी पूर्ववर्ती रचनाओं में यह अतिचार की सीमा तक नहीं पहुँचा था क्योंकि कथा सरस हो और चरित्र विशिष्ट हों इस पर उनकी आँख बराबर थी। परन्तु 'जयवर्द्धन' में एकमात्र 'तथ्य' देने का आग्रह होने के कारण जीवन का "सत्य" उनके हाथ से छिन गया है क्योंकि सत्य तथ्य को सरस और अनुभूतिपरक बना कर ही सार्थक है। मात्र सत्य मात्र सत्य उपन्यासकार का उपजीव्य नहीं है वह सुन्दर ही शिवं ही। "जयवर्द्धन" में सुन्दरं कहाँ है शिवं कहाँ है? जैनेन्द्र कहेंगे कि सुन्दर और शिव सत्य में ही लीन हो गये हैं और उनके स्वतन्त्र अस्तित्व की कलाकार को क्यों चिन्ता हो? परन्तु फिर विचारक और कलाकार में अन्तर कहाँ रह गया? जो जो निबन्धनीय है उसे "उपन्यास में क्यों बाँधा गया?

जो हो यह स्पष्ट है कि इस रचना में जैनेन्द्र जहाँ तार्किकता और विचार गुंफन में अद्वितीय सिद्ध हुए हैं वहाँ घटनाओं और पात्रों में उन्होंने जगह-जगह इतनी रिक्तता छोड़ी है कि वह पाठकों की ओर से भरी ही नहीं जा सकती। यह निश्चय ही कलाकार की पराजय है। इसमें व्यंजना की अस्वीकृति नहीं है परन्तु श्रेष्ठ कला का व्यंग्य कलाकार की प्राणवान कल्पना के द्वारा रिक्त भरता चलता है। "जयवर्द्धन" में बड़ी-बड़ी दरारें हैं जो भरी नहीं जा सकी हैं और जिनके पीछे से वैषम्य का स्वांग दुर्लक्ष्य बन गया है। परन्तु जिज्ञासा जागकर 'जयवर्द्धन' मात्र इतिवृत्त है और यह वहाँ हिन्दी उपन्यास के आगे प्रश्न-चिह्न लगा रहा है वहाँ उपन्यास के पाठकों के लिए एक बड़ी चुनौती भी है। पता नहीं कि स्वयं जैनेन्द्र को यह विषम स्थिति वांछनीय होगी या नहीं क्योंकि अस्वीकार कर किसी महान् साहित्य की रचना आज भी असम्भव है और भविष्यत् युगों में भी असम्भव रहेगी।

५

आधुनिक पश्चिमी उपन्यासकारों की भाँति जैनेन्द्र ने जीवन के नैरन्तरिक प्रवाह को उपन्यास की चहारदीवारी के भीतर बाँधना चाहा है। यह प्रवाह सरल और सतत परिवर्तनशील है 'अनन्त' है—अतः उसे घटनाओं चरित्रों और शब्दों में बाँधना कठिन है। बाँधकर जीवन से बड़ी कोई सार्थकता उसे उपन्यासकार के अपेक्षा इसमें

भी लेखक का विश्वास नहीं है। उसे जीवन ही चाहिए, कोरा जीवन अप्रतिरोधित अप्रत्याशित जीवन जो बहुत कुछ क्षण-क्षण में सीमित है और रेत की तरह उँगलियों में से छन जाता है। 'जयवर्धन' में दैनन्दिनीवाली शिल्पविधि को ग्रहण कर लेखक ने जीवन का उतना ही लेना चाहा है जितना विलबर हुस्टन के पल्ले पड़ सका है और कोई अपने को हुस्टन पर कितना खोलता है। जय इला आचार्य स्वामी इन्द्रमोहन नाथ और लिजा सभी व्यस्त हैं आत्मतुष्ट हैं संकोची हैं। हुस्टन को जितना भी मिलता है उतना वह दे देता है अपनी पैनी अन्तर्दृष्टि और तर्कशक्ति से अपनी उपलब्धियों की भी सीवन उधेड़ कर देखता है। परन्तु जब इतने से भी काम नहीं चलता तो उपन्यास के अन्तिम पृष्ठों में सर्वज्ञ उपन्यासकार का कर्तृत्व उसे स्वीकार करना पड़ता है। वह सिनेमा-शिल्प अथवा चक्र-भंग की विधि का उपयोग करता है और एक ही क्षण अथवा अनेक व्यक्तियों की एक ही प्रसंगसम्बन्धी प्रतिक्रियाओं को देने के लिए कल्पना का उपयोग करता है। वह यह जानता है कि इसमें तटस्थ निर्विशेष कलाकार की अक्षमता है परन्तु सत्य की तथ्यगत एवं आभ्यन्तरिक उपलब्धि की भी अपनी सीमाएँ हैं। अन्त में लेखक का कहना है "ये चित्र मैंने अपनी कल्पना से लिये हैं। फिर भी कल्पना निराधार नहीं है संगृहीत जानकारी के बल पर बढ़ती है। और उपाय उस व्यूह और वेग को पकड़ने का है नहीं जिसमें से घटनाएँ विस्फोट की ओर बढ़ती चली गई। किसी प्रकार रुक ही नहीं सकीं।" (पृ० ४१८) परन्तु जीवन की बहिर्गति (घटनाओं) के प्रति अविश्वास बीच में आ जाता है और जो घटा वह अबूझा ही बना रहता है। जैनेन्द्र की दार्शनिकता पाठक को घटनाओं से उबारती नहीं उसे ग्रस्त कर देती है। वह कहते हैं "इस स्तब्ध प्रवाह के बीच घटनाएँ क्या हैं विचित्र लगता है किन्तु उन्हीं में हम व्यस्त हैं। क्या उपलब्धि अपने भीतर इस प्रवाह और निस्तब्ध की अनुभूति ही है— महाशून्य में अपनी परमशून्यता की उपलब्धि। स्यात् यही है। यही और मैं न खोजूँगा केवल खोऊँगा। इस विचारणा में जीवन के प्रति उपन्यासकार की जिम्मेदारी का निर्वाह नहीं हो पाता और आलाप-संगति के स्थान पर अलाप की निरर्थक कटुता ही पल्ले पड़ती है। सच तो यह है कि अस्तित्ववादी उपन्यासकारों की भाँति जैनेन्द्र भी अपनी मान्यताओं में चक्कर लगाते थक गये हैं और अपने उपन्यासों पर सिद्धान्त की नाम-परची लगा कर उन्होंने अपने जीवन-बोध के प्रति अन्याय ही किया है क्योंकि जीवन सिद्धान्त से बड़ा है और परे है। बालज़ाक दोस्तोवस्की टालस्टाय और प्रेमचन्द नैतिक और सामाजिक ध्येयों को लेकर कथा लिखते हैं परन्तु ये मूलभूत ध्येय उनकी कथा से निष्कासित किये जा सकते हैं और उन्हें पीछे डाल कर कथा और चरित्र-चित्रण का रसास्वादन भी किया जा सकता है। परन्तु जैनेन्द्र दार्शनिक धारणाओं को अपनी रचनाओं का अनिवार्य तत्त्व बना लेते हैं और विचारक कथाकार पर हावी रहता है। यह स्थिति शोचनीय रहती है और इसी से "जयवर्धन" को सफलता के स्थान पर विरूपता मिली

है। पुराने उपन्यास में तर्कबद्धता और एकाभिव्यक्ति का आग्रह था और पहले कुछ पृष्ठों में ही नायक के चरित्र और मनस्तत्व से हम सुपरिचित हो जाते हैं। उसकी मूलबद्ध वासना का हमें पता चल जाता है। यह वासना प्रच्छन्न भी हो सकती है और प्रतिक्षिप्त भी बन सकती है। नये परिवेश एवं नये पात्रों के साथ अभिघात से नायक का अभिनिवेश प्रभावित अवश्य होता है परन्तु उपन्यासकार इस परिवर्तन की कुंजी हमारे हाथ में धर देता है। "जयवर्द्धन" में पात्रों की चरित्रगत ग्रन्थियों को स्पष्ट करने के लिए जैनेन्द्र ने यह पल्लवित प्रक्रिया अपनायी है परन्तु वह इतनी दूर तक अमूर्त बनते जाते हैं कि पाठक आशंकित हो जाता है और सब कुछ आकस्मिक लगने लगता है। एक सीमा तक अस्तित्ववादी उपन्यास में भी यह कठिनाई सामने आती है परन्तु वहाँ अस्तित्ववादी नायक अप्रत्याशित है क्योंकि वह शून्य पर से आरम्भ करता है और कर्म में स्वतन्त्र है, वहाँ जैनेन्द्रीय नायक इतना शिकारबद्ध है कि उसकी कर्म की स्वतन्त्रता नष्ट हो गई है और वह विस्फोटित ही हो सकता है। उसके इस विस्फोट को समझने के लिए कई भूमिकों पर निरन्तर "फ्लैश-बैक" की योजना रहती है और अब अन्य पात्रों में भी इसी कोटि की अप्रत्याशिता और इसी प्रकार का समाधान रहता है तो एक इन्द्रजाल ही बुन जाता है। 'जयवर्द्धन' में काम-ग्रन्थियाँ राजनीतिक ग्रन्थियों में परिणत हो गई हैं और इसीलिए राजनीतिक समस्या का हल व्यक्तिगत भूमि पर होता है अर्थात् जयवर्द्धन की व्युत्पत्ति ही पात्रों को सुलझाती है। फलतः जयवर्द्धन का त्याग महार्देशीय बलिदान नहीं बनता, वह मन का दुर्बल समझौता मात्र रहता है। इला से साम कर सका जयवर्द्धन स्वयं अपने से नहीं भाग सका है। इसमें सन्देह नहीं कि जयवर्द्धन में मानस-शास्त्र का सम्पूर्ण उपयोग हुआ है और पात्रों के कार्यकलाप मनःप्रेरित हैं परन्तु इससे पात्रों को वही होना पड़ा है जो जैनेन्द्र ने उन्हें होने दिया है। उन्होंने मात्र जगत् की एकता को निराभ्यावृत्ति दे दी है और जीवित जगत् की यथार्थता का आभास देने के लिए विभिन्न घटनाओं अथवा एक ही घटना की विभिन्न प्रतिक्रियाओं को एक ही कथाक्रम-सूत्र में बाँधने का प्रयत्न किया है। इसके विवेच्य में नयापन अवश्य आया है, वह कुछ आकर्षक भी बन सका है परन्तु उपन्यासकार की सर्वाधिक अर्जित सुबद्धता और परिपूर्णता पर आघात हुआ है। प्रेमचन्द तक कथा में मानव-मन की अन्तर्विधियों की खोज चली है और उपन्यासकार ने यथार्थ जगत् की विविधता में मन-जगत् की एकरूपता का दर्शन किया है और फलस्वरूप मानवीय आचरण के नियमों का उद्घाटन हुआ है। परन्तु नया उपन्यास (जिसके प्रतिनिधि जैनेन्द्र हैं) प्रज्ञा के प्रति असम्भवी है और जीवन की दुर्बोधता तथा असमञ्जस को उसने उभार दी है, कम नहीं किया है। इसे हम वास्तविक समझें या क्या ? माना जीवन अबूझ है, परन्तु अबूझता में रस कहाँ है और उपन्यासकार अबूझ देना चाहेगा तो रसोपलब्धि का क्या होगा ? नये उपन्यास में जिस निर्वैयक्तिकता का आग्रह है, वह भाषा की एकतानता, सामान्यता

तथा वर्णनों के अभाव में परिलक्षित है, क्योंकि मर्म-भव में वर्णन कहाँ सहायक हो सकेंगे? इसी से नया उपन्यास कैफे, होटल या घर के सामान्य कक्ष तक सिमट गया है, जिसमें परिवेश की विचित्रता अनिवार्य नहीं रह जाती। फल यह हुआ है कि जीवन की विकृति कल्पना और विच्छिन्नता ही नये उपन्यासकार का धर्म बन गई है और उसने कला को कैमरा बना दिया है। परन्तु कैमरा भी यथार्थ की समग्रता नहीं दे सकता। उसके लिए भी सीमा-निर्धारण और दृष्टिकोण आवश्यक है और प्रत्येक दृष्टिकोण के पीछे "मूल्य" की समस्या है। जैनेन्द्र के चरित्र उनके मूल्यों में बँध कर ही सामने आते हैं और उनकी कथा उनके जीवन-दर्शन की विवृत्ति-मात्र बन जाती है। इसका "जयवर्द्धन" प्रमाण है।

पीछे हमने कहा है कि "जयवर्द्धन" निबन्धनीय या उपन्यासकीय नहीं। वास्तव में उपन्यासकीय तत्व क्षीण है और जैनेन्द्र के पूर्ववर्ती उपन्यासों की पुनरावृत्ति ही उनमें हुई है। आधुनिक जीवन की वैचारिक भूमि इतनी स्तरपूर्ण और जटिल है, उसका उत्तर इतना व्युत्पन्न और समीपी होना चाहिए कि उपन्यास को पूर्णनमस्कार करना पड़ रहा है और इस प्रक्रिया में उसका कलेवर क्षीण और निस्तेज होता जा रहा है। इससे उसका स्वास्थ्य बढ़ा है, यह अभी नहीं कहा जा सकता। पश्चिम में सार्त्र, कामू, मारिया और माइमे जैसे उपन्यासकार उपन्यास को छोड़ कर नाटक, निबन्ध, लेख और वार्ता की ओर मुड़े हैं। यह कदाचित् इस अणु-युग की दुर्निवार्यता है कि उत्तर तुरन्त मिले और कला अमोघी, प्रगतिशील तथा सर्वक्षम हो, परन्तु नूतन और उलझन के प्रति यह आग्रह क्या नये उपन्यास के बस की बात है या इस क्षेत्र में उसकी अपर्याप्तता सदैव बनी रहेगी। "जयवर्द्धन" ऐसे ही अनेक प्रश्न उठाता है जो पश्चिमी साहित्य जगत् में बराबर पूछे जा रहे हैं और अभी अनुत्तरित हैं।

१२

तपोभूमि

'तपोभूमि' जैनेन्द्र और ऋषभचरण जैन की सम्मिलित कृति है। १९३४ ई० में यह कृति प्रकाशित हुई। परन्तु 'अपनी बात' शीर्षक ऋषभचरण जैन के निवेदन से यह स्पष्ट है कि १९३२ की जेल-यात्रा से पहले जैनेन्द्र ने यह कृति उठाई थी और इसे अधूरी छोड़कर ही वह जेल चले गये। धरिणी की कहानी का कुछ भाग, सतीश की कहानी और उपसंहार ऋषभचरण जैन की रचना है। एक प्रकार से नवीन की कहानी और धरिणी की कहानी ही जैनेन्द्र की रचना कही जा सकती है। फिर भी इन दोनों खण्डों में एक तरह से कहानी सम्पूर्ण है और उसमें जैनेन्द्र की कला और दृष्टिकोण का प्रारम्भिक रूप हमें मिल जाता है।

उपन्यास के मुख्य पात्र चार हैं: नवीन, सतीश, धरिणी और शशि। खल नायक के रूप में धरिणी के जेठ संयमराम हैं। सतीश की कहानी में नवलराम नाम के एक नये पात्र की कल्पना हुई है जिससे सतीश सलाह लेता है परन्तु बाद-बाद में उसका नवलराम के साथ दौड़ना हास्यास्पद हो जाता है। गौण पात्र भामिनी भी है, परन्तु चारित्रिक दृष्टि से वे महत्त्वपूर्ण नहीं हैं। कथा का शीर्षक 'तपोभूमि' रखा गया है। संभवतः यह ऋषभचरण जैन की सूझ है क्योंकि दाम्पत्य जीवन (या गृहस्थ जीवन) को सतीश की कहानी में 'तपोभूमि' बनाने का आयोजन उन्हीं का है और नवलराम के द्वारा इसी की व्याख्या हुई है। परन्तु इस मन्तव्य में जैनेन्द्र की भी पूर्ण सहमति हो सकती है क्योंकि उनके परिवर्ती उपन्यास इसी दृष्टिकोण का विकास हैं जो पति से असीम उदारता चाहता है। नवलराम चरित्र की व्याख्या करते हुए कहते हैं "दुनिया ने जिस चीज को चरित्र समझा है मैं उसी को चरित्र नहीं समझता। चरित्र का एक अंग उसे कहा जा सकता है परन्तु मेरी समझ में, वह बहुत क्षुद्र वस्तु है। स्त्री के शारीरिक स्खलन को लेकर वे पूछते हैं मैं पूछता हूँ तुम इतने उदार क्यों नहीं बन सकते। स्त्री के दिल पर अधिकार करो वह इधर उधर चले जाने की कल्पना भी न करे,—यह पहली बात है। इसमें अगर तुम सफल रहो, तो मेरी राय है दोनों दिलों को अपनी-अपनी राह चलने दो। मतलब यह है कि दिल न किसी खास तरफ चले जाने को ही सब कुछ न

समझ बैठो। पुरुष यदि इतना विचारशील बन जाय तो तपोभूमि का सारा झगड़ा मुक्त हो जाय। इसी पाठ से कुछ पहले यूं कहलाया गया है — "यों समझो कि गृहस्थी व्यवस्था का स्थान है। स्त्री और पुरुष में बराबर का बँटवारा किया गया है। दोनों का हिस्सा ज़रा भी कम-ज्यादा नहीं। प्राचीन हिन्दू संस्कृति की सामाजिक व्यवस्था सर्वथा शुद्ध सत्य और युक्तिसंगत थी। ऐतिहासिक घटना-चक्र में पड़कर इस व्यवस्था का पतन प्रारम्भ हुआ। आज हमारे जो संस्कार हैं कुछ सौ वर्ष पहले के इतिहास में उनका प्रभाव पाओगे। पुरुष ने स्त्री पर अपने जिस और जैसे अधिकार की कल्पना कर रखी है मेरी बुद्धि किसी भी प्रकार उसे तर्कयुक्त और न्याययुक्त नहीं स्वीकार कर सकती।" निश्चय ही इस वक्तव्य में जैनेन्द्र का स्वर बोल रहा है चाहे भले ही उनके न हो।

जैनेन्द्र के निजी भाग को लेकर चलें। कहानी छोटी ही है। नवीन धरिणी के साथ खेला है और उसका भाई सतीश उसका सहपाठी रहा है। धरिणी का विवाह हो जाता है परन्तु जिस दिन अपनी दूसरी बाल-संगिनी शशि से नवीन परिणय-सूत्र में बंधने वाला है उसी दिन उसे ज्ञात हो जाता है कि धरिणी विधवा हो चुकी है लांछित होकर पतिगृह से निर्वासिता है। वह उसकी रक्षा में तत्पर हो जाता है और शादी छोड़ कर सत्य की खोज करने का उपक्रम करता है। वह धरिणी उसके जेठ छगनलाल और उसके पिता के बीच में आ जाता है। परन्तु वह चरित्र का दुर्बल है। धरिणी जब उसकी ओर मुख करती है तो वह भाग खड़ा होता है, बचना चाहता है। फलस्वरूप धरिणी गंगा की शरण ले लेती है। इस अप्रत्याशित घटना से प्रभावित होकर नवीन माँ से प्रस्ताव करता है कि शशि से सम्बन्ध वह नहीं कर सकेगा और माँ का आशीर्वाद पाकर वह धरिणी की खोज में निकल जाता है। बड़ी खोज के बाद धरिणी काशी में मिलती है। वह वेश्या बन गई है और राजा साहब के यहाँ मुजरे में आई है। राजा के द्वारा मित्रों को भेजकर उसने नवीन को वहीं बुला लिया और अन्त में नवीन का सद्भाव पाकर उसके साथ चली आई। चली तो आई, परन्तु क्या नवीन उसे पत्नी के रूप में स्वीकार करेगा? नहीं। वह अपना कर्तव्य-मात्र निभाता है। शशि अब भी उसके मन में जागती है। यह है नवीन की कहानी। धरिणी उसके मन को पढ़ लेती है उसकी वेदना जान लेती है और आग्रह करती है कि उसे शशि के पास जाना होगा। नवीन का कहना है कि वह धरिणी के प्रति समाज के अत्याचार का प्रायश्चित्त कर रहा है और उसके पैरों में अपनी सब कामनाओं को चढ़ा कर उसका उत्तरदायित्व पूर्ण होगा। धरिणी कहती है कि यह थोथा आदर्शवाद है भ्रामक है शशि के प्रति भी उसका कर्तव्य है परन्तु मान कर भी नवीन नहीं मानता।

धरिणी की कहानी नवीन की कहानी का एक अंश में पूरक है। धरिणी अबोध बालिका है। विवाह के उपरान्त ही पति बीमार पड़ जाता है और मृत्यु को प्राप्त होता है। जेठ छगनलाल उसे अपने जाल में फाँस लेते हैं और जेठानी यह सब है जब कहीं की

भी नहीं रह पाती। डाक्टर से मिल कर वह "साला" से छुट्टी पा जाना चाहते हैं। परन्तु तभी हरिणी का तेज जाग्रत हो जाता है। उसका सतीत्व नष्ट हुआ है मातृत्व भी वह नष्ट करना नहीं चाहती। उसका पुनर्जन्म होता है। अपने तेज से वह क्रूर-कर्मा संगमलाल को भी परास्त कर देती है। परन्तु जब डाक्टर को प्रवाद में लिपेट कर एकदम अलग बचना चाहता है तो वह पिता के घर आ जाती है। पूछने पर भी वह उस पापी का नाम बताना नहीं चाहती जिसने उसे भ्रष्ट किया है। यहाँ नारी का सनातन रूप सामने आता है जो बलिदान और त्याग की प्रतिमूर्ति है। संगमलाल को लांछित करके वह उसे समाज की दृष्टि में गिराना नहीं चाहती। पता नहीं यह कहाँ तक मनोविज्ञान सिद्ध है? कदाचित् हरिणी में आदर्शवाद की प्रतिष्ठा करने के लिए उसकी प्रतिहिंसा को कुण्ठित किया गया है। परन्तु क्या इससे हरिणी का चरित्र बढ़ा है? हरिणी का नवीन के प्रति आकर्षण क्या एकदम अतीन्द्रिय है। कथा के अन्त में वह ऋषि के प्रति अपने को उत्सर्ग करके उठी अवश्य है परन्तु कथा विश्वसनीय नहीं बन पाती है।

यहाँ जैनेन्द्र लिखित कथांश समाप्त हो जाता है। शेषांश में ऋषि सतीश को ब्याही जाती है परन्तु वह उसे सम्पूर्णतया नहीं पा सकता। ऋषि के मन में नवीन है यह जानकर वह उत्तप्त हो जाता है और धीरे-धीरे उसके भीतर का राक्षस उसे परास्त कर देता है। वह पशु बन जाता है। हरिणी के आग्रह से जब नवीन ऋषि से मिलता है तो उसे पता लग जाता है और नवीन द्वारा ऋषि को लिखे पत्र में प्रेम की बात जिस प्रकार विवाह के ऊपर रखी गई है उससे वह ऋषि को एकदम पतित समझ लेता है क्योंकि इसमें उसकी भी अभिरुचि है। एक दिन लौटता है तो घर खाली पाता है। ऋषि नवीन के पास चली गई है। सतीश नवीन के घर पहुँच जाता है और उसकी हत्या कर डालता है। तभी विक्षता के मध्य में हरिणी वहाँ आ पहुँचती है और वह प्रताड़ित होकर भाग निकलता है। रह जाती है दुखिनी ऋषि और उससे भी अधिक टूटी हरिणी। यह कथा-भाग ऋषभचरण जैन का लगता है।

इसमें सन्देह नहीं कि कथा की पूर्ति में औपन्यासिकता का पूरा-पूरा निर्वाह हुआ है। परन्तु वास्तव में औपन्यासिकता उतनी प्रधान नहीं है जितनी समस्या। लेखक का अति आदर्शवाद भी साफ झलकता है। संगमलाल की लोलुपता की कथा (हरिणी की कहानी) एक प्रकार से पार्श्व भूमि में है प्रधान चीज है लांछित नारी के प्रति नवीन का कर्तव्यमूलक उत्साह और वह तर्क-वितर्क जो नवीन के कर्तव्य को महत्व दे देता है। ऋषि के प्रति उसका काठिन्य इसी कर्तव्य-बुद्धि की उपज है। कथा का मूल नवीन के इस विचार में है 'कि प्यार की चाह कितनी निसर्ग-सुन्दर निसर्ग-शुद्ध वस्तु है। किन्तु इसी को हमने कितनी लांछित वस्तु बना दिया है। नवीन में समाज की प्रचलित मान्यताओं के प्रति (विशेषतया विवाहसूत्र और नारी के चारित्रिक स्खलन के प्रति) विद्रोह ही अधिक भासमान है। चरित्र में वह जैनेन्द्र के अन्य पात्रों की भाँति ही दुर्बल है, परन्तु

उनके विपरीत वह उठ सकता है और समाज को चुनौती देकर मौत तक पहुँच सकता है। जैनेन्द्र के अन्य उपन्यासों के नायक समाज की अनतिक्रम्यता को स्वीकार करते हैं। परन्तु इस उपन्यास में जैनेन्द्र का तारुण्य अधिक जाग्रत है और दार्शनिकता एवं तार्किक सूझ-बूझ ने उसे कुण्ठित नहीं किया है।

औपन्यासिक कला की दृष्टि से रचना दुर्बल है। चार प्रमुख पात्र अलग-अलग बन कर अपनी कहानी कहते हैं। वस्तुतः में कहानी तो पहले ही पात्र की आत्मकथा में आ जाती है और इससे पाठक की जिज्ञासा समाप्त हो जाती है। केवल थोड़े-से चुने सूत्रों को लेकर आकांक्षा को अन्त तक खींचा नहीं जा सकता। मु शरलाल के खलनायक रूप में कोई नवीनता नहीं है। अनेक सामाजिक उपन्यासों में ऐसी परिस्थिति की कल्पना है और पत्नी का (सती) वेश्या बन जाना भी कोई नई कल्पना नहीं है। निश्चय ही यह कल्पना तिलिस्मी ढंग से आयोजित की गई है और अविश्वसनीय है। पात्रों की स्पष्ट रूपरेखा भी सामने नहीं आती और वे भावोच्छ्वास-मात्र रह जाते हैं। इस पहली रचना में ही सिद्धान्तपरता जैनेन्द्र के भविष्य की ओर संकेत देती है और उनके उपन्यासों की भूमि को निर्धारित करती है। यह स्पष्ट है कि नवीन के रूप में जैनेन्द्र स्वयं उपस्थित हैं अथवा कल्पित आदर्श रूप उन्होंने गढ़ा है जो "परख" में कट्टो के सामने आदर्शच्युत है और यहाँ अपने आदर्शों के बल पर हवा में झूलने लगा है।

जैनेन्द्र की "परख" वाली भाषा-शैली का कोई संकेत हमें इस रचना में नहीं मिलता। एक स्थान पर टिप्पणी देकर लेखक ने समसामयिक उपन्यास-कला पर अपना मतव्य भी प्रकट किया है। वह कहते हैं "आधुनिक उपन्यासों में इस तरह की बात की खाल निकालने में कई पन्ने काले कर डालना सभ्य माना जाने लगा है। मैं इसे हिन्दी का सौभाग्य नहीं मानता पर तो भी हिन्दी-हितैषियों की इस उदारता से थोड़ा लाभ उठा लेना चाहता हूँ।" लेखक के अध्ययन और चिन्तन का प्रभाव भाषा-शैली पर कहीं कहीं झलक आया है परन्तु नवीनता इतनी ही भर है। यह स्पष्ट है कि इस रचना से जैनेन्द्र की परवर्ती कृतियों का मंतव्य-साम्य होने पर भी उनकी परिष्कृत कला का कोई अनुमान नहीं होता।

१२

जैनेन्द्र की उपन्यास-कला का विश्लेषण

टकनीक

जैनेन्द्र के उपन्यासों का सबसे बड़ा आकर्षण उनका टेकनीक है। कला के संबंध में चाहे वह अनायास बनने का दंभ करें परन्तु यह स्पष्ट है कि वह जागरूक कलाकार हैं। शब्दों और भंगिमाओं के प्रति उनकी आँखें खुली हैं और उन्होंने कथा को प्रभावशाली बनाने का प्रयास किया है। यह दूसरी बात है कि उनके उपन्यासों में "प्रयास" भी 'अनायास' हो कर आया है। परन्तु यह कला-दृष्टि जैनेन्द्र के उपन्यासों में प्रारंभ से है और प्रारंभिक उपन्यासों के ही वक्तव्यों में स्वयं लेखक उसकी ओर निर्देश किए बिना नहीं रह सका है। 'सुनीता' की यह प्रस्तावना जैनेन्द्र की उपन्यास-कला का मूल मंत्र है जिसमें उन्होंने कहा है कि "मैंने कहानी कोई लंबी चौड़ी नहीं कही है। कहानी सुनाना मेरा उद्देश्य ही नहीं है। अतः तीन-चार व्यक्तियों से ही मेरा काम चल गया है। इस विश्व के छोटे-से-छोटे खंड को लेकर हम अपना चित्र बना सकते हैं और उसमें सत्य के दर्शन पा सकते हैं। उसके द्वारा हम सत्य के दर्शन करा भी सकते हैं। जो ब्रह्माण्ड में है, वही पिंड में भी है। इसलिए अपने चित्र के लिए बड़े कैनवास की ज़रूरत मुझे नहीं लगी। थोड़े में समग्रता क्यों न दिखाई जा सके।" यही दृष्टिकोण उनके सभी उपन्यासों में मिलता है। सभी में कथा सूक्ष्म है मानसिक है। उसमें बहिर्जगत् का घटना-घटाटोप नहीं है अंतर्जगत् का आलोडन-विलोडन है। जैनेन्द्र के सारे पात्र प्रसिद्ध हो चले हैं। ढाई-तीन की गिनती छोड़कर चलें तो भी पात्रों की संख्या उंगलियों की संख्या से अधिक नहीं रहती और उभरते तो तीन चार पात्र ही हैं शेष तो पृष्ठभूमि में रहते हैं।

वास्तव में जैनेन्द्र कथा कहाँ कहते हैं? वह तो सूक्ष्म-सूक्ष्म देते [illegible] भावना देते हैं भीतर का दर्द उभारते हैं। उसके लिए अधिक घटनाओं और पात्रों की आवश्यकता ही कहाँ है? परन्तु सब से महत्वपूर्ण तत्व लेखक का दृष्टिकोण और उसकी मूल्य-संबंधी धारणा है। वह जो दिखाना चाहता है वही "फ़ोकस" में लाता है। इसी में उसकी कला है। अतः इन उपन्यासों में दृष्टिकोण प्रधान है। फलतः टेकनीक महत्व प्राप्त कर लेता है। जैनेन्द्र का विश्वास है कि सत्य अमूर्त है चारित्रिकता भी काल्पनिक चीज है क्योंकि

आदमी गहरा है, तल में रहता है और रहस्यमंडित है। इससे वह रूपरेखाएँ ही उभारते हैं और प्रत्येक उपन्यास में नये ढंग से। एक ही बात को जब कई दृष्टिकोणों से देखना है तो मुद्राएँ भी विभिन्न रखनी होंगी।

फलस्वरूप जैनेन्द्र के उपन्यासों में कथा कई रूपों में सामने आती है। "परख" 'सुनीता" और 'विवर्त' में कथा तृतीय पुरुष में कही गई है। लेखक ही द्रष्टा है। 'तपोभूमि" में तीन पात्र अलग-अलग कई बार आ-आकर कथा कहते हैं। 'त्यागपत्र" में एक प्रमुख पात्र (जज एम० दयाल यानी भतीजा प्रमोद) ही मृणाल का जीवन-वृत्त उपस्थित करता है। "कल्याणी" में वकील साहब के रूप में एक तटस्थ द्रष्टा है जो पात्र होकर भी कथा में असंपृक्त है। वह उपन्यासकार का ही प्रतिनिधि है। उसी की आँखों से लेखक डा० असरानी और कल्याणी के जीवन को देखता है। जीवन की सारी झाँकी नहीं आ सकती इसीलिए वकील साहब के कई मित्र बीच-बीच में प्रसंग उपस्थित करते हैं और कल्याणी के चरित्र को अपने-अपने दृष्टिकोणों से देखते हैं। यह स्पष्ट ही जैनेन्द्र का "अनेकान्ती' ढंग है जिससे वह सत्य के अन्दर में पहुँचना चाहते हैं। "सुखदा" में कथा सुखदा के दृष्टिकोण से कही गई है अतः आत्मकथा है। "व्यतीत" भी आत्म-कथा है। परन्तु जहाँ "सुखदा" में सुखदा की आत्मकथा भीतरी दर्द (या रस) में डूब कर कही गई है वहाँ "व्यतीत" में जयन्त केवल रेखाएँ उभारता है विश्लेषण नहीं करता न अपने चरित्र का कोई सूत्र हमारे हाथ में पकड़ाता है।

इस प्रकार कहीं डायरी है कहीं बिखरे पन्ने सिमेटे गये हैं कहीं 'पुनश्च" भी जोड़ा गया है और अनिर्दिष्ट एवं काल्पनिक कथाओं को भरसक जीवन की वास्तविकता देने का प्रयत्न किया गया है। यह स्पष्ट है कि इस प्रकार कही गई कथाओं की अपनी सीमाएँ हैं। लेखक सर्वदर्शी होकर लिखता है परन्तु वह सच्चा नहीं लगता। उसकी कथा में जीवन का भ्रम नहीं आता। वह ऊपरी लगती है। "डाकुमेन्टरी' (प्रामाणिक) बनाकर उस जीवन को वास्तविकता दी जाती है। परन्तु वास्तविकता का यह लोभ क्या इसलिए नहीं कि जैनेन्द्र कथा कहते हैं और जीवन की यथार्थ भूमि से आगे बढ़कर संभावनाओं को अधिक छूते हैं? जो हो यह स्पष्ट है कि जैनेन्द्र के उपन्यासों की रहस्यमयता इस कारण भी है कि उन्होंने सर्वदर्शी लेखक के दृष्टिकोण को त्याग दिया है और पात्रों को बीच में रखकर अनेक प्रकार से अनेक कोणों से उनको पकड़ने का प्रयास किया है। हम कह चुके हैं कि जैनेन्द्र मन के चितेरा हैं, अंतर्जगत् के कवि हैं, वह बहिर्जगत् को भीतर से ही छूते हैं। इसलिए "मानस' को पकड़ने के लिए उन्हें प्रयास करना पड़ता है। तभी तो वह कम पात्रों को लेकर चलते हैं और जैसे "कल्याणी" या 'त्यागपत्र' में उनकी दृष्टि प्रधान पात्री पर ही रही है। वास्तव में उनके उपन्यास ही नायिका प्रधान हैं। इन नायिकाओं के भीतरी स्तरों को अर्थ देने में भी जैनेन्द्र ने सफलता पाई है। कभी उन्होंने स्वयं अपने भीतर झाँकने की चेष्टा की है और इस प्रयत्न में जैनेन्द्र की पकड़ में जो आ गया है वह उन्होंने हमें दे

किया है। कभी उन्होंने प्रधान या तटस्थ पात्रों के भीतर से उनके भीतर झाँकने की चेष्टा की है। परन्तु किसी के मन को दूसरा पूरा-पूरा कैसे समझेगा। फल यह होता है कि जहाँ 'सुनीता' में सूक्ष्मता होते हुए भी गाँठें कम हैं वहाँ 'त्यागपत्र' और "कल्याणी" में मृणाल और कल्याणी अबूझ हैं। बुआ के मन में प्रमोद की पैठ ही कितनी और साहब अपने वकीली ज्ञान को लेकर, या मित्रों की कामकाजी साक्षी को लेकर कल्याणी के अन्तरतम प्रदेश की हलचलों को कैसे पकड़ सकते हैं? इस प्रकार लाचारी दृष्टिकोण सब भी है। नये टैक्नीक की सीमायें हैं और यथार्थ का भ्रम चाहे जो सुधा गया हो कथाएँ रहस्यमय हो रही हैं। उनमे पाठक तुष्ट नहीं होता। जैनेन्द्र कहेंगे पाठक को तोष उन्हें कहाँ देना क्यों देना? उन्हें तो उकसाना है, जिज्ञासा जगाना है। इस दृष्टिकोण से जैनेन्द्र परम सफल कलाकार हैं क्योंकि पाठक उनके पात्रों में उलझ जाता है और उसकी उत्तेजित चेतना समाधान का मार्ग ढूँढ़ने के लिए भीतरी प्रेरणा प्राप्त करती है। इस तरह जैनेन्द्र ने उपन्यास को गहराई दी है और उसे सूक्ष्म बनाया है। परन्तु इस प्रयत्न में उनके चरित्र "चारित्रता" खोकर अबूझ भी बन गये हैं। इन पात्रों को दूसरे ढंग से रखने पर ये क्या होते यह हमारे लिए अनुमान का विषय है। परन्तु अब तो ये जो हैं। उन्हें दूसरा होना ही नहीं है। उन्हें उसी रूप में लेकर ही हमें चलना होगा।

कथा-संगठन

प्रेमचंद की तरह जैनेन्द्र बड़ी कथाएं लेकर नहीं चलते। सभी उपन्यासों में केवल आधिकारिक कथा ही है वह भी संपूर्ण जीवन को लेकर नहीं जीवन के एक अंग को, अधिकांश दो-ढाई वर्षों को लेकर चली है। जहाँ कथा कुछ लम्बी है जैसे "व्यतीत" में वहाँ उसे कलात्मक ढंग से उस बीच में तोड़कर सूक्ष्म बना दिया गया है। लेखक चित्र में झरोखा रखने का दावा करता है, अतः कुछ थोड़े से पृष्ठों में ही वह चारित्रिक संभावनाओं की विस्तृत चित्रपटी भर देता है। वास्तव में जैनेन्द्र का मानव-जीवन को देखने का दृष्टिकोण ही प्रेमचंद से भिन्न है। वह वस्तु नहीं देते भावों का आलोड़न विलोड़न देते हैं, अन्तस देते हैं। आभ्यंतरिक मनुष्य उनकी कथा का विषय है हाड़-मांस का शरीर नहीं तो वस्तु रूप में बची है। फलतः उनके पात्र बेचारे हैं। वे कुछ करते-धरते नहीं जान पड़ते स्वस्थ होने में ही उनकी सार्थकता है और घटनाएँ उतनी ही हैं जितनी उनकी मानसिकता को उभारने के लिए काफी है। घटनाएँ भी चारित्रिक भूमि से नहीं निकलतीं क्योंकि जैनेन्द्र चरित्र को कोई निश्चित इकाई नहीं मानते। वह मानव-जीवन की विलक्षणता में विश्वास करते हैं। फलतः घटनाओं में तारतम्य कम रहता है या उनके बीच के सूत्र जोड़ना कठिन होता है। इससे उनमें चमत्कृति रहती है परन्तु चरित्रों की मनोवैज्ञानिक पद पर वह पूरी नहीं उतरती। जैनेन्द्र ने बीच-बीच में प्रतीक रूप में "स्वप्न" या कल्पनाजन्य वार्तालाप" की अवतारणा की है जैसे "त्यागपत्र" में प्रमोद और मृणाल के बीच में या संपूर्ण प्रसंग को ही प्रतीक-रूप में रखा है, जैसे कल्याणी के मनः भ्रम (देखूँ

विवेचन) का प्रसंग जिसके द्वारा देवावसकर की अवतारणा की गई है। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि जैनेन्द्र के लिए मानसिक भूमि ही पर्याप्त रही है। वह मानस के उद्वेलन को ही घटना मानते हैं, बहिर्जगत् के घात-प्रतिघात को नहीं। इसी से परंपरागत ढंग से घटनाओं की आयोजना कम है।

परन्तु जहाँ जम कर कथा कही गई है वहाँ कथा में नाटकीयता भी रखी गई है और कथा धीरे-धीरे खुलती है एवं आकांक्षा का तत्व अंत तक बना रहता है। 'कल्याणी' में यही स्थिति है। उसे हम परंपरागत ढंग के कथा-संगठन पर परख सकते हैं। बहुत दूर जाकर हमें मालूम होता है कि मूल में कल्याणी का प्रेम भाव है विफल प्रेम है। इस नये संदर्भ में डा असरानी (पति) के प्रति उसका विक्षोभ समझ में आने लगता है। यह कल्याणी के चरित्र की कुंजी है जो बहुत देर में मिलती है परन्तु इसके द्वारा हम उपन्यास के सारे रहस्य-कक्ष उन्मुक्त कर सकते हैं।

जैनेन्द्र की कथाएँ जीवन प्रवाह को लेकर चलती हैं या खंड जीवन को। यह खंड जीवन भी वस्तु रूप प्रधान नहीं भाव प्रधान रहता है। फलतः प्लाट की योजना उसमें चलती नहीं। 'कल्याणी' में वह है और इसी से वह परंपरागत ढंग के उपन्यास के निकट है परन्तु अन्य उपन्यासों में केवल कथा कही गई है। कथा भी क्या "घटनाएँ हैं या "चित्र" हैं जिन्हें स्वतंत्र रूप से गढ़ा गया है और आलोचना विवेचना के बिना यों ही उपस्थित कर दिया गया है। यह कथा व्यक्ति जीवन के वैयक्तिक प्रवाह को लेकर चलता है और घात प्रतिघात की उतनी आयोजना नहीं होती जितनी सहज जीवन-व्यापार के उद्घाटन की। प्रति दिन प्रति क्षण की भाव-तरंगों का आलेखन लेखक करना चाहता है जिससे यह जीवन-व्यापार उसके लिए सुगम हो। बड़ी दूर तक कथा की यह सहज स्थिति चलती है पर स्पष्टतः इस सूक्ष्मता को अपेक्षित सीमा तक बढ़ाया नहीं जा सकता। फलतः लेखक को किसी विस्फोट की कल्पना करनी पड़ती है। यह या तो भाव विस्फोट होता है या कर्म विस्फोट, परन्तु इसके पूर्वापर सूत्र हमें नहीं मिलते और हम उसे लेकर आश्चर्य-चकित हो जाते हैं। जहाँ यह भाव-विस्फोट आया है, वहाँ इसके बाद प्रधान पात्रों का प्रत्यावर्तन है जैसे "सुनीता" में। जहाँ कर्म का विस्फोट है जैसे "विवर्त" में या "सुखदा" में वहाँ कुछ ऐसी अकल्पित घटनाएँ घटित होती हैं जो समस्या के उभय पक्षों में से एक के पक्ष में फैसला कर देती हैं जैसे इन दोनों उपन्यासों में हिंसा पर अहिंसा (या प्रेम-धर्म) की विजय दिखाई गई है और लाल और जितन विफल होकर पलायन कर जाते हैं। इस पलायन के साथ ही विवाह और प्रेम (अथवा घर और बाहर) संबंधी व्यक्तिगत समस्या भी हल हो जाती है। इस प्रकार की योजना दो भाव-सूत्रों को लेकर चलती है एक प्रेम और विवाह का सूत्र है दूसरा हिंसा और अहिंसा का। वास्तव में 'सुनीता' 'सुखदा' और "विवर्त तीनों उपन्यासों में ये ही भाव-सूत्र पाये हैं। 'सुनीता' में अभी हरिप्रसन्न ही क्रान्तिकारी है और हिंसा अहिंसा

की कोई समस्या नहीं उठी है। सुनीता हरिप्रसन्न को हिंसा के मार्ग से हटाना चाहती है परन्तु उस मार्ग के प्रति और मूल-रूप से हरिप्रसन्न की आवारगी और उच्छृंखलता के प्रति उसके मन में आकर्षण है। हरिप्रसन्न के मन की काम-ग्रंथि खुलने पर "हिंसा" की कोई आवश्यकता नहीं रहती क्योंकि हरिप्रसन्न की क्रांतिकारिता स्वयं अपने से भागना ही है। यहाँ दमित काम ही हिंसक बन गया है। इस प्रकार "सुनीता" में हिंसा-अहिंसा का सूत्र प्रबल नहीं रह गया है। "सुखदा" में घर और बाहर की समस्या कान्त और लाल को लेकर है और हिंसा-अहिंसा की समस्या हरिदा और लाल को लेकर है। वास्तव में हरिदा और लाल के बीच में जो समस्या है वह हिंसा-अहिंसा की नहीं गांधीवादी हिंसा (जो कम-से-कम हिंसा चाहती है और नैतिकता पर प्रतिष्ठित होने के कारण नारी का भावमय उपयोग ही चाहती है, सर्वोपयोग नहीं।) और पश्चिमी ढंग की क्रांति-धर्मी हिंसा (जो नैतिकता को बाधा नहीं मानती और जन-निष्ठ न होकर दलनिष्ठ है) की समस्या है। इस प्रकार कथा में भावना के दो समानान्तर सूत्र चले हैं एक सुखदा के पति के प्रति विद्रोह को लेकर उसके बहिर्गमन की कथा बनता है, दूसरा लाल के हरिदा के प्रति विद्रोह को लेकर गांधीवादी हिंसा की अव्यावहारिकता और पराजय (परन्तु क्या वह दूसरी तरह विजय भी नहीं है क्योंकि हरिदा का बलिदान लाल को निरस्त्र कर देता है और वह मन से हार जाता है)। "विवर्त" में जितेन में प्रेम और हिंसा के दोनों सूत्र फिर एक बार मिल गये हैं और सुखदा की अपेक्षा कथा अधिक संगठित है। जितेन की हिंसा निष्फल प्रेम के कारण विद्रोहजन्य है। वहाँ वह राजनीतिक कम है। दलनिष्ठ होने के कारण सामाजिक ज्यादा है। परन्तु अपने मन के विवर्त से परिचित होकर जितेन अपनी क्रान्तिकारिता की मूल दुर्बलता को जान जाता है और उसे खत्म कर देता है। इन तीनों उपन्यासों में कथा विस्तार के लिए क्रान्तिकारी आन्दोलन को लाया गया है और उसे व्यर्थ कराया गया है। रवीन्द्र के "घरे-बाइरे" और "चार अध्याय" (चतुरंग) और शरत् के "पथेर दाबी" में क्रान्तिकारी आन्दोलन की जो रूपरेखा है उसे ही जैनेन्द्र ने ग्रहण किया है परन्तु क्रान्तिकारियों के वास्तविक जीवन में उनकी कितनी पैठ है, यह नहीं कहा जा सकता। क्रान्तिकारी दल के नेताओं ने "पथेर दाबी" तक को अस्वीकार कर दिया है। उनका कहना है कि यह चित्रण वास्तविकता से दूर है क्योंकि इसमें क्रान्तिकारियों को भावुकता की भूमि पर से देखा है और इसीलिए उसमें प्रेम प्रसंगों को लाकर अन्याय किया है। दल टूटे हैं इसलिए कि हृदय टूटे हैं। यह योजना क्रान्तिकारी वर्ग को स्वीकार नहीं है। परन्तु बंगला और हिन्दी उपन्यासों में इसे ही मान्यता मिली है।

शेष उपन्यासों को लें तो कथा-संगठन के तीन रूप सामने आते हैं। 'परख' में सत्यधन के सत्य सिद्धान्त की विफलता बिहारी को लाकर की गई है। स्वयं सत्यधन के मन में द्वैत है। एक ओर गरिमा से विवाह करके समाज की मर्यादा मिलती है दूसरी ओर विधवा कट्टो से विवाह करके मर्यादा जाती है। बिहारी को न लाकर भी सत्यधन

को विफल किया जा सकता था। बिहारी की योजना जैनेन्द्र की आदर्शवादी प्रवृत्ति की विजय है। कथा को विघटन और अव्यावहारिक आदर्शवादी परिणति उसी के कारण (अथवा उसी के माध्यम से) मिली है। 'वैषम्य-पक्ष' की कल्पना सुनीता की निरावर गता से कम विस्फोटक नहीं है परन्तु जैनेन्द्र सूझ के धनी हैं। उनके उपन्यासों की तिलिस्मी परिस्थिति मनोविज्ञान या कला के किन्हीं बन्धनों को स्वीकार नहीं करती। 'त्यागपत्र' में पतोन्मुख (परन्तु क्या ऊर्ध्वोन्मुख भी नहीं) मृणाल की जीवन-कथा है जो बड़े चमत्कारिक ढंग से संक्षेप में कही गई है। उसकी विशेषता यही है कि उसमें रूप विधान का किञ्चिद् मात्र आग्रह नहीं है। जीवन बहता है इसी से कथा भी बहती है। "व्यतीत" में प्रारम्भ से अन्त तक जयन्त और अनिता की वितृष्णा की गाथा है परन्तु जयंत के चरित्र को जीवातीत भूमि देने के लिए और अन्त में उसके हृदय में अपने को बचाये रखने की क्षमताक्षमता और पीड़ा भरने के लिए बुधिया सुमिता चन्द्री और मिसेज कपिल के प्रेम-निवेदनों की कल्पना हुई है। फलतः इस रचना का रूप-विधान कई स्वतन्त्र प्रेम-प्रसंगों की शृंखला लेकर चलता है और ये प्रसंग जयन्त अनिता के जीवन-पट में ताने बाने बुनते हैं।

घटनाओं में प्रतीक-योजना

नई उपन्यास-कला में मार्मिकता की प्रधानता रहती है। वस्तु तत्त्व-पक्ष नहीं भाव-पक्ष ही सब कुछ होता है। घटनाएँ भी भाव-पक्ष से निःसृत होकर उसका प्रतिबिम्ब मात्र होती हैं या पूरक। ऐसी स्थिति में उपन्यासकार उन्हें केवल घटनाएँ बना कर ही अपने कर्तव्य की इतिश्री नहीं समझता। वह दूर जाता है। वह कुछ ऐसी घटनाएँ लेता है जो दूर तक अपना प्रभाव डालती हैं। ये घटनाएँ प्रतीक रूप में आती हैं और इनसे संक्षेप में बहुत कुछ कह दिया जाता है या व्यंजित होता है। वास्तव में इस प्रतीक-योजना के द्वारा उपन्यासकार पात्रों के अन्तद्वंद्व को ही प्रकट करता है। सुनीता में राजरानी मीरा" फिल्म को इसीलिए लाया गया है कि उस पर से श्रीकान्त और सुनीता नारी के दायित्व के सम्बन्ध में प्रश्नोत्तर कर सकें। श्रीकान्त राणा का पक्ष लेता है, सुनीता मीरा का पक्ष लेती है। यही वास्तव में उपन्यासकार का भी दृष्टिकोण है। पति की ओर से देखने पर राणा का पक्ष ही स्वाभाविक है मीरा की ओर से देखने पर वह किसी भी प्रकार लांछित नहीं है। इस प्रकार दृष्टिकोण का बदल कर ही हम जैनेन्द्र के पात्रों के अन्तस्तल में प्रवेश कर सकेंगे।

"कल्याणी" में तो समग्र सब कुछ को कल्याणी करती है प्रतीक-व्यंजना ही है। डा० भटनागर के परिवार में गुजराती आया यदि पति से स्वतन्त्र होकर पत्नी की धार्मोपलब्धि की योजना है तो धर्म भाव भी उसी प्रकार की योजना है। किसी भी प्रकार कल्याणी पति का भाग पति को देकर उससे किञ्चित् स्वतन्त्र होना चाहती है। इसके बाद घर में हत्या की गई नारी की प्रेतात्मा की भाँति और पुरवासीकर में हत्यारे

की कल्पना मनोवैज्ञानिक प्रतीक-योजना ही है। इस योजना में कल्याणी का आत्मपीड़ित मन ही उभरता है। वास्तव में जैनेन्द्र के चरित्र उनके सिद्धान्तों के प्रतीक बनकर सामने आते हैं और उपन्यासों में भी किसी-न-किसी प्रकार की प्रतीक-योजना चलती रहती है। फल यह होता है कि जीवन का यथार्थ स्पन्दन लुप्त हो जाता है और सब कुछ सम्भाव्य भावों पर आधारित होने लगता है। "घटनाओं में स्वयं सत्य की वाणी का प्रस्ताव है" ऐसा कहकर लेखक घटना मात्र देने का आग्रह करता है और आलोचना विश्लेषण से बचना चाहता है। वह स्पष्ट रूप से घोषणा करता है कि "जिस पर कल्याणी का यह जीवन चरित नहीं है। उनके व्यक्तित्व को चारों ओर से लेकर विश्लेषण द्वारा पुनर्निर्माण करने की मेरी इच्छा नहीं है। यह तो सिर्फ कहानी है जिसमें जैसा हुआ तो मैंने भर पाया। सहानुभूति से आगे मुझे और क्या चाहिए? पात्र यदि चाहिए तो उसी को टिकाने के लिए। चरित्र लिखने की मेरी ताब नहीं। जो मर्म है और सब सर्वस्व है उसकी पूर्ति गढ़ने का मैं कष्ट उठाऊँ तो क्यों? बस कुछ यार की बातें कहता हूँ कि कहीं हमारा चित्त छू जाय और उसमें रस का स्रोत खुल जाय।" (कल्याणी पृ ६१) जहाँ दृष्टिकोण यह है वहाँ सारी कथा ही अवास्तव है, प्रतीक मात्र है, नगण्य है। पाठक की भाव-संवेदना को झकझोरना ही वहाँ लेखक का ध्येय है, शेष तो अतिरिक्त उपकरण हैं। घर और बाहर, हिंसा और अहिंसा के गुणों को जैनेन्द्र दो विरोधी पात्रों में बाँट देते हैं और उनकी क्रिया-प्रतिक्रिया स्वानुभूत न होकर वैचारिक होती है। इसीलिए जैनेन्द्र के पात्रों का भाव-जगत् अबूझ रहता है। उनकी शक्ति उनके विचारों में है। जहाँ विचारों की रेखाएँ स्पष्ट नहीं हैं या सूक्ष्म हैं वहाँ पात्रों में ऐसा क्या है जो पाठक का आस्वादन ले सकेगा। फलस्वरूप यह मूलतः प्रतीकात्मकता औपन्यासिक कला पर भारी पड़ती है और उसे निर्विशेष बना देती है। परन्तु जहाँ प्रतीक-पद्धति का कलात्मक उपयोग हुआ है, वहाँ बात थोड़े में कह दी गई है और उसमें सुगुम्फित व्यंजना है।

पात्र

जैनेन्द्र के उपन्यास-पात्र बहुत नहीं हैं। थोड़े से चरित्रों को लेकर वे चले हैं। मुख्य चरित्र तीन चार से अधिक हैं, शेष पद-पूर्ति के लिए हैं। फलस्वरूप वहाँ प्रेमचन्द के उपन्यासों-जैसी भीड़ नहीं है। पूरक चरित्रों का तो पूरा परिचय भी हमें नहीं मिलता। वे आते हैं और चले जाते हैं। जैसे वे थे वैसे कोई भी हो सकते थे। ये पूरक चरित्र या तो किसी दल के सदस्य हैं, या प्रधान पात्रों के माता-पिता-सम्बन्धी हैं। कहीं-कहीं मानस रेखाओं में उन्हें सजीव करने की भी चेष्टा है, कहीं-कहीं वे यों ही आ गये हैं। न आये होते तो भी कोई बात नहीं थी।

जैनेन्द्र के ढाई पात्रों की बात बताई गई है। विवाहिता नारी, प्रेमी और पति। कहा गया है कि पति उदार है, उसमें पत्नी के प्रेमी के प्रति ईर्ष्या का कोई भाव नहीं है। यह राग-द्वेष के परे तटस्थ द्रष्टा मात्र होना ही उसकी सार्थकता है। यह सचमुच

"बेचारा" है। यह नये विवाहिता नारी और प्रेमी। उन्हें ही लेकर चारित्रिकता की सृष्टि हुई है परन्तु यह चारित्रिकता किस कोटि की है ?

यह कह देना कि "टाईप पात्र है इससे उपन्यासकार बाधित नहीं हो जाता क्योंकि शरत्चन्द्र के सब उपन्यासों में (श्रीकान्त और पथेर दाबी को छोड़ कर) पात्रों की कमी ही सामने आती है। उपन्यास-मात्र की त्रिकोणमूलकता प्रसिद्ध है। परन्तु ये टाईप पात्र एक ही प्रकार की चारित्रिकता लेकर आये हैं और यह ठीक नहीं हुआ है ऐसा व्यंग्य है। यदि विचार यह है तो किसी सीमा तक उचित होने पर भी वह निर्भ्रान्त नहीं है। क्यों सुनीता मृणाल कल्याणी मोहिनी और अनिता क्या एक हैं, समान हैं 'कार्बन कापी' हैं। यह अवश्य है कि वे लेखक के प्रयोग मात्र हैं उन्हें कहीं अलग-अलग में भी लिया गया है जैसे "सुनीता" में परन्तु वे स्पष्ट ही भिन्न हैं। उनकी जीवनस्थितियाँ ही भिन्न नहीं हैं उनका मानसिक जीवन ही भिन्न है। विवाह और प्रेम की समस्या सब के सामने है परन्तु इस एक समस्या के प्रति उनकी प्रतिक्रियाएँ भिन्न भिन्न हैं। सबका मनस्तत्व भी एक नहीं है। क्यों कल्याणी है सुनीता अन्तर्मुखी है, सुखदा बहिर्मुखी मोहिनी अभिजात्यवर्गी और व्यवहार-चतुर अनिता एकदम निद्वन्द्व आधुनिका जो देना ही नहीं चाहती पाना भी चाहती है। इस प्रकार जैनेन्द्र की प्रधान पात्रियाँ सिद्धान्तप्राणा होने पर भी कलाकार के जाने-अनजाने कुछ हो गई हैं जो साहित्य के गर्व और विस्मय की वस्तु है।

इन प्रधान पात्रियों के अतिरिक्त और भी हैं जैसे परिमा सत्या बुधिया सुमित्रा चम्पा मिसेज़ कपिल मिसेज़ बधावर। वास्तव में पहली दो को छोड़कर शेष 'व्यतीत' में हैं जो छोटा होने पर भी दो दशकों की चित्रपटी समेट लेता है। इनमें से कुछ कम सामने आने पर भी हमारे मन को मोह जाती हैं जैसे चन्द्री। जैनेन्द्र की कला की एक विशेषता यह है कि वह पात्रों को स्थूल रंग-रूप नहीं देती। वे उन्हें यों ही छोड़ देते हैं। फलतः उनका रंग-रूप आकार प्रकार अनिर्दिष्ट रहता है। वे कोई भी हो सकते हैं। उनकी मानसिकता ही हमारी पकड़ में आती है। उनके मधु-विकसित गुण ही हमें खींचते हैं। परम्परागत ढंग की चरित्रात्मकता उनमें नहीं आती। वे न अच्छे होते हैं न बुरे। पाप-पुण्य की बँधी-बधी रेखाओं में वे नहीं बँध पाते। अधिकतर वे समाज की धारणा के विपरीत चलते हैं और समाज के दंड को सहर्ष स्वीकार करते हैं। इन उपन्यासों में प्रेम कथाएँ अनिवार्य रूप से आई हैं। जहाँ प्रश्न सामाजिक अधिक है जैसे "त्यागपत्र" में वहाँ भी व्यक्तिगत भूमि पर प्रेम का त्रिकोण है। यह प्रेम-त्रिकोण विवाहिता नारी को लेकर चलता है। केवल 'परख' में विधवा पड़ती है। एक ओर पति है दूसरी ओर प्रेमी। यह प्रेमी नारी के जीवन में विवाह से पहले भी आ सकता है जैसे 'त्यागपत्र' "कल्याणी" "विवर्त" और 'व्यतीत' में और दाम्पत्य जीवन के बीच में भी आ सकता है जैसे "सुनीता" और "सुखदा" में। परन्तु सब कहीं वह पति और पत्नी के बीच में आ

जाता है और कुछ से चलती हुई गृहस्थी को झकझोर देता है। इस प्रकार जैनेन्द्र के उपन्यास हार्डी के उपन्यासों की तरह वैवाहिक विडम्बनायें हैं। सनातन प्रेम-कथाओं में विवाह या मरण परिणति है और प्रेम किशोर-किशोरी का अपरासम्पिक्त प्रेम है। उसमें उद्दाम वासना है तीव्रता है। यहाँ गृहस्थी के बीच में (विवाहिता नारी पत्नीत्व और नारीत्व के सारे कर्तव्यों के बीच में निश्चित रहती है) प्रेम की पुकार आती है और वह अनसुनी नहीं की जा सकती। इस प्रकार "परकीया रति" इन उपन्यासों की विशेषता है। परपुरुष के प्रति प्रेम को समाज में गर्हित माना है। उससे सती के आदर्श की अवमानना होती है। परन्तु नये उपन्यासकार यह मान कर चले हैं कि "परिपूर्ण मनुष्यत्व सतीत्व से कहीं बड़ा है। (शरत्) और जैनेन्द्र के उपन्यासों की विवाहिता नारी को भी इस द्वंद्व स्थिति के पार जाना होता है। परन्तु शरत् की नारी की तरह वह इस विषम स्थिति में संत्रस्त और भावग्रसित नहीं रहती। वह अपने को "पापिष्ठा" नहीं मानती। बुद्धि का सम्पूर्ण वैभव उसके पास है। वह विवाह को समाज-संस्था मान कर चलती है। विवाह पति को तन देने की व्यवस्था है, गृहस्थी चलाने के लिए और बच्चे जनने के लिए उसकी योजना है परन्तु इस कर्तव्य का पालन करती हुई भी नारी मन से स्वतन्त्र है। मन वह प्रेमी को देगी। यद्यपि तन न दे सकने की पीड़ा भी उसे रहेगी। पति उदाराशयी है महाप्राण है। वह स्वयं निष्फल प्रेमी के जीवन को सार्थक करना चाहता है और पत्नी को भरपूर सहायता देता है कि वह अपने नारीत्व को सफल करे। शरत् के उपन्यासों में पति-प्रेमी के द्वन्द्व को लेकर नारी टूटी है। पति भी केवल "पति" नहीं है जो नारी से गृहिणी की कर्तव्यनिष्ठा पा कर ही शान्त हो जाय। वह उसे सम्पूर्ण ही चाहता है। वह भी कम प्रेमी नहीं है। फलस्वरूप यहाँ विकास द्वन्द्वमय है और पत्नी या प्रेमी की मृत्यु से ही छूट की कल्पना की गई है। पत्नी का या प्रेमी का यह बलिदान कथा को दुखान्त बना देता है और बचे हुए दो प्राणियों के प्रति हमारे भीतर सहानुभूति के स्रोत झरने लगते हैं। इस योजना में अन्तर्द्वन्द्व स्पष्ट है और मनोवृत्तियों का स्वतन्त्र और सबल प्रवाह है। जैनेन्द्र के "पतियों" की उदाराशयता ने द्वन्द्व को कुंठित कर दिया है। कहीं तो स्वयं पति ही निरानन्द दाम्पत्य जीवन से उभरने के लिए अपने मित्र को लाकर प्रेम की व्यवस्था करता है (जैसे 'सुनीता' में) कहीं वह सत्य और अहिंसा से बंधा है (जैसे 'सुखदा' में) और उसके चरित्र में ही 'सन्तपन' है कहीं वह अभिजात्यपर्थी और संस्कारी व्यक्ति है जो पत्नी के प्रेम प्रसंग को लेकर हल्लागुल्ला नहीं मचाना चाहता। सभी स्थितियों में पति में किसी गहरी आत्मा को झकझोरने वाली पीड़ा का अनुभव हम नहीं करते। सभी कथाओं में प्रेमी पलायन कर जाता है। शरच्चन्द्र के उपन्यासों में जो भयंकर बवंडर उठते हैं वे यहाँ नहीं उठते। एक प्रकार से विवाह-संस्था की जटिलता और पति की उदारता प्रेमी को निष्फल कर देती है और वह यह जानकर मान बैठा होता है कि वह केवल नारी के तन का नहीं चाहता (क्योंकि वह तो अब उसे भरपूर मिल रहा है)

वह उसके तन को भी चाहता है। वह विशुद्ध प्रेम की भूमि से च्युत होकर अपने मन से नीचे गिर जाता है और इस आत्मप्रवञ्चना को समझकर पलायन करता है।

इन उपन्यासों में द्वन्द्व की सत्ता केवल नारी में ही रखी गई है। वह प्रेमिका है (प्रेमी है) और पत्नी है। एक ओर नारीत्व की माँग है, दूसरी ओर पत्नीत्व और मातृत्व की। जैनेन्द्र मातृत्व की माँग को अधिक नहीं उभारते यद्यपि सुखदा कल्याणी और अनिता सन्तानवती हैं। वे नारीत्व और पत्नीत्व को ही लेकर चलते हैं। पत्नीत्व जब तक बन्धन लगता है तब तक नारी उसके प्रति विद्रोह करती है परन्तु पति की ओर से जब व्याघात नहीं आता तो स्वयं अपने भीतर के द्वन्द्व से क्षत-विक्षत हो जाती है। यह द्वन्द्व उसे तोड़ देता है। तन-मन को दो मान कर वह कुछ दूर तक प्रेमी और पति में पटरी बिठाना चाहती है। वह करुणा सेवा और अपार आत्मदान के बल पर प्रेमी को उबारना चाहती है परन्तु पीछे लौट कर वह देखती है कि घर टूट गया है और वह निराश्रिता रह गई है। लौटने के द्वार बन्द हैं। स्वयं उसके मन ने दीवार खड़ी कर दी है। फलतः वह टूट जाती है। जहाँ वह पति की बाँहों में लौट भी सकी है जैसे 'विवर्त' में वहाँ भी वह भीतर से टूटी हुई करुणा-मूर्ति मात्र है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जैनेन्द्र के उपन्यास योजनामय हैं जीवन प्रयोग हैं। प्रयोग के पीछे सिद्धान्त हैं और पात्रों को इधर-उधर रख कर विसपटी बदल देने पर कथाएं भिन्न बन गई हैं। परन्तु इस तरह पात्रों का स्वतन्त्र व्यक्तित्व समाप्त हो गया है। वे पूर्व निर्दिष्ट, यांत्रिक और निष्फल हैं। उनमें यान्त्रिकता ही अधिक है और वस्तु रस-पक्ष कम है। वे समस्यागर्भित हैं प्रश्नचिन्ह हैं। हाड़ पर मांस चढ़ाने से ही हाड़-मांस का सजीव प्राणी मनुष्य नहीं बन पाता। यह सत्य यहाँ झलकता है।

अभिव्यञ्जना

(जैनेन्द्र के उपन्यासों की अभिव्यञ्जना बड़ी शक्तिशाली है और यह उसका बहुत बड़ा आकर्षण है। इसका कारण यह है कि वह कम रंग विरल है। उनमें स्थूलता नहीं है सूक्ष्मता है और वह केवल सत्य केवल तथ्य केवल भाव-बोध मात्र देती है। नीति कथाओं और धर्म-गाथाओं में जिस प्रकार सत्य को रूप बना कर सीधी-सादी विरल रेखाओं में उपस्थित किया गया है उसी प्रकार की अभिव्यञ्जना-शैली जैनेन्द्र की है। 'सुनीता" की भूमिका में और 'कल्याणी' में कई स्थानों पर उन्होंने अपनी अभिव्यञ्जना पर स्पष्ट रूप से प्रकाश डाला है। कहानी सुनाना उनका उद्देश्य नहीं है। वह कहानी नहीं लिखते विश्व के छोटे-से-छोटे खण्ड को लेकर चित्र बनाते हैं जिससे सत्य के दर्शन पा सकें और दूसरों को (पाठकों को) सत्य के दर्शन करा सकें। यह सत्य का दर्शन कैसे होवे ? 'सत्य" ही यथार्थ है परन्तु यथार्थ को जब हम समझने लगते हैं तो 'सत्य" नहीं रह जाता क्योंकि तब हम अपनी रुचि-अरुचि का उस पर आरोप कर देते हैं। इसलिए उपन्यासकार की अभिव्यञ्जना यथार्थ को लेकर चले परन्तु आलोचना विवेचना की

व्यर्थता से बचे। उपन्यासकार घटना ही कहता चले क्योंकि घटना में स्वयं सत्य की वाणी का प्रस्ताव है। प्रेमचन्द ने कहा था कि भविष्य में उपन्यास जीवनचरित होगा। जैनेन्द्र यह नहीं मानते क्योंकि जीवनचरित कोई किसी का कैसे लिखेगा—आत्मचरित भले ही लिखे। कोई किसी को कितना जानता है? "जीवनचरित" देने के लिए व्यक्तित्व को चारों ओर से लेकर विश्लेषण द्वारा उसका पुनर्निर्माण करना होता है, परन्तु जहाँ न जानना ही सार्थकता है वहाँ चरित लिखने की बात कहाँ से आयेगी? इसीलिए "कल्याणी" में बीच में लेखक ने (वकील वक्ता के माध्यम से) अपनी बात कहते हुए केवल मात्र कहानी कहने का आग्रह उपस्थित किया है परन्तु यह कहानी भी ऐसी जिसमें संवेदन हो और सहानुभूति जगा सके। चित्त को छू लेने और रस के स्रोत खोलने के लिए ही उसे कुछ दे देना है। ज्ञान चाहिए, परन्तु सहानुभूति उभारने में ही उसकी सार्थकता मानी गई है चरित्रांकन लेखक का लक्ष्य नहीं है। इसीलिए जैनेन्द्र के उपन्यासों में केवल घटना देने का आग्रह है और अन्ततः यह घटना भी मानसिक प्रक्रिया मात्र है या मन की प्रतिच्छाया। जैनेन्द्र भीतर-बाहर दो नहीं मानते। भीतर मन में जो आलोड़न-विलोड़न होता है वही तो भीतर का दर्द है जिसे उपन्यासकार पाना चाहता है। बाहर जो घटित होता है वह इस दर्द ही की तो अभिव्यक्ति है और भीतर का बाहर बन कर आने में ही सार्थकता है 'खुलापन' है। इस प्रकार जैनेन्द्र के उपन्यास अन्तः घटनामूलक और मनोविश्लेषण-प्रधान बन जाते हैं। परन्तु अन्य उपन्यासकार जहाँ बौद्धिकता का पल्ला पकड़ते हैं वहाँ जैनेन्द्र भावना को छू भर लेना चाहते हैं। उनके उपन्यासों में जानना कम होता है हृदयंगम करना ज्यादा होता है।

इस भूमिका पर जब हम जैनेन्द्र की अभिव्यञ्जना को देखते हैं तो वह बड़ी पुष्ट मिलती है। उसमें वर्णन स्वल्प है क्योंकि स्थूलता उपन्यासकार का ध्येय नहीं है। प्रकृति परिस्थितियाँ आकार प्रकार, उत्सव-समारोह, लेखक की ओर से मानव-स्वभाव का वर्णन—ये सब उसके उपकरण नहीं हैं। जैनेन्द्र पात्रों को उनके मन के भीतर से देखते हैं जैसे वह स्रष्टा हो और अपनी सृष्टि के भीतर केन्द्र में बैठ कर उसके अन्त कोनों को देख रहे हों। इस तरह वर्णन में सूक्ष्मता आ जाती है। परन्तु जैनेन्द्र का यह दावा नहीं है कि उपन्यासकार अपने पात्रों के मन की प्रत्येक वीथिका को पकड़ने में समर्थ है—कि वह उन्हें पूरा जानता है। अन्ततः अपरिचय बना रहता है और इसलिए कथा में घात प्रतिघात के चित्रण में आतुरता भी बनी रहती है। बात के बीच में प्रभाव की सी व्यञ्जना के कारण कथा की गूढ़ बातें बीच-बीच में छोड़ दी जाती हैं और कहे से अनकहा अधिक महत्वपूर्ण हो जाता है। यह अनकहा भाषा-शैली की सूक्ष्म शक्ति से व्यंजित है। इसे रूप देने में जैनेन्द्र बेजोड़ हैं।

जैनेन्द्र की अभिव्यञ्जना-शैली का प्रारम्भिक रूप हमें 'परख' में ही मिल जाता है, परन्तु "परख" में भी वैज्ञानिकता है, स्वाभाविक कुतूहल है सहज प्रसन्नता है,

उसकी पुनरुक्ति अधिक नहीं हुई है। "सुनीता" में सूक्ष्मता अधिक है और बाहर के विवरण अधिक पुष्ट हैं। घर का जैसा भीतरी रसनिष्ठ और सजीव चित्रण इन दो प्रारम्भिक रचनाओं में मिलता है, वैसा बाद में विरल है। बाद की रचनाओं में जैनेन्द्र ने दार्शनिकता का चोगा पहन लिया है और वह कहानी न कह कर सिद्धान्त पर कथाओं को आश्रित करने लगे हैं। इससे दर्शन का ताप कथा-रस को सोख लेता है। फिर भी मनोविश्लेषण की प्रक्रिया बराबर सूक्ष्म और व्यंजनमयी बनती गई है। सूक्ष्म कथन को जैनेन्द्र ने कला बना लिया है। इसका सब से पुष्ट रूप उनकी रचना "व्यतीत" में मिलता है। इसमें केवल घटनाएँ ही चित्रित हैं। इंगित अधिक है कथित कम है। परन्तु घटनाएँ बाहर की वस्तु नहीं मन की प्रतिच्छाया बन गई हैं। इस प्रकार जैनेन्द्र में हमें कर्म की वाणी नहीं मिलती (जो प्रेमचन्द की विशेषता है)। उनमें हमें मर्म की वाणी मिलती है। बाहर के जीवन को अथाह बना कर उन्होंने अन्तः जीवों को पकड़ा है और कविता की रंगीनी को छोड़ कर दर्शन की तीखी तड़ित्-रेखाओं को उभारा है।

रूप-विधान

जैनेन्द्र के उपन्यास "लघु उपन्यास" हैं। इन उपन्यासों का रूप-विधान आकर्षक है। "परख" "सुनीता" "विवर्त" और "व्यतीत" में लेखक कथा कहता है और सर्वदर्शी के दृष्टिकोण का निर्वाह करता है। ये कथाएँ जीवन-खण्ड को लेकर चलती हैं। यह जीवन-खण्ड कहीं अधिक विस्तार पा गया है जैसे "सुनीता" में थोड़े से दिनों को ही विवरण देकर फुला दिया गया है कहीं (जैसे "व्यतीत" में) तो वर्षों के जीवन विस्तार को कुछ थोड़े से पृष्ठों का संकोच दे दिया गया है। ये उपन्यास किसी निर्दिष्ट जीवन-पद्धति पर नहीं चलते क्योंकि जीवन (जैनेन्द्र के लिए) अचूक है। फलतः पात्रों को प्रारम्भ में सामने-सामने धरकर दिया जाता है और विचक्षण ढंग से उनके घात प्रतिघात चलते हैं। ये सब मनोवैज्ञानिक हों यह नहीं क्योंकि जैनेन्द्र के विचार में मनोवैज्ञानिकता ऊपरी तल है, भीतर जो अवचेतन का विस्फोट है, वही वास्तव है। फलस्वरूप घटनाओं की कार्य-कारण शृंखला उनके उपन्यासों में स्थापित नहीं होती और चारित्रिकता का कोई सुनिश्चित परम्परागत रूप सामने नहीं आता। मन बहता है—घटनाएँ बाह्य जीवन-व्यवहार। अन्त में जीवन प्रवाह ही पल्ले पड़ता है यह भी बहिर्जीवन नहीं अन्तर्जीवन जो मनोविज्ञान और मनोविश्लेषण शास्त्र के नियमों से शासित नहीं स्वयं अपने में नियम है।

"त्यागपत्र" "कल्याणी" और "सुखदा" में रूपविधान के तीन प्रयोग हैं। "त्यागपत्र" में प्रधान पात्र के माध्यम से घटनाओं और चरित्रों को देखा गया है। "कल्याणी" में तटस्थ पात्र है जो कथा में भाग नहीं लेता केवल दृष्टामात्र है। अन्य पात्र उसके दृष्टिकोण को सबल बनाने या यथार्थक करने में ही काम आते हैं। "सुखदा" में

आत्मकथा है। इन में लेखक अविच्छिन्न जीवन प्रवाह को ही लेकर चलता है। जान बूझ कर कथा की कड़ियाँ वह तोड़ देता है क्योंकि वह जीवन की अबूझ दिखलाना चाहता है और मनोविज्ञान और मनोविश्लेषण-शास्त्र को विफल बनाना ही उसका ध्येय है। तीनों उपन्यास नायिकाओं की मृत्यु या आसन्न मृत्यु पर समाप्त होते हैं जो जैनेन्द्र के नियतिवादी दर्शन का अनिवार्य फल है।

"व्यतीत" में लेखक ने एक नये विधान का सहारा लिया है। इसमें जीवन यात्रा का रूपक है। जयन्त बढ़ता जाता है और उसके जीवन में अनिता बुनिया सुमिता और चन्द्री के रूप में स्नेह-सूत्र इकट्ठे होते जाते हैं। भीतर भीतर वह केवल अनिता से बँधा है इसीलिए वह सबके प्रति निष्करुण है और अन्त में अनिता के उन्माद को विफल कर अपने स्नेह-सम्बन्ध की पवित्रता को बचा जाता है परन्तु भीतर से टूट भी कम नहीं जाता। यही कथाविधान शरच्चन्द्र के "श्रीकान्त" में गृहीत है। सच तो यह है कि जैनेन्द्र उपन्यास में समस्या और समाधान की सूझ लेकर चलते हैं। समस्या सामाजिक या व्यक्तिगत है परन्तु समाधान आदर्शवादी और अव्यावहारिक है। वह सम्भाव्य को दृष्टि में रखकर गढ़ा गया है। प्लाट बाँध कर चलने की आवश्यकता उन्हें नहीं दीखती इसलिए कि वह मन की क्रिया प्रतिक्रिया को प्रधानता देते हैं। केवल कथा जीवन के चित्र उन्होंने खड़े किये हैं जो अधिकतर परिस्थितियों के व्यंग पर आधारित हैं चारित्रिकता पर कम और वह बाह्य जीवन भी अन्ततः मानसिक जीवन है।

निष्कर्ष

निष्कर्ष में हम क्या कहें? क्या जैनेन्द्र की उपन्यास-कला को बड़ा बतायें या छोटा? क्या उसे निन्दनीय बतायें या प्रशंसनीय? वास्तव में यह दृष्टिकोण ही गलत है। प्रत्येक उपन्यासकार का अपना दृष्टिकोण होता है जिसे अधिक उपयुक्त शब्द न मिलने के कारण हम "जीवन-दर्शन" कहते हैं। उसकी कला इस जीवन-दर्शन का उद्घाटन करती है। इसी भूमि पर से उसकी सफलता-असफलता निर्धारित की जा सकती है। जैनेन्द्र को वह नहीं कहना जो प्रेमचन्द प्रसाद निराला चतुरसेन वृन्दावनलाल वर्मा भगवत शर्मा यशपाल और इलाचन्द्र जोशी ने कहा या कहते हैं। इसी से उन्होंने नई रूपरेखाएं गढ़ीं। उनका अध्ययन भिन्न है, संवेदना भिन्न है दृष्टिकोण अलग है। वह एक ओर रवीन्द्र शरत् से अत्यन्त प्रभावित हैं। नारी-जीवन की समस्याएँ और उनके प्रति दृष्टिकोण उन्होंने वहाँ से लिया विशेषतया शरत् से उधर रवीन्द्र की बौद्धिकता और भाषा-शैली की रचनामयता उन्होंने ग्रहण की। "चोखेर बाली" "घरे-बाहरे" और "चतुरंग" की पुनरुक्ति उनके उपन्यासों में हुई है और उनकी विचार शैली पर रवीन्द्र की छाप है। परन्तु शरत् की भावुकता और पीड़ा के प्रति आकर्षण भी उनमें है। पश्चिम के लेखकों से उन्होंने "टेकनीक" लिया विशेषकर फ्रेंच कथाकारों से। उनकी खोज व्यक्तिगत है। अतः वह अपनी रचनाओं को आत्मो-

तन्मय बना कर नहीं चले। केवल हिंसात्मक क्रान्ति की थोड़ी झलक उनमें आई है। स्वयं जैनेन्द्र ने गांधीवाद का गहरा अध्ययन किया है और हिंसा-अहिंसा का प्रश्न गहराई से उनके सामने रहा है। राष्ट्रीय आन्दोलन में भी उन्होंने सक्रिय भाग लिया है परन्तु यह उनका कर्तृत्व-पक्ष है भाव-पक्ष नहीं। उनकी भावना व्यक्तिगत है एकांतिक है समूह को लेकर नहीं चलती। वह व्यक्तिवादी है। इसी से "व्यक्ति" ही उनके उपन्यासों के केन्द्र में है समाज या राष्ट्र नहीं। इस दृष्टि से हम उनके उपन्यासों को शरत् की रचनाओं के समकक्ष रख सकते हैं।

परन्तु विभिन्न स्रोतों से बहुत कुछ लेकर भी जैनेन्द्र का साहित्यिक व्यक्तित्व निजस्व रह सका है। वह रवीन्द्र शरत् और प्रेमचन्द तीनों से भिन्न है। पश्चिम के लेखकों से भी भिन्न है। उनका जीवन-दर्शन अपना है शैली निजी है कुछ थोड़े से पात्र उन्होंने ऐसे खड़े किये हैं जो बड़ी दूर तक अपूर्ण और विवादमय होकर भी विशिष्ट हैं। इन्हीं के बल पर उनका अपना साहित्य है। वह साहित्य हमें भरपूर ऐतिहासिक रस नहीं दे (क्योंकि उसमें दार्शनिकता और सिद्धान्तवादिता का गहरा आरोप है और परम्परागत कथा रस मार्मिकता एवं रागमयता के प्रति लेखक का आग्रह नहीं है) परन्तु उसमें झकझोरने की शक्ति है। वह हमें अपनी ओर खींच लेता है और अपने में डुबा लेता है। यही तो उपन्यासकला की सफलता कही जायगी। उपन्यास क्या है उपन्यास क्या नहीं है? गोल्डस्मिथ से लेकर ऐन्ड्रे जीद तक की रचनायें यदि उपन्यास कहला सकती हैं तो जैनेन्द्र की रचनाएँ भी उपन्यास ही कहलायेंगी क्योंकि उपन्यास की सीमाएँ नहीं बँधी हैं और वे बराबर फैल रही हैं। इसमें सन्देह नहीं कि जैनेन्द्र ने हमें प्रेमचन्द-युग से विभिन्न नई उपन्यास-कला दी है जो उपन्यास के क्षेत्र में नई सम्भावनाएँ लाई है।

जैनेन्द्र का जीवन-दर्शन

जैनेन्द्र के जीवन-दर्शन का सबसे प्रशस्त औपन्यासिक विवरण हमें "त्यागपत्र" और 'कल्याणी' में मिलता है, यद्यपि अन्य रचनाओं में भी स्थान-स्थान पर उन्होंने जीवन-सम्बन्धी अपने दृष्टिकोण का प्रकाशन किया है और उसके अतल गांभीर्य में उतरने की चेष्टा की है। जैनेन्द्र की अन्य रचनाओं से विशेषतया निबन्धों और वार्ताओं से उनके दृष्टिकोण की पुष्टि होती है। स्वयं जैनेन्द्र का कहना है कि एक ही सत्य को उन्होंने निबन्ध में बिना किसी माध्यम के बेलाग कहा है और उपन्यास-कहानी में कथा के बीच में रखकर और रसात्मक बना कर। प्रेमचन्द हमें जीवन देते हैं, उसके ऊपर से दर्शन बना लो परन्तु जीवन से अलग किसी छोटे-बड़े दर्शन की ओर वह उन्मुख नहीं हुए। वह जीवनद्रष्टा थे जीवन-चिन्तक नहीं। कवि थे समीक्षक नहीं। जैनेन्द्र का समीक्षक और चिन्तक सदैव सजग है। इसी से उनमें जीवन-दर्शन पहले और जीवन चित्रण बाद में आता है। एक तरह से स्वतन्त्र रूप से अर्थात् कथा और पात्रों को छोड़ कर या उनको अलग रखकर भी उनकी विवेचना हो सकती है।

जो सबसे पहली चीज जैनेन्द्र की विचारधारा में सामने आती है वह उनका आस्तिकवाद है। वह ईश्वर को मानते हैं। साधारण मानना ही बस नहीं है। वह उसे ही मूल में रखते हैं। यह मानना अतर्क्य है। सब तर्क ईश्वर पर जाकर समाप्त हो जाते हैं। यहाँ तक कि सामाजिक विषमता भी ईश्वर पर जाकर समाप्त हो जाती है। इस प्रकार जैनेन्द्र का ईश्वर सामाजिक आक्रोश को भी अपने ऊपर ओढ़ लेता है। वह पाठक की समाधानशील बुद्धि को बराबर क्षुब्ध करता रहता है।

'परख' में एक स्थान पर जैनेन्द्र ने काल-प्रवाह की रहस्यमयता और वस्तुओं की मूलभूत नश्वरता की विवेचना करते हुए मनुष्य की तत्सम्बन्धी खोज को ईश्वर पर इस प्रकार समाप्त किया है। वह कहते हैं 'लेकिन दिन एक-से नहीं रहते। काल चला जाता है और चीजों को नई-पुरानी कर जाता है। नई का काम है पुरानी हो जाय, पुरानी का काम है मर जाए। वह मरी फिर शायद किसी विशेष पद्धति से नई हो जाती है। वह विशेष विधि क्या है, सो हम क्या जानें? जिन विद्वानों ने खोजा मर गये पर नहीं पा

सब खोज रहे हैं, मर रहे हैं, पर नहीं पा रहे हैं। उसी को हम क्या पा लें? हमसे बहुत ज्यादा मेहनत नहीं होती। हम खोजने-खोजने में ही पाने के मजे में, पाने-खोने में ही हमने जिन्दगी नहीं बितायी आपकी। हमने तो एक शब्द में कह दिया 'परमात्मा' और मानो पा लिया। हमारी छोटी-सी गर्ज तो पूरी हो गई। पर लोग हैं, खोजने से थकना ही नहीं चाहते। कहते हैं हम पा कर ही छोड़ेंगे। हम उनको धन्यवाद देते हैं, हाथ जोड़ते हैं, बड़ी श्रद्धा से 'नास्तिक' कहते हैं, पर कहते हैं 'भाई, खूब खोजो, जितना बने उतना।'"

'त्यागपत्र' में हम मनार्य ईश्वरवाद या आस्तिकवाद के पीछे अनिश्चयवाद (इनडिटरमिनिज्म) और नियतिवाद (फैटलिज्म) की धारा जो मिलती है। लेखक कई प्रश्न उठाता है और स्वयं ही उत्तर देता है : 'बहुत-कुछ जो इस दुनिया में हो रहा है वह वैसा ही क्यों होता है, अन्यथा क्यों नहीं होता—इसका क्या उत्तर है? उत्तर हो अथवा न हो, पर जान पड़ता है भवितव्य ही होता है। नियत का लेख लेखा है। एक भी अक्षर उसका यहाँ से वहाँ न हो सकेगा। वह बदलता नहीं, बदलेगा नहीं, पर विधि का वह अलंघ्य लेख जिस विधाता ने बनाया है, उसका उसमें क्या प्रयोजन है, यह भी कभी पूछकर जानने की इच्छा की जा सकती है या नहीं? शायद नहीं। ज्ञानी जन कह गये हैं कि परम कल्याणमय ही इस सृष्टि में अपनी परमा लीला का विस्तार कर रहा है। मैं मान लेता हूँ कि ऐसा ही है। न मानूँ तो किर्डे कैसे? पर रह रहकर जी होता है कि पुकार कर कहूँ कि हे परम कल्याणमय, तेरी कल्याणीय लीला को मैं नहीं जानता हूँ। फिर भी रोने-बिलखने की आवाज तो चारों ओर से मेरे कानों में आ रही है (यह क्या है) ओ अघम्पिता, तेरी लीला के नीचे यह सब आर्तनाद क्या है? लीला तेरी है, जीवन-मरण हम हैं। क्यों जीते हैं, क्यों मरते हैं? हमारी चेष्टा, हमारे प्रयत्न क्या हैं? क्यों हैं?—पूछे जाओ, उत्तर कोई नहीं मिलता। फिर भी उत्तर नीरव भाषा में सदा मुखरित है। भीतर उत्तर है, बाहर भी सब कहीं वही लिखा है, जो जानता है पढ़े। जो जैसा जानता है, वैसा ही पढ़े। वह उत्तर कभी नहीं चुकता है। अखिल सृष्टि स्वयं में उत्तर ही तो है। अपने प्रश्न का वह आप ही उत्तर है।" (पृ० ९६) इस अवतरण में लेखक विधि के विधान को सर्वोपरि रखता है परन्तु कौन है वह विधाता और क्यों उसके विधान में दुःख का यह ताण्डव है, इस पर वह विचार करना नहीं चाहता। इन प्रश्नों को वह अति प्रश्न मानता है। सृष्टि यदि किसी कल्याणमय की परम लीला है तो यह आर्तनाद क्यों है? प्रेममय ईश्वर के साथ कर्मफल की बात स्वयं लेखक को समझ में नहीं आती। इस कर्मफल और ईश्वर के प्रश्न को लेकर उनके मन में कभी बड़ा बवंडर उठा था और स्वयं गांधी जी से इस विषय में उनका पत्र-व्यवहार हुआ था। यह 'गांधी जी' शीर्षक जैनेन्द्र के एक निबन्ध से हमें मिलता है। समाधान यों मिला है

कि ईश्वर है।

कि वही माया है।

कि यह सृष्टि उस परम कल्याणमय की लीला का विस्तार है।

कि इसमें दुःख और आर्तनाद है, जन्म-मरण है परन्तु यह सब क्यों है यह अब नहीं कहा जा सकता।

कि नियति का लेख बँधा है और भवितव्य ही होता है।

कि कर्मफल के सिद्धान्त से जिज्ञासा की तृप्ति नहीं होती।

इन समाधान-सूत्रों को लेकर भी मूल प्रश्न बना ही रहता है कि इस मानव जीवन की वास्तविकता क्या है और क्यों मनुष्य जिये? सच तो यह है कि अन्य बातें ऊपरी हैं भीतरी बात यह है क्योंकि मनुष्य का अस्तित्व-बोध ही उसके लिए सबसे महत्वपूर्ण बात है। जैनेन्द्र के शब्दों में "पूछता हूँ मानव के जीवन की गति क्या है? अंधी है। वह अप्रतिरोध्य है पर अन्धी है यह तो मैं नहीं मानूँगा। मानव चलता चलता जाता है और बूँद-बूँद दर्द इकट्ठा होकर उसके भीतर भरता जाता है। वही तार है। वही जमा हुआ दर्द मानव की मानस-मणि है। उसके प्रकाश में मानव का गतिपथ उज्ज्वल होगा। नहीं तो चारों ओर गहन वन है किसी ओर मार्ग सूझता नहीं है और मानव अपनी क्षुधा-तृषा राग-द्वेष में मान-मोह में भटकता फिरता है। यहाँ जाता है वहाँ जाता है पर असल में वह कहीं भी नहीं जाता एक ही जगह, अपने ही कूप में बँधा हुआ कोल्हू के बैल की तरह चक्कर मारता रहता है।" (वही पृ० ३८) अन्त में समाधान का रूप यह है कि "भीतर का दर्द ही मेरा इष्ट हो। जग न चाहूँ मग चाहूँ। जग मैल है, मग का दर्द पीयूष है। मग का मिलाप और कहीं नहीं है। उस दर्द की सामार स्वीकृति में से ज्ञान की और सत्य की ज्योति प्रकट होगी। अन्यथा सब ज्ञान अकोसला है और सब सत्य की पुकार अहंकार है। इस प्रकार पीड़ा के एक दर्शन का निर्माण लेखक करता है। व्यापक करुणा अपरिसीम सहानुभूति और मानव के प्रति अपरिवर्त्य आस्था को लेकर लेखक चलना चाहता है यह स्पष्ट है परन्तु इस भीतर के दर्द की पूरी-पूरी व्याख्या लेखक ने नहीं की है। उसकी रचनाओं से भी स्पष्ट नहीं होता कि यह दर्द व्यक्तिगत है या सामाजिक।

जैनेन्द्र जीवन को अबूझ मानते हैं। जीवन की अनभिप्रेत गति को उन्होंने समुद्र यात्रा के रूप में देखा है और किनारे पर रहने में ही सुरक्षा समझी है। मनुष्य को चाहिए कि समन्दर के अथाह फैलाव की ओर भी कभी-कभी देख लिया करे और विराट् की भी झाँकी ले परन्तु किनारे पर ही चलने में कुशल समझे। यह कर्मण्यता और चुनौती का मार्ग नहीं है आत्मकेन्द्रीयता और पलायन का मार्ग है। इस पलायनवाद को जैनेन्द्र ने काव्य का सुमधुर रूप दे दिया है परन्तु मानव-जीवन की लाचारी का जो खाका उन्होंने उपस्थित किया है वह न तो विश्वसनीय कहा जा सकता है, न उपन्यास के पात्रों के जीवन के भीतर से ही इस दर्शन का निर्माण होता है। वास्तव में इस अकर्मण्यतावादी

या किंकर्तव्यवादी दर्शन को जान-बूझ कर अप्रमत्त पात्रों में उभारा गया है और उसके पीछे स्वयं पात्रों के जीवनगत अनुभव नहीं आते या उन अनुभवों के पीछे विचार-दौर्बल्य रहता है। उसकी स्थिति पात्रों और घटनाओं से बहुत कुछ स्वतन्त्र स्वयं लेखक के व्यक्तित्व में है। जैनेन्द्र के शब्दों में मानव-जीवन की यह व्याख्या इस प्रकार है "जो उधर हम न बढ़ें। थाह नहीं है। जल अगम है। सुनने-बोलने को वहाँ कौन है? जो है अपने पराये सब आस-पास तक है। वहाँ तो सन्नाटा ही सनसनाता है। ना उधर न बढ़ेंगे। किनारे पर ही रहें जहाँ पैर धरती से छु जाते हैं। यहीं तक रहें जहाँ हमारा अपर धरती को पकड़ ले और हम ठहर सकें। बस बस। उसके आगे जब तब समन्दर के अथाह फैलाव की ओर हम देख लिया करें यही क्या कम है? इतना भी बहुत है बहुत है। इससे भी भीतर कंप पड़ जाता है। चित्त सहम जाता है। सिर चकरा जाता है। झेला नहीं जाता। जितनी झेल सकें उतनी ही उस विराट् की झाँकी ले लें और फिर अपनी धरती के आसपास किनारे-किनारे सबसे उलझते-सुलझते जिये चलें। यही उपाय है। यही मानव-जीवन है।"

यहाँ पर मनुष्य के स्वतन्त्र कर्तृत्व की बात उठती है। जैनेन्द्र नियति और मानवी कर्तृत्व को विरोधी न देखकर मनुष्य के कर्तृत्व में ही भवितव्य को देखते हैं जैसा शार्ट का विचार है। वह कहते हैं "पर मनुष्य सोचता है और होनहार होता रहता है। यह नहीं कि होनहार में मनुष्य के सोच विचार की गिनती नहीं। सच यह है कि जो होता है हमारे द्वारा ही होता है। फिर भी वृथा विचार कष्ट ही उपजाता है। इससे आवश्यक है कि विचार हो तो सम्पर्क हो। भवितव्य के साथ जो मतान्य एक रस है वह ही है श्रेय करोय है" (कल्याणी पृ० ७) परन्तु जहाँ शार्ट में मनुष्य का कर्तृत्व ऊपर है वहाँ जैनेन्द्र के समीकरण में भवितव्य ही प्रधान है और मनुष्य को अपने को उसके अनुकूल बनाना है। शार्ट इसलिए मनुष्य को दुर्बल और असहाय समझता है कि भवितव्य के निर्माण की सारी जिम्मेदारी मनुष्य पर आ जाती है क्योंकि मनुष्य अपने कर्तृत्व से समस्त मनुष्यों को बाँध देता है परन्तु जैनेन्द्र मनुष्य को बड़प्पन नहीं देते। वह उसे बेचारा समझते हैं। वह भवितव्य से बँधा होने के कारण दीन ही है और अपनी दीनता को भुला न सकने के कारण जीवन की मूलभूत रहस्य-मयता से ही सहारा लेने लगता है। अन्त में वह इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि "घटना होती है होकर चली जाती है। हम जीते हैं और जीते-जीते एक रोज मर जाते हैं। जीना किस हौसले से आरम्भ करते हैं? पर उस जीवन के इस किनारे आते-आते कैसी ऊब उकताहट जी में भर जाती है? मैं इस सीमा पर इस अहैतुकता पर सोचता रह जाता हूँ। कुछ पार नहीं मिलता कुछ भेद नहीं पाता। (त्यागपत्र पृ० ७२)

भवितव्य (नियति अथवा जैनेन्द्र के आस्तिक स्तर में ईश्वर) की स्वीकृति में मनुष्य के ज्ञान की परिसमाप्ति है यह भी उन्होंने माना है। यह इसलिए कि मनुष्य के

लिए स्वीकार का मार्ग अपेक्षाकृत सरल है और अस्वीकार मुक्त होते-होते अन्त में स्वीकार पर ही समाप्त होता है। जैनेन्द्र के शब्दों में "अस्वीकार द्वारा हम क्या पायेंगे ? वह बुद्धि वाले ज्ञान की पद्धति है। इन्कार करो और मिटाते चलो—न इति न इति। यही है प्रोसेस आफ एलीमिनेशन"। निस्सन्देह परम तत्व के लिए 'नेति' से सही परिभाषा दूसरी नहीं है पर "नेति में तत्व स्वयं कुछ नहीं है। उसमें अर्थ है तो यह अर्थ है कि मानव भाषा अपूर्ण है और जो ज्ञात है ज्ञातव्य सदा उससे आगे है। इसमें निस्सन्देह इन्कार ज्ञान में तो काम आता है पर भक्ति में काम नहीं आता। जो है वह नकार नहीं है। परमात्मा इन्कार तनिक भी नहीं है। वह अस्तित्व की स्वीकृति है।" (कल्याणी पृ ७७) ज्ञान का अर्थ है बुद्धि की मान्यता। जैनेन्द्र बुद्धि की हार मानते हैं। इसी से तर्क के द्वारा सत्य की उपलब्धि नहीं हो सकती। तर्क खंड को पा सकता है विस्तृति उससे सही नहीं जा सकती। विराट् में उसकी सुरक्षा नहीं है। इसी से हमने मर्यादाएं बाँध ली हैं और सीमाएँ स्वीकार कर ली हैं। इसी से जैनेन्द्र मनुष्य की धारणाओं को बंद कोठरियाँ कहते हैं और ज्ञान को बंधन मानते हैं। ज्ञान शब्दों से बंधा है। परन्तु सत्य निःशब्द है। वह बोलता है शब्द चुकते हैं। मनुष्य अपनी चेतना को व्यापक नहीं बना सकता। फलतः घरौंदे बना कर जीता है। (तर्क सचाई को लपेट नहीं पाता। अपनी मान्यताओं को मेंड़ और सँकरी बनाता है। वही पृ ७७-६)

जब सत्य अतर्क्य है और बुद्धि हारी है जब जपते हैं और सोचते रह जाते हैं तो आखिर सच क्या है ? जैनेन्द्र सच को बाहर न ढूंढ़ कर अन्दर ढूंढते हैं। वह कहते हैं—"सच यह है कि आदमी के भीतर की व्यथा ही सच है। उसे सँजोये रहना चाहिए। वह व्यथा ही शक्ति है। उसमें किसी का साझा नहीं। उसका बाहर अनत है, संयम ही उसका इष्ट है। उच्छ्वास में भी उसे व्यय करना भूल है। जितना वह उसका आनन्द बन जावे उसी में से खर्च कर सकते हो। बाकी को तो आग के रूप में भीतर रखे रहना ही श्रेयस्कर है। भीतर सुलगन निरन्तर चाहिए बाहर भुलस ठीक नहीं। क्या नहीं इस भीतर की आग की उपयोगिता क्या है यदि उसे बाहर नहीं आना है और उसे शांति का मरण नहीं बनाना है। पीड़ा की अनुभूति उसी समय सार्थक है जब वह पीड़ा-निवारण के अर्थ हो। नहीं तो पीड़ा व्यसन बन जायेगी। पीड़ा में डूबे रहना ही जीवन की सार्थकता नहीं हो सकती। परन्तु मृणाल और कल्याणी अपने दुःख को लेकर ही जीती हैं। पी ा के प्रति उनकी अनुरक्ति विकृत जान पड़ती है। वह जान-बूझ कर अपने जीवन को अभिशप्त या यथाकथित अनाचार की वेदी पर होम देती हैं जिससे नाम हो और नाम बढ़े परन्तु उनके स्वर में भुक्तभोगी का आक्रोश नहीं रागातीत की अना-सक्ति और करुणा है इसीलिए ये नारियाँ हमें क्षुब्ध ही करती हैं और इनकी अनिर्दिष्ट व्यथा हमें ही खाती है भीतर भीतर क्षुब्ध बनाती है।

यह निराशावादी दर्शन जो पीड़ा या भीतर के दर्द में ही मनुष्य की सार्थकता

देखता है अविश्वासी नहीं है, यद्यपि जैनेन्द्र को भ्रम से अविश्वासी माना गया है क्योंकि साथ ही तरह जैनेन्द्र भी प्रत्येक प्राणी के कर्म को अन्य प्राणियों के कर्म से सम्बन्धित कर देते हैं और अपनी सत्ता में ही अन्य सभी की सत्ता मानते हैं। उनकी धारणा इस प्रकार है "न कोई अपने को एकान्त बना सकता है न कभी बना सकेगा। अपने को सिमेट कर अपने को बना सकते हो शून्य। लेकिन शून्य की भी सत्ता है। सत्ता का मतलब कि उसका भी अन्य से नाता है। इसी कारण शून्य में भी अपरिमित सम्भावनाएँ है।" (कल्याणी पृ ८१)

मरणोत्तर जीवन और पुनर्जन्म की बात भी कल्याणी ने उठाई है। वह तात्त्विक और वैज्ञानिक प्रश्न की भाँति नहीं उठी है निजी और तात्कालिक बात की भाँति आई है क्योंकि कल्याणी के मन में मृत्यु के प्रति वितृष्णा है। मर कर आदमी की क्या गति होती है? मर कर आदमी का प्रेत क्या यहीं भटकता रहता है? आत्मा दूसरा जन्म लेती है यह न्याय के दिन की प्रतीक्षा में मरने के बाद मानवात्मा सोई रहती है। पर यह क्या है? और पार क्या है? ये कल्याणी के भीतर की जिज्ञासाएं हैं। ब्रह्मवाद और मायावाद के अंत में इस प्रकार की जिज्ञासाएं अनिवार्यतः आती हैं। 'यदि यहीं सब माया ही है और ब्रह्म म विधान ही सत्य है तो एक-एक दिन होकर कटने वाला जीवन किस सहारे कटे? आये दिन मन में उठने वाले ऐहिक संकल्प-विकल्प लेकर हम जी लिया करते हैं। उन्हें ही यदि भ्रम कह कर हम से छीन लिया जाय तो पास फिर क्या रह जायगा? तब जीवन कैसे होवा?" इन प्रश्नों का कोई उत्तर जैनेन्द्र नहीं देते परन्तु प्रश्न उठा कर जीवन में श्रद्धा प्रेम की आवश्यकता की ओर वह इंगित करते हैं। भीतर की रिक्तता से भर कर जीना असम्भव है। इसीलिए बाहर की असारता को समेटने के भीतर श्रद्धा प्रेम का वर्ष आवश्यक हो जाता है।

भीतर और बाहर, व्यक्ति और परिस्थिति के प्रश्न को भी जैनेन्द्र ने उठाया है और जगत् की द्वन्द्वात्मकता को अपने ढंग पर विवेचना की है। वह कहते हैं— 'भीतर बाहर में दो अलग हैं पर वे दो नहीं हैं। प्रकट में एक ही है। दो होकर भी एक-जैसे और और और। और जहाँ ऐसा नहीं है वहाँ अपने सचमुच विरोध हो पड़ा है वहीं क्लेश है। इस तरह कल्पना मानवीय सृष्टि है। वस्तुतः वह नहीं है? तभी तो जगत् नाम द्वन्द्व का है। द्वन्द्व के माने हैं दो के बीच का अनिर्वाह। यह दो के अथवा अनेक के बीच एकता का अभाव ही हमारी समस्या है। अर्थात् सत्य में इस जगत् का कोई कुछ परस्पर *सर्वथा असम्बद्ध नहीं है। जो प्रकाश बीच में दिखता है वह भिन्न प्रकार नहीं है* योग वियोग के तरह-तरह के असत्य तन्तु उसमें भरे हैं।' परिणामतः व्यक्ति और परिस्थिति में दो भिन्न सत्ताएँ नहीं हैं। एक को दूसरे की परिभाषा में समझा जा सकता है। व्यक्ति परिस्थिति का फल है और परिस्थितियों का निर्माण भी व्यक्ति ही करता है। भीतर का बाहर के साथ नाता अनिवार्य है। अन्य से ही कोई कुछ नहीं

म में बहुत भी मिलते हैं। लेकिन हमारी यह सब उथल-पुथल जोड़-तोड़ कर की है। तार पीछे कहीं किसी और के हाथ में है। हम सामने भर होने के ।" यह स्वर दैवाश्री जीवन-दर्शन मनुष्य के संकल्प-विकल्प को मयार्थक बना ५८ है। इसमें संदेह नहीं कि टूटे हुए व्यक्तित्व को इस दर्शन से सहारा मिलता है परन्तु टूटे हुए व्यक्तित्वों को ही उपन्यास क्यों प्रधानता दे ? जीवन की सारी सम्भावनाओं को वह क्यों नहीं उभारे ? किसी अदृश्य सूत्रधार के हाथ की कठपुतली बनने में काव्यमयता चाहे हो दार्शनिक महात्म्य भी शायद हो पर यह चीज हमारी जिजीविषा को कुंठित करती है और जब उपन्यासकार बार-बार इस भाग्यवादी दर्शन को उपस्थित कर रहा है तो वह बहुत कुछ अविश्वसनीय हो जाता है।

'मुक्तदा' के प्रारम्भ में ही हमें जैनेन्द्र की वह दार्शनिक मुद्रा मिल जाती है जो उन्हें अपने पात्रों के जीवन से खेल करने की प्रेरणा देती है। यह मुद्रा अपरिचित नहीं है। कभी किसी कबीर या किसी न्यूटन या किसी संत बाउल की प्रतिध्वनि हमें उसे साथ मिल जाती है और फिर परिचित भूमि पर पहुँच कर हम आश्वस्त ही होते हैं परन्तु उसका औपन्यासिक रूपान्तर हमें चमत्कृत नहीं करता ग्लानि से ही भरता है। जिस सार्वभौमिक विभूति से अचिन्त्य और अनिर्वचनीय के दर्शन से मुक्तदा अपने स्वर्ग और 'अतीत' जीवन की गाथा उपस्थित करती है वह इन शब्दों में प्रगट किया गया है। मुक्तदा की अन्तश्चेतना के प्रवाह के रूप में वह लिपिबद्ध है "जीवन की धारा जिस शक्ति-स्रोत से चली है उसको तो किसी भी भाँति पकड़ा नहीं जा सकता। मेरे जीवन की धारा मेरे अपने ही जीवन से है यह भी नहीं कहा जा सकता। इतिहास के प्रवाह में काल के विस्तार में व्यक्ति क्या एक कण ही नहीं है। इसी से मेरे मन में प्रश्न उठा कि उस जीवन के धागे को कहाँ से पकड़ूँ ? वह धागा किस प्रकार किन रेशों को गूंथ कर बना है और कहाँ कौन बैठा हुआ उस अनन्त सूत्र को इस विश्व चक्र पर ऐंठ कर कातता चला जा रहा है। सच तो यह है कि इस जीवन के सम्बन्ध में हमारा समस्त मन्तव्य समुद्र के तट पर कौड़ियों से खेलने वाले बालकों के निर्णय की भाँति होगा। फिर भी हम बालकों को मस्तक मिल गया और हृदय भी मिल गया। वे दोनों निष्क्रिय होकर तो रहते नहीं। इसी से जो जानने के लिए नहीं है उसे जानने की चेष्टा चली है।" यहीं मुक्तदा अपना सारा कर्तृत्व हार जाती है यहीं से कहानी प्रारम्भ होती है और मुक्तदा की तरह ही उपन्यासकार का जीवन-दर्शन भी समपरस्त हो जाता है। उसमें जीवन की अनुरक्ति नहीं विरक्ति वितृष्णा ही अधिक प्रतिबिम्बित है।

"विवर्त" में केवल अन्त में लेखक ने अपने आस्तिकवाद को दुहरा कर पाप के अस्तित्व पर प्रश्न उठाये हैं "सत् ही है असत् नहीं हो सकता। नाश कर लो असत् हो नहीं सकता। उसकी हस्ती ही नहीं। वो नहीं है, वह नहीं है। कितना भी कर लो नहीं कभी हो नहीं जायगा फिर जो असत् होता है क्यों होता है ? मिथ्या क्यों हो

जाता है ? बुरा क्यों हो जाता है ? ईश्वर के सर्वशक्तिमान सर्वव्यापी रहते शैतान क्यों हो जाता है ? कहाँ से हो जाता है ? यही सवाल है । सवाल यही है मोहिनी नहीं है वही क्यों होता है ?" (पृ० २२८) मनुष्य के स्वातन्त्र्य कर्तृत्व की बात यहाँ भी उठाई गई है । जिठन कहता है "हम समझते हैं यह दुनिया है और हम आजाद हैं पर यह समझना खुद सवाल है हाल यह है कि यह जेल है और हम कैदी हैं । जेल भगवान की है कैदी हम भगवान् के हैं । एक यही हल है मोहिनी नहीं तो अपनी नहीं से हम हाँ को सदा सोचते रहें और हाँ हमसे कभी छूट न जाय ।" (वही पृ० २२८-९) इस प्रकार मानव-जीवन की असमर्थता में ही अस्तित्व का समाधान कर लिया गया है ।

"व्यतीत" में जीवन व्यर्थ भार बन गया है क्योंकि उसे लेकर जीया नहीं गया । बचा कर रखा गया । 'ईश्वर' यहाँ भी टेक के रूप में आया है क्योंकि टूटा हुआ जयन्त कहता है 'सब कहीं खोजता हूँ और टटोलता हूँ जानता हूँ मेरा प्रभु सब कहीं है पर कहीं एक भी जगह जो मैं उसे पा-जाऊँ तो मैं रहूँ ।' परन्तु "ईश्वर" यहाँ हार जीत के प्रतिमान के सिवा अन्य नहीं है । निराकार ईश्वर को मनुष्य प्रेम और दर्द के भीतर ही तो पा सकता है । अन्य दूसरे जन्म के अस्तित्व और उसी की आस पर समाप्त होता है परन्तु यह आस्था स्वस्थ मनुष्य की आस्था नहीं टूटे व्यक्तित्व की सान्त्वना है । इस अभी तक प्रकाशित अन्तिम रचना में कदाचित् लेखक ने ईश्वर और मानव के कर्तृत्व का समाधान पा लिया है । वह कहता है "पर भगवान् सब करता है । आदमी में भगवान् ही तो है जो करता है । वह भगवान् बिचारा आदमी की मुट्ठी में होकर चाहे तो शैतान बनने को तैयार होता है । आदमी मुट्ठी छोड़ दे तो मालूम हो कुछ उसे अब करने को नहीं रह गया है । सीधी राह सामने हो आई है ।" (व्यतीत पृ० ८१) समाधान यह है कि भगवान् को मुट्ठी में बाँध लेने पर वह शैतान बन जाता है मुट्ठी खुली रहने पर भगवान् भगवान् है । कर्ता में यदि उदाराशयता है प्रेम है दर्द है तो उसके कर्म भगवान् के कर्म हैं । तब जो वह करता है देता है वह भगवान् करता है देता है । अकर्तृत्व और अहंकार शैतान की सीमें हैं । मनुष्य का मनुष्य के प्रति संकोच ही अकर्तृत्व है । आत्मदान भीतरी बोध से आता है अतः वह भगवान् भगवान् की ओर से आया हुआ माना जा सकता है । इसी सन्दर्भ में भगवान् कर्ता है मनुष्य अकर्ता है, नहीं तो मनुष्य के कर्म भगवान् के कर्म बन जाते हैं ।

सारांश में जैनेन्द्र की दार्शनिक स्थिति ऐसी है । उनके साहित्य में रस बोध उतना नहीं है जितना जिज्ञासा का आवर्तन-विवर्तन । दर्शन के काठिन्य पर ही उनका साहित्य सरसता बिखेर गया है । जैनेन्द्रीय दर्शन की भूमिका को ग्रहण न करने पर उनके पात्रों को समझा ही नहीं जा सकता । उनकी चिन्ताधारा में ही जैनेन्द्र की अपनी चिन्ताधारा आन्दोलित है । इसी से पात्रों का स्वतन्त्र कर्तृत्व लगभग समाप्त हो गया है । वे वह करते हैं या न वह नहीं करते जो जैनेन्द्र चाहते हैं या जिनसे उनके दर्शन का पुष्टि

होती है। फलतः उनका ज्ञान और कर्म पराया है और विश्वसनीय नहीं बन सका है। परन्तु जीवन और परिवार के उपन्यासकार के अनुभव और सूक्ष्मनिष्ठ द्वन्द्वों की कथा में सफलता से अंकित किया गया है और यही वो पक्ष जैनेन्द्र की उपन्यास-कला [illegible] विशिष्ट संबल है परन्तु दर्शन की चट्टान बीच में आ जाती है और पाठक उनके पात्रों से प्राण-सम्बन्ध स्थापित नहीं कर पाता। इससे उनकी औपन्यासिक उपलब्धि सम्पूर्ण न होकर आधी ही रह जाती है। उनका दर्शन ही उपन्यासकार के नाते उनकी सीमा बन गया है।

२

प्रेमचन्द के जीवन-दर्शन को हम मानवतावाद कह सकते हैं। इस जीवन-दर्शन के केन्द्र में मनुष्य है और उसी की सम्भावना पर अदम्य विश्वास प्रेमचन्द के साहित्य में पल्लवित हुआ है। इसीलिए नास्तिक होने पर भी प्रेमचन्द आस्थाप्राण हैं, आशावादी और आदर्शवादी हैं। वह विषमता देखते हैं, दुःख का व्यापक प्रसार देखते हैं तो ईश्वर विश्वास उनका छिन जाता है परन्तु ईश्वर का साथ बिना भी वह मनुष्य के भीतर की सदाशयता करुणा श्रद्धा और प्रेम पर विश्वास रख सकते हैं और सदाशयों की पराजय में भी जीत की कल्पना कर सकते हैं। जैनेन्द्र का जीवन-दर्शन इससे भिन्न है। जैनेन्द्र प्रेमचन्द की तरह अनीश्वरवादी नहीं हैं। ईश्वर को वह पहले और अन्त में लाते हैं। परन्तु ईश्वरवादी होते हुए भी वह आस्थाप्राण नहीं बन पाते। यह इसलिए, कि वह मनुष्य के स्वतन्त्र कर्तृत्व में विश्वास नहीं करते और कुछ बहुत असमतावादी एवं नियतिवादी हैं। उनकी विचारधारा सूक्ष्म है परन्तु उसे हम १९२० के बाद की यूरोपीय विचारधाराओं विशेषतया सार्त्र के अस्तित्ववाद के समकक्ष रख सकते हैं।

सार्त्र के अस्तित्ववादी जीवन-दर्शन की पहली विशेषता यह है कि वह अस्तित्व को परम तत्व (ऐसेन्स) से पहले रखता है। ईश्वरवादी दर्शन में परम तत्व (ईश्वर या ब्रह्म) पहले [illegible] उसी से सृष्टि का विकास सम्भव है। सृष्टि उसी के मन की अभिव्यक्ति है। वह पहले सृष्टा के मन में जन्म लेती है। सृष्टा उसे निरर्थक नहीं बनाता। प्रत्येक सृष्टि के पहले उसके रूप और उद्देश्य की कल्पना है। अस्तित्व से पहले वह सृष्टा के मन का भाव-बोध है। इस प्रकार सृष्टा के रूप में ईश्वर को उदात्त कलाकार समझा गया है। सृष्टा जब सृजन करता है तो वह निश्चित रूप से जानता है कि वह क्या बना रहा है और क्यों? पूर्व निर्णीत धारणा और रूप-कल्पना के अनुसार वह निर्माण करता है। जहाँ नास्तिक सार्वभौमिकता में ईश्वर (सृष्टा) बाधक भी है, वहाँ भी अस्तित्व को परम तत्व के मूल में रखा गया है। मनुष्य के भीतर जो 'मानवीय प्रकृति' है, वह सब मनुष्यों में समान है, वह सार्वभौम है सभी अवस्थाओं के मनुष्य में वह मूलभूत इकाई है। इस प्रकार मनुष्य का परम तत्व उसके अस्तित्व से पहले है।

सार्त्र की विचारधारा इसके विपरीत है। यह विचारधारा नास्तिक है। ईश्वर

के अस्तित्व में यह अविश्वासी है। परन्तु इसकी यह धारणा है कि मनुष्य आदि में है मनुष्य अपने रूप के निश्चित होने और परिभाषा प्राप्त करने से पहले ही अस्तित्वशील है। अस्तित्ववादियों का विश्वास है कि मनुष्य परिभाषागम्य नहीं है इसलिए कि प्रारम्भ में वह नहीं था और उसके भविष्य के सम्बन्ध में हम निश्चयी नहीं हो सकते। वह सतत गतिशील वास्तविकता है। वह केवल कर्तृत्व में ही है। होना ही उसकी सार्थकता है। वह अपने को जैसा बनाता है वैसा वह है। परन्तु इसी कर्तृत्व में मनुष्य की सर्वोपरिता भी अन्तर्निष्ठ है। मनुष्य में सर्वोपरि ऐसी चेतना है जो भविष्य की ओर उसे ले जाती है और मनुष्य इस अग्रगामिता की बात से परिचित है। मनुष्य चेतन है। उसका व्यक्तिगत जीवन है आत्मा की उस भविष्यगामिता के सिवा मनुष्य कुछ भी नहीं है। जब मनुष्य अपनी आकांक्षित पूर्णता को पहुँच जायगा तब वह होगा। तभी हम उसे परिभाषा दे सकेंगे। इस प्रकार अस्तित्ववाद में मनुष्य अपने प्रति दायी है उसके अस्तित्व की सम्पूर्ण जिम्मेदारी उस पर है वह अपना स्वामी है, वर्तमान का भी भविष्य का भी। परन्तु वह अपने प्रति ही दायी नहीं समस्त मनुष्यों के प्रति दायी है क्योंकि वह समस्त मनुष्यों का प्रतिनिधि है और अपने कर्मों द्वारा मनुष्य के भविष्य का एक निश्चित रूप सामने रखता है और शेष मनुष्यों को अपने कार्य का दायी बनाता है। मनुष्य स्वतन्त्र है वह अपना मार्ग चुन सकता है। अस्तित्ववादी जब ऐसा कहते हैं तो उसका यह अर्थ नहीं कि मनुष्य अपने जीवन के व्यक्तिगत मार्ग चुनता है। उसका प्रत्येक कर्म सम्भाव्य मानवता का प्रतिबिम्ब उभारता है और समस्त मानवता का पथप्रदर्शन करता है। प्रत्येक स्थिति में समाधान व्यक्तिगत होते हुए भी उसका समष्टिगत पक्ष भी रहता है।

इसी विचारधारा से अन्य विचारधाराओं का जन्म होता है जिन्हें क्रमशः पीड़ा (एंग्वइश) निरवलम्बता (एबंडनमेन्ट) और निराशावाद (डसपेयर) कहा गया है। मनुष्य पीड़ामय है। ऐसा कहने का तात्पर्य यह है कि मनुष्य को कर्तृत्व की स्वतन्त्रता है परन्तु यह स्वतन्त्रता उसके लिए बड़ी भारी पड़ रही है क्योंकि वह अपने लिए ही नहीं चुनता वह सारी मानवता के लिए चुनता है। फलतः उसका दायित्व बढ़ जाता है और वह पग-पग पर सशंकित रहता है सार्वभौम पीड़ा का अनुभव करता है। यदि सभी वह करने लगें जो वह कर रहा था तो क्या स्थिति हो यह विचार ही उसके प्रत्येक क्षुद्र कर्तृत्व को असीम महत्त्व दे देता है। इसीलिए उसे अपनी अवचेतन प्रवृत्तियों और नैतिक धारणाओं के प्रति अविश्वासी होना पड़ता है। इस दायित्व से उसके कदम बार बार डगमगाते रहते हैं। यह पीड़ा वैराग्यमूलक नहीं वस्तुत्वमूलक है। इसी से चरम शान्ति उसका लक्ष्य नहीं है उसका लक्ष्य ही अप्राप्ति है। (जीनराम मार्ने एक्जिस्टेंशियलिज़्म एण्ड ह्यूमनिज़्म पृ० ९२।)

सार्त्र का दर्शन मनुष्य को पृथक और निःसहाय मानता है। मनुष्य परित्यक्त है। यही नहीं कि ईश्वर नहीं है और मनुष्य उससे किसी भी प्रकार का सहारा नहीं ले सकता।

नतिक या मानवीय प्रकृति के निश्चित आदर्श भी नहीं है और इस प्रकार मनुष्य के पास केवल उसका स्वतन्त्र कर्तृत्व है। फल यह है कि मनुष्य अकेला है न भीतर का लंगर है न बाहर की पतवार। वह मात्र है। क्यों है कैसे पड़े इसके सम्बन्ध में कोई इंगित नहीं कोई आदेश नहीं। उसका स्वतन्त्र कर्तृत्व ही उसके लिए अभिशाप है। (वही पृ११४) इस प्रकार अस्तित्ववादियों का निराशावाद अपने ढंग की चीज है। वह परिस्थितियों और कर्मों की सीमाओं को स्वीकार करते हैं और उसमें ही अपनी सुरक्षा समझते हैं। इसीलिए इस दर्शन में अकाम कर्म (निष्काम) का नारा लगाया गया है। मनुष्य की दुर्बलताओं और परिस्थितियों के व्यंग को समझते हुए अदम्य आशावाद को सब कोई हास्यास्पद ही मानेगा। इस प्रकार अस्तित्ववादी कर्तृत्व में विश्वास रखते हुए भी मोह ग्रस्त नहीं होगा। अपने पैरों तले की धरती के सम्बन्ध में भी मनुष्य किस प्रकार निश्चित हो सकता है? (वही पृ० ११)

सार्त्रे की इस विचारधारा का उनके साहित्य पर, विशेषकर पात्रों की स्थिति पर क्या प्रभाव पड़ा है यह बतलाते हुए उन्होंने गीता से अपनी तुलना की है। जोला के पात्र भी दुर्बल हैं पापी हैं परन्तु उनके पीछे वंशानुक्रम परिवेश मनोवैज्ञानिक या दैहिक कारणों की योजना है। परन्तु सार्त्रे का वस्तुवाद दूसरे ढंग का है। दुर्बलता है पाप है, तुच्छता है परन्तु उसके पीछे कोई कारण नहीं है। वह है इसीलिए है। प्रकृति कर्तृत्व भी नहीं है। प्रकृति से क्षुद्र न होकर भी जब उपन्यास में कोई क्षुद्र बन जाता है तो पाठकों पर जड़ता छा जाती है। इसी प्रकार पात्र सात्र नाम कत्व की कल्पना का भी विरोधी है। उसकी धारणा है कि कुछ करने पर पात्र दुर्बल या सबल बन जाते हैं, परन्तु मूलतः न वे दुर्बल हैं, न सबल हैं। नायक दुर्बल प्राण भी सिद्ध हो सकता है और दुर्बल प्राणी में नायकत्व की कल्पना भी सम्भव है और सच तो यह है कि एक ही प्राणी दुर्बल और सबल दोनों होता है कुछ बना पात्र क्या है, हमें यह देखना है, उसके भीतर दुर्बलता-सबलता को अलग-अलग नहीं पढ़ना है। (वही) पृ ४२१)

इसमें सन्देह नहीं कि जैनेन्द्र की दार्शनिक भूमि सार्त्रे जैसी सूक्ष्म होती हुई भी बहुत भिन्न है यद्यपि अन्त में औपन्यासिक उपलब्धि उसकी बस्तु कुछ उसी प्रकार की अभिनिविष्ट है जिस प्रकार की सा की। जैनेन्द्र ईश्वरवादी है, यद्यपि उनका ईश्वर प्रतीक मात्र है। वह कर्तृत्व से परे रहस्यमय लीलामय है परन्तु उसकी लीला वही समझे। उसका होना न होना बराबर है। जैनेन्द्र मनुष्य में परमित कर्तृत्व की स्थिति मानते हैं। मनुष्य में स्वतन्त्र कर्तृत्व है परन्तु इस कर्तृत्व में ही अकिंचन्य भी है। सार्त्रे की तरह जैनेन्द्र भी मनुष्य को "बेचारा" मानते हैं परन्तु सार्त्रे के लिए यह "बेचारापन" मनुष्य के स्वतन्त्र कर्तृत्व का स्वाभाविक विकास है और इसी में उसकी महानता है। जैनेन्द्र मनुष्य को बेचारा बना कर ही छोड़ देते

है। इस प्रकार सार्त्र के निराशावाद में आशावाद की झलक आ जाती है और जैनेन्द्र का नियतिवाद कमजोर हो उठता है। मनुष्य की निःसहायता और निराश-स्थिति को जैनेन्द्र ने केन्द्र-स्थान पर रखा है। सार्त्र की तरह वह भी पीड़ा को महत्व देते हैं लेकिन यह पीड़ा समष्टि के लिए दायित्व की उपज नहीं है। उसमें उन्होंने "भीतर के दर्द" की कल्पना की है मनुष्य अकेला है परन्तु यह "भीतर का दर्द" उसे अन्य प्राणियों से जोड़ता है। इसे उन्होंने प्रेम और श्रद्धा भी कहा है। यह "भीतर का दर्द" ही जैनेन्द्र के लिए पीड़ा का दर्शन बन गया है। सम्भवतः जैन-अहिंसा और बौद्ध-करुणा का यह उग्र रूप है। इसी पीड़ा को उन्होंने मृणाल और कल्याणी में देखा है और सुनीता और सुखदा—मोहिनी में इसी की अनूठी उपस्थिति की है। यह भीतरी दर्द ही अकेले मनुष्य का सहारा है। वह उस बिखरे हुए को जोड़े रहता है। सार्त्र के 'ऐब्सर्ड' की तरह यह भी सूक्ष्म वस्तु है परन्तु प्रकृत्या उससे भिन्न है। अज्ञेयवादी और नियतिवादी होने के कारण जैनेन्द्र बुद्धि और तर्क की असारता में विश्वास रखते हैं और कर्मफल को असार्थक मानते हैं। उनके अनुसार जाना कुछ नहीं जा सकता और जानकर भी प्रगट नहीं किया जा सकता क्योंकि शब्द अपूर्ण हैं। अस्तित्ववादी भी वस्तुगत अनुभव के प्रति अविश्वासी है। वस्तुगत बोध संदर्भ पर आधारित रहता है इसीलिए वह भिन्न व्यक्तियों के लिए भिन्न होगा। इस प्रकार उपन्यास का जगत् लेखक के मन की प्रतिच्छाया है वस्तु जगत् का होकर भी वह वस्तु-जगत् का नहीं है। एकांत वास्तविकता है ही नहीं। है तो इंद्रियजन्य अनुभूतियों के विभिन्न रूपों के ज्ञान में उनके सम्बन्धों और अन्तर्सूत्रों में जिसे कुल मिला कर अनुभूतिजन्य वस्तु की सम्पूर्णता का निर्माण किया जा सकता है परन्तु अनन्त ज्ञान भीतरी मन का होता है। इस प्रकार वस्तु जगत् का ज्ञान भी भावात्मक है भीतर-बाहर एक है। जैनेन्द्र ने भी कहा है कि "भीतर-बाहर" में दो शब्द हैं पर वे दो नहीं हैं। प्रकृत में एक ही है। दो हो कर भी एक जैसे धार और छार। (कल्याणी पृ० ८६)। जैनेन्द्र भी अस्तित्व को मूल मानते हैं। होना ही जीना है। फलतः बुद्धि द्वारा किसी को समझने की चेष्टा भूल है। इस प्रकार नास्तिकता होने में है, न तु रूप में है जैसे यह संसार है।

सार्त्र अनीश्वरवादी है। वह नैतिकता या मानवीयता को भी नहीं मानता। इसी से पाप-पुण्य की बात नहीं उठती। परन्तु जैनेन्द्र पाप-पुण्य की समस्या को बार-बार छूते हैं यद्यपि वे उसका कोई समाधान उपस्थित नहीं कर पाते।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि जैनेन्द्र की विचारधारा सार्त्र के अस्तित्ववादी दर्शन के समकक्ष रखी जा सकती है। जीवन के प्रति बड़ी गहरी और मर्मस्पर्शी दृष्टि और उसकी अबूझ और रहस्यमयता पर बल एवं पीड़ा का दार्शनिक महत्व इन्हें उनकी विचारधारा में भी मिलता है। सार्त्र की रचनाओं में घोर निराशावाद मिलता है यद्यपि वे अपने को मानवतावादी सिद्ध करते हैं और मानव की विकासोन्मुख प्रवृ-

प्रवृत्ति पर उनका विश्वास है। जैनेन्द्र की रचनाओं में हमें संशयवाद ही अधिक मिलता है। वे एक प्रकार से नियति को ही प्रमुख मान लेते हैं और मनुष्य के स्वतन्त्र कर्तृत्व और उसके विकासमान व्यक्तित्व को महत्त्व नहीं देते। यह निराशावादी प्रवृत्ति सम्भवतः उनके आत्मानुभव पर आधारित है क्योंकि यह न तो गान्धीवाद की चीज़ है न जैन दर्शन की। स्वयं जैनेन्द्र के अपने व्यक्तित्व और उनकी मनोस्थिति में निराशावाद एवं नियतिवाद का हल ढूँढना होगा। यह युद्धोत्तर-काल की परिस्थितियों की भी प्रतिच्छाया हो सकती है।

२

इसमें संदेह नहीं कि जैनेन्द्र ने अपने दार्शनिक दृष्टिकोण के विकास में अनेक सूत्रों से सहारा लिया है। पश्चिम की नवीन दार्शनिक उपलब्धियों से वह परिचित हैं, साथ ही गान्धीवादी विचारधारा और जैन धर्म के दार्शनिक पहलुओं का भी उनका गहरा अध्ययन है। यह सब होते हुए भी वह मूल चिन्तक हैं। इसी से वह बहुत कुछ बाहर से बटोर कर उस सब को अपना बना सके हैं जो स्वयं एक मूल्यवान उपलब्धि है।

जैन-दर्शन का मुख्य धार्मिक विश्वास "अहिंसा" शब्द के अन्तर्गत आ जाता है जिसका अर्थ अहिंसा अथवा हिंसा भाव की नकारात्मकता ही नहीं है, सार्वभौमिक प्रेम है जिसके मूल में भावना यह है कि प्राणी मात्र एक है। अहिंसा-धर्मी परपीड़ा को स्वपीड़ा समझता है और उसके प्रतिआत्ममनस्क नहीं रह सकता। जैन-दर्शन की प्रमुख विचारधारा अनेकांतवाद है कि सत्य को अनेक दृष्टिकोणों से देखकर ही वास्तविकता तक पहुँचा जा सकता है। जैन-दर्शन के अनुसार चरम तत्त्व अपरूप और संश्लिष्ट है और उसकी प्रकृति को पूर्णतया ग्रहण करने के लिए विभिन्न कोणों से उसे देखने की आवश्यकता है। यह अवश्य है कि किसी विशेष लक्ष्य को सामने रखकर उस चरम सत्य को हम एक विशेष दृष्टिकोण से भी परख सकते हैं। इस एकांतिक दृष्टिकोण से सत्य को परखने का अपना मूल्य भी हो सकता है परन्तु उसमें हमें खंड सत्य ही प्राप्त होगा सम्पूर्ण सत्य की उपलब्धि नहीं होगी। जैन-दर्शन की स्थापना है कि उत्पाद व्यय और ध्रौव्य (ध्रुवता) सत् की तीन प्रकृतियाँ हैं और सत्य में इन तीनों का समुच्चय है। वह एक ही समय में है नष्ट हो रहा है और जन्म ले रहा है। इस 'सत्' को जैनेन्द्र ने "ईश्वर" कहा है। जैन दर्शन के 'सत्' की तरह यह भी अभिन्न और अनिर्दिष्ट है। जैन-दर्शन को साधारणतः अनीश्वरवादी कहा जाता है परन्तु वास्तव में 'स्याद्वाद' में सत् के संबंध में दस प्रपत्तियाँ हैं और "अस्ति-नास्तिवाद" के रूप में 'सत्' को चेतना के दो धरातलों पर देखने की दृष्टियाँ हमें मिलती हैं। जैन-दार्शनिक यह नहीं कहते कि सत् एक ही समय अस्तित्वशील और नास्तिशील है। उनका मन्तव्य तो यह है कि हम उसे एक दृष्टिकोण से देखते हैं तो वह 'है' दूसरे दृष्टिकोण से देखने पर वही "नहीं" हो सकता है। वास्तविकता तो यह है कि यह दृष्टिकोण कहीं अधिक व्यावहारिक है।

जैन-दर्शन कर्मवाद का विश्वासी है। जीव की सांसारिक स्थिति की व्याख्या कर्मवाद द्वारा ही सम्भव है। जैन-दर्शन में आठ प्रकार के कर्मों की कल्पना है। ज्ञानावरणीय कर्मन्, दर्शनावरणीय कर्मन्, मोहनीय कर्मन्, वेदनीय कर्मन्, नाम कर्मन्, गोत्र कर्मन् और असूया कर्मन्। समस्त सांसारिक प्राणियों को इन कर्म बन्धनों में बँधना पड़ता है। इन कर्मों को द्रव्य कर्मन् और भावकर्मन् में भी विभक्त किया गया है जो क्रमशः भौतिक और मानसिक प्रकृतियाँ हैं। योग या तप के द्वारा साधक चेतना के ऊर्ध्व लोकों में पहुँचकर इन कर्म-बंधनों से छुटकारा पा जाता है।

जैन-धर्म में तपस् का प्रमुख स्थान है। तप के द्वारा ही मानवात्मा ऊर्ध्वगमन करती है और आवागमन से मुक्ति प्राप्त करती है। तप और योग के द्वारा ही आत्मा को अपनी सात्त्विक प्रकृति की उपलब्धि होती है। प्रत्येक मनुष्य अपनी आत्मिक प्रगति के लिए स्वतंत्र है और तप और योग के द्वारा मुक्त बन सकता है। मुक्त पुरुष में ज्ञान, श्रद्धा, शक्ति और आनन्द की पूर्णता है। वास्तव में जैन-दर्शन मनुष्य को महीयान बना देता है। देवता भी मनुष्य देह धारण करने पर ही मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं। वैदिक विचारावली में देवता सर्वोपरि हैं परन्तु जैन-दर्शन में मनुष्य में ही परम देवत्व की कल्पना है क्योंकि समस्त प्राणियों में मनुष्य ही जीवन (या प्रकृति) के लक्ष्य के सबसे अधिक निकट है।

जैन दर्शन में सम्यक् चरित्र के लिए पाँच व्रत निश्चित किये गये हैं अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। गृहस्थों के लिए परिमित परिग्रह की सुन्दर कल्पना है। अहिंसा और सत्य पर जैन मुनियों ने बड़ी सूक्ष्मता से विचार किया है और इनकी पूर्णता जनतम विषय में कल्पित की है। दुःख अथवा पीड़ा के ऊपर जय-प्राप्ति जैनात्मा का सर्वोपरि रूप है।

जैन-दर्शन के कई उपकरण महात्मा गांधी की विचारधारा में पूर्णतः अपना लिये गये हैं जैसे अहिंसा, सत्य और पंच महाव्रत। सत्याग्रह में उपसर्ग-जय अपने आप आ जाता है। गांधी जी मनुष्य प्रकृति के सम्बन्ध में अदम्य रूप से आस्थावान् हैं और जैनेन्द्र की तरह उनका आस्तिकवाद अनिश्चित, दुर्बल और अबूझ नहीं है। गांधी जी की ईश्वरास्था अडिग है। वह रहस्यदर्शी या मर्मी की अंतरानुभूति है। जैनेन्द्र तर्क-वितर्क और बुद्धि के ऊहापोह से ईश्वर को छान डालना चाहते हैं परन्तु अन्त तक हार मान लेते हैं क्योंकि बुद्धि की तो हार है ही। तपस् और उपसर्ग जय को जैनेन्द्र ने औपन्यासिक रूप दे दिया है। उनकी नारी-पात्रियों में जिस बलिदान, आत्मपीड़ा, तप और त्याग की पराकाष्ठा कल्पित की गई है वह जैन धर्म की ध्वजा लेकर नहीं चलती परन्तु सार्वभौम होकर भी उसपर उपन्यासकार के जैन-विश्वास की छाप है।

जैनेन्द्र के जीवन दर्शन के सामाजिक पक्ष को भी समझ लेना होगा।

४ :

जैनेन्द्र पारमार्थिक और व्यावहारिक दृष्टि में भेद करते जान पड़ते हैं। उनकी सामाजिक दृष्टि व्यावहारिक दृष्टि ही है। इसी से मूलतः अधिकारी होते हुए भी वह बहुत आगे बढ़ने में सुरक्षा नहीं समझते। वह समाज को एक आवश्यक संस्था मानते हैं। जहाँ व्यक्ति और समाज के द्वन्द्व की स्थिति आये वहाँ वह समाज के कल्याण के लिए व्यक्ति से बलिदान की ही आशा रखते हैं। इस प्रकार सामाजिकता बन जाती है और व्यक्तिवाद ऊपर उभर आता है। "जो है सो है" दर्शन की सार्थकता ही नहीं है कि इस यथातथ्यता को इतोष सर्वोपरि मान लेता है और विद्रोह को कुण्ठित कर देता है। समाज के सत्य पर ही लेखक ने अपने नारी-पात्रों की बलि दे दी है। कट्टो विधवा ही बनी रही भले ही जैनेन्द्र उसे वैधव्य-व्रत की गरिमा से मण्डित कर दें उसके निवासन की समस्या का यह हल व्यक्तिवादी ही रहेगा। मृणाल तो तिल तिल करके गलती है सामाजिक स्तर पर नीचे और नीचे उतरती है। वह समाज की सुरक्षा को ही अपना ध्येय बना लेती है। प्रमोद जब कहता है कि मैं समाज की परवाह नहीं करता तो वह कहती है तुम परवाह नहीं करते भाई, तो चल सकता है। लेकिन मैं तो ऐसा नहीं कर सकती कि परवाह न करूँ। मैं समाज को तोड़ना-फोड़ना नहीं चाहती हूँ। समाज टूटी कि फिर हम किसके भीतर बनेंगे या कि किसके भीतर बिगड़ेंगे? इसीलिए मैं इतना ही कर सकती हूँ कि समाज से अलग होकर उसकी मंगलाकांक्षा में खुद ही टूटती रहूँ" यही नहीं वह प्रमोद को विरत भी करती है कि वह अपनी इज्जत सम्भाले रहे (यद्यपि वह खूब जानती है कि सामाजिक प्रतिष्ठा की बात कम है) और उससे (मृणाल) सम्पर्क नहीं रखे। समझती है, जो समाज में है समाज की प्रतिष्ठा कायम करने का जिम्मा भी उन पर है। यह उनका कर्त्तव्य है। जो उससे उच्छिष्ट हैं या उच्छिष्ट बनना पसंद कर सकते हैं उन्हीं को जीवन के साथ नये प्रयोग करने की छूट हो सकती है। प्रमोद यह बात तो ठीक है कि सत्य को सदा नये प्रयोगों की अपेक्षा है। लेकिन उन प्रयोगों में उन्हीं को पड़ना और डालना चाहिए जिनकी जान की समाज-घर नहीं है।" (त्यागपत्र पृ १) तात्पर्य यह है कि जैनेन्द्र के साहित्य में सामाजिक प्रश्न आते हैं परन्तु वे अपनी तीव्रता और यथार्थता खो देते हैं क्योंकि जैनेन्द्र या तो उन प्रश्नों को दार्शनिक मूल प्रश्नों से सम्बन्धित करके उनकी क्रान्तिकारिता नष्ट कर डालते हैं या वे यथातथ्यता के कायल बन जाते हैं। आखिर, समाज बदलेगा कैसे? सब उसे मानकर चलेंगे तो क्या प्रयोग मात्र करने वाले दो-चार बने समाज को बदल देंगे? यह सामाजिक प्रश्न की व्यापकता हटा कर उसे व्यक्तिगत भूमि पर देखना है। इसलिए हम देखते हैं कि कि उन्होंने व्यक्तिगत भूमि पर पीड़ा का एक दर्शन बना लिया है। व्यक्ति (जैसे मृणाल या कल्याणी) अपनी पीड़ा के द्वारा ही समाज में नई

वेदना भर सकेंगे। यह "सत्याग्रह" का सामाजिक रूप है। आत्मपीडन और आत्मघात के द्वारा ही जहाँ शान्ति की आशा है वहाँ जीवन की कर्मण्यता का क्या होगा ? वस्तुतः जैनेन्द्र के पात्रों पर निष्क्रियता छाई हुई है और वह सब प्रश्नों के अन्त में अबूझ 'ईश्वर' को रखकर अपना समाधान कर लेते हैं। इस प्रकार वह अपने को छलते ही हैं, समाज का कल्याण तो वह कुछ कर नहीं सकेंगे।

"ऐसे बुआ मृणाल के तप से समाज नहीं बदलेगा। न जज एम० दयाल के त्यागपत्र से। यह त्यागपत्र क्या अपने से भागना नहीं है ? यह क्या बुआ का ऋण चुकाना है ? सत्तरह से कुछ ऊपर वर्ष तक अदालत के पैसे और बुद्धिमत्ता के सिंहासन के ऊपर बैठकर राज किया और फिर एक दिन बुआ के मरने की खबर पाकर त्यागपत्र दे दिया। इसमें कौन-सी क्रान्तिकारिता रही ? सच तो यह है कि जैनेन्द्र के पात्रों का व्यक्तित्व समाज के बाण्ड से दबा रहता है और वे अपनी आग को सीधा नहीं रख सकते। जैनेन्द्र यह अवश्य मानते हैं कि आदमी समाज का बोझ अपने ऊपर स्वीकार कर अपने भीतर के सत्य को अस्वीकार करता है तो यह उसकी बड़ी भारी मूर्खता है। (त्यागपत्र पृ० ७) परन्तु इस मूर्खता से न मृणाल छुटकारा पाती है, न प्रमोद, न कल्याणी। इन सब की व्यर्थता मूलतः इसीलिए है कि ये समाज के प्रति विद्रोह करने में असफल हैं (या असमर्थ हैं) ये कर्तृत्व नहीं जानते, सूक्ष्म दार्शनिक ऊहापोह जानते हैं। इसीलिए ये हमारे लिए दुर्बोध हैं। वास्तव में इसी से उनमें "ट्रैजेडी" का जन्म होता है। समाज-चक्र के नीचे पिसी हुई कल्याणी जब समाज की मर्यादाओं को सर्वोपरि रखकर कहती है कि 'सामाजिक नियमों का उल्लंघन उदासीन होकर नहीं देखा जा सकता। मर्यादाओं की रक्षा आवश्यक है, नहीं तो समाज बिखर जायगा। मनुष्य और पशु में तब भेद नहीं रहेगा। आपसी सम्बन्धों में मर्यादा का निर्वाह जब तक हम करते हैं तभी तक मनुष्य और पशु में भेद है। पशुओं में एक से दूसरे में विशेषता नहीं होती, सब समान हैं। सब के अधिकार समान हैं। हर दूसरे को मार खाने को स्वतंत्र है। पर मनुष्य ने सभ्यता बनाई है जिसके कारण आदमी और आदमी में विशिष्टता है। सब के पदस्थ भिन्न हैं और कर्तव्य और अधिकार भी भिन्न हैं। सब का धर्म अपनी मर्यादा की रक्षा है। मर्यादाहीन कर्म पशुता है। सुनते आप। समाज-विधान की मर्यादाओं का लंघन अनिष्ट है। पशुओं का झुण्ड गाय होता है, रेवड़ या भेड़ होता है। लेकिन मनुष्य ने एकत्रित होकर अपना समाज बनाया है। नियम है, इसी से समाज समाज है। क्या नियम की अवज्ञा की जा सकती है ?" (कल्याणी पृ० ६५६)—तो हम आश्चर्यचकित हो जाते हैं। परन्तु यह केवल कल्याणी का बयान नहीं है, स्वयं उपन्यासकार की भी उसके प्रति सहानुभूति है और इसी से वह कल्याणी (और 'त्यागपत्र' में मृणाल) को शहीद बना कर हमारी सहानुभूति से खेल करना चाहता है।

विवाह, दाम्पत्य, जन और विशिष्ट स्त्री और पुरुष के समाजगत सम्बन्ध आदि कुछ प्रमुख सामाजिक प्रश्नों को जैनेन्द्र अपनी रचनाओं में बार-बार लाये हैं और इनके

सम्बन्ध में हमें उनका दृष्टिकोण स्पष्ट रूप से मिल जाता है। जहाँ वह पात्रों के मुँह से बोलते हैं वहाँ भी उनका स्वर पहचान लिया जाता है। वह विवाह को सामाजिक मानते हुए भी कदाचित् "व्यतीत" में उसकी सामाजिकता की खिल्ली उड़ाते हैं क्योंकि अनिता और चन्द्री के विवाह में न "जन्म-जन्मान्तर तक विवाह की व्याप्ति" वाली सार्थकता है क्योंकि दोनों असफल प्रेम को भुलाने के लिए ही विवाह करते हैं। पास आना नहीं चाहते दूर जाना चाहते हैं। (व्यतीत पृ ८९) वर्ग भेद को उन्होंने "विवर्त" में उभारा है और खूब उभारा है। (वही पृ १९२) स्वयं मोहिनी जितेन से पूछती है, "बताओ तुम हमारे जैसे-बड़े वर्ग के साथ क्या करना चाहते हो? वह जिसे सम्पन्न कहते हैं, लिक्विडेट। क्यों नहीं न?" और जितने सारे जोश से क्रान्ति की दलीलें पेश करता है। (वही पृ० ८६-७) परन्तु अन्त के पतन में जितेन की हार वर्ग सिद्धान्त की हार बना दी गई है। वहाँ आरम्भ में अमीरों का धन लेकर गरीबों में बाँटकर साम्य स्थापित करने की बात है वहीं सहायता के रूप में जितेन वीर से कहता है "अच्छा वीर, ... सिक्के के हाथ नहीं श्रम के हाथ सत्ता होनी चाहिए। श्रम जिसका हो और जिसकी मिट्टी हो तब है क्रान्ति। बाकी उगाया है, बाकी सब सरकार की पूजा है। धन लूट कर इसके सिवा क्या होता है कि धन ईश्वर बनता है? (पृ १८९)" इसमें धन के प्रति तुच्छता का भाव जगाया गया है जैसे उसके आधार पर वर्ग भेद करके चलना ही भूल हो। इसी प्रकार जैनेन्द्र कान्त से यह दर्शन कहलाते हैं कि धन बड़ा है, विशिष्ट छोटा कि "यह तो जन-साधारण है—जिसकी गिनती नहीं है जो एक-सा है, और इकट्ठा है, ढेर वह है।" (विवर्त पृ १०१) परन्तु यह पता नहीं लगता कि सारे उपन्यास में इस मान्यता की सार्थकता क्या है और कहाँ है? स्त्री और पुरुष के विभिन्न सम्बन्धों को लेकर तो उन्होंने अपनी कथाएँ ही गढ़ी हैं पर उनमें पक्ष का आग्रह ही अधिक है प्रधान पात्रियाँ पक्ष की ठेकेदार बनकर नहीं आ सकी हैं।

अन्त में यह कहा जा सकता है कि जैनेन्द्र का सामाजिक दर्शन हमारे भीतर प्रश्न उठाता है हमारी जिज्ञासा को उभारता है, परन्तु वह परिस्थितियों से समझौते में विश्वास करता है विद्रोह और चुनौती में नहीं। घूम-फिर कर जैनेन्द्र वहीं पहुँच जाते हैं जहाँ समाज तन्त्र की यथास्थिति वांछित है और सामाजिक प्रश्न के लिए दार्शनिक समाधान देकर या मौन रहकर प्रश्न के साथ छल करते हैं। मूलबद्ध होते हुए भी उनकी सामाजिक चेतना क्रान्तिकारी नहीं बन सकी है। वह कदाचित् व्यक्ति जैनेन्द्र की सीमाओं से आबद्ध है। भाव भूमि को छोड़ कर जहाँ नितान्त बौद्धिक भूमि पर चलने का आग्रह है, वहाँ तर्कवाद में उलझनों का डर बना है।

१५

जैनेन्द्र की नारी भावना

जैनेन्द्र के उपन्यासों में नारी-भावना की प्रधानता है। "परख" से लेकर "व्यतीत" तक नारी ही उनके केन्द्र में है। एक प्रकार से उनके उपन्यासों को हम नारी जीवन के उपन्यास कह सकते हैं। नारी-जीवन की समस्याएँ नारी का सामाजिक जीवन उसका स्वतंत्र अस्तित्व प्रेम और विवाह ये कुछ प्रश्न हैं जो जैनेन्द्र के सामने बराबर रहे हैं और अपने ढंग से इन प्रश्नों का समाधान उपस्थित करने का प्रयत्न उन्होंने किया है। नारी के सम्बन्ध में जैनेन्द्र की भावना बराबर सूक्ष्म होती गई है और उन्होंने इन समस्याओं को अधिकतम गहराई देने की चेष्टा की है। जिस छायावादी युग में जैनेन्द्र ने लेखन प्रारम्भ किया उन दिनों नारी "अयोनि की तन्वी" थी। उसके व्यक्तित्व के प्रति आकर्षण का कोई अंत नहीं था। प्रेमचन्द और अन्य समसामयिकों की रचनाओं में भी नारी को केन्द्रीयता मिली थी। वास्तव में बीसवीं शताब्दी नारी जागरण की शताब्दी रही है और नारी की मुक्ति में ही हमारे युग के महापुरुषों और साहित्यकारों ने मानव-मुक्ति की कल्पना की है।

"परख" में हमारे सामने नारी की सामाजिक समस्या ही नहीं आती स्वयं लेखक नारी-सम्बन्धी अपने दृष्टिकोण को एक स्थल पर मुखरित कर देता है कि "पुरुष बनाता है, विधाता बिगाड़ देता है,—अंग्रेजी की एक कहावत है। संशोधन यह भी किया जा सकता है—पुरुष बनाता है स्त्री बिगाड़ देती है। उस भी कहावत में कम तथ्य नहीं रहता। बात वास्तव में यह है कि पुरुष कम बनाता-बिगाड़ता है जो कुछ बनाती और बिगाड़ती है, स्त्री ही। स्त्री ही व्यक्ति को बनाती है घर को कुटुम्ब को बनाती है। जाति और देश को मैं कहता हूँ स्त्री ही बनाती है। फिर इन्हें बिगाड़ती भी वही है। आनन्द भी वही और कलह भी वही सुख भी और उजाड़ भी दूध भी और खून भी रोटी भी और स्कीम भी और फिर आपकी मरम्मत और चेष्टा भी सब कुछ स्त्री ही बनाती है। धर्म स्त्री पर टिका है, सभ्यता स्त्री पर निर्भर है और फैशन की जड़ भी वही है। बात क्यों बढ़ाओ एक शब्द में कहो दुनिया स्त्री पर टिकी है। जो आँखों से देखते हैं खुद आप इस तथ्य को स्वीकार कर, दबके बैठे रहते हैं। बेचारे चूँ नहीं करते जिनकी आँखें ही नहीं वे मानें या न मानें हमारी बला से।" (परख पृ० २८-९) "परख" में

कट्टो विधवा है परन्तु उसका "विधवापन" समाज में ज्यादा कमी पर लेखक को इष्ट प्रतीत नहीं करता। क्योंकि मूल में स्त्री मंगलमयी करुणामयी है इसी से इस 'विधवापन' को "वैधव्य-व्रत" बना कर सार्थकता दे दी गई है। स्पष्ट ही यह कोई सामाजिक समाधान नहीं है। सामाजिक प्रश्न जहाँ का तहाँ बना रहता है और कथा की परिणति मानसिक आदर्शवाद में होती है जो स्पष्टतः आरोपित और अव्यावहारिक है। यह स्पष्ट है कि जैनेन्द्र विधवा-विवाह के सामाजिक प्रश्न को सामाजिक भूमि पर देखना ही नहीं चाहते। बिहारी को बीच में लाकर वह कट्टो को विषम जीवनस्थिति से उबार लेते हैं परन्तु बिहारी जैसे अतीन्द्रिय प्रेमी कितने मिलेंगे और कट्टो भी क्या सहन होगी। फिर भी यह स्पष्ट है कि इस उपन्यास में नारी के अपरिसीम प्रसन्न-त्याग और मातृत्व को कला की सुन्दर रूपरेखाओं से उभारा गया है। अपढ़ और गँवार कट्टो के आगे शिक्षा प्राप्त नागरिका गरिमा का ठैय कठिन हो जाता है और इस प्रकार नारी की मूल कल्याणी प्रकृति की प्रतिष्ठा हो जाती है।

'सुनीता' 'कल्याणी' विवर्त और 'व्यतीत' में जैनेन्द्र नारी की प्रेम और विवाह की समस्याओं को विस्तृत रूप से लेते हैं। विवाह की समस्या के साथ ही नारी के पुरुष से स्वतन्त्र जीवन की समस्या बँधी हुई है। एक प्रकार से नारी के व्यक्तिगत जीवन की समस्याओं का यह केन्द्र-बिन्दु है। वह अपने लिए जी सके। विवाह-संस्था में आबद्ध नारी पति-पुत्रों के लिए जीती है। क्या वह अपने लिए जीने में स्वतन्त्र है? पति के रहते और जानते क्या वह प्रेम कर सकती है और फिर भी सती बनी रह सकती है? सतीत्व बड़ा है या नारीत्व? इस प्रश्न को शरत्चन्द्र ने भी उठाया है और नारीत्व को सतीत्व से बड़ा माना है। यहाँ एकनिष्ठा और अनौचित्य का प्रश्न है वहाँ भी सूक्ष्मता लाई गई है। नारी मूलतः करुणामयी है माता है क्षमामयी है। आत्मदान ही उसका परम गौरव है। इस आत्मदान को ही हम नारीत्व कहते हैं। सती बनना सर्वोच्च आदर्श हो सकता है परन्तु ऐसी भी पुकार आ सकती है जब नारी सतीत्व पर आती हुई लांछन की लपटों को सह ले और सहेजकर प्यार और पीड़ा के आँसुओं से तिरस्कार का पथ भर ले। देवदास के प्रति पार्वती ने जो किया वह भले ही कुलीन घर की गृहिणी के लिए उचित नहीं हो परन्तु क्या इससे पार्वती का नारीत्व मान कम होता है। सुधी पाठकों की दृष्टि में तो वह मनुष्यत्व (या नारीत्व) की प्रकाश दीपशिखा बन जाती है। इन चारों उपन्यासों में शरत्साहित्य के इन मूल प्रश्नों को नई भूमि पर उठाया गया है। परन्तु की विशेषता यह है कि वह समस्या देते हैं प्रश्न की ओर संकेत करते हैं परन्तु वह मूलतः कलाकार हैं और कला के रस में डूब कर पात्रों के जीवन की व्यथा ही मार्मिकता पा जाती है। प्रश्न और उसके समाधान का हम भूल ही जाते हैं। परन्तु काम-काज पसन्द नहीं करते। भाषा शैली की बारीकी उनमें नहीं है परन्तु इसी से सहज रूप में वह हमें विभोर कर देते हैं। जैनेन्द्र मूलतः शिल्पी हैं चित्रकार हैं पात्रों के जीवन के छोटे-मोटे चित्रों को पकड़ने में भी वह सिद्धहस्त हैं

परन्तु हृदय का बड़े तन मानसिक विक्षोभ अन्तर्द्वन्द्व अन्तःप्रकृति के सत्य को सजीव एवं रससिक्त बनाना उनके वश की बात नहीं है। वह समस्या देते हैं और प्रश्न देते हैं और समाधान देते हैं। सब ओर से वह चौकस हैं। परन्तु इनकी चौकसी अवांछनीय है। पाठक समाधान में ही उलझ जाता है वह पात्रों के जीवन में डूब नहीं पाता। प्रश्न और समाधान उसे अन्त तक उलझाये रहते हैं।

पतिनिष्ठ नारी क्या प्रेम कर सकती है यदि प्रेम अनायास उसके जीवन में आ जाये तो ऐसी कठिन परिस्थिति में पति का कर्तव्य क्या होगा ? यह प्रश्न इन चारों उपन्यासों में प्रमुख होकर उठा है। सुनीता के जीवन में हरिप्रसन्न आया। आया ही नहीं घर में फँसे निरानन्द को हटाने के लिए पति द्वारा जानबूझ कर लाया गया। सुनीता पति से समस्त विश्वास और स्वीकृति पाकर घर छोड़ कर प्रेमी के साथ हो ली। "विवर्त" की भुवनमोहिनी ने विवाह से पहले जितेन से प्रेम किया है परन्तु उससे प्रताड़ित होकर शायद उसे भूलने के लिए "नीड़" का निर्माण कर लिया है। यही प्रेम उसमें एक बार फिर याचना करता है और वह उसे ठुकरा नहीं पाती। जैनेन्द्र ने पति नरेश को इतनी दूर तक उदार बना कर भुवनमोहिनी के प्रेम-स्वातन्त्र्य की रक्षा की है कि हमें यह उदारता खलने लगती है। यह अव्यावहारिक और अस्वाभाविक लगती है क्योंकि घर का अर्थ ही माया-ममता रागद्वेष है और जहाँ पति-पत्नी को प्रेमी को छल देने की छूट दे देता है (जैसे "व्यतीत" में) वहाँ हमें शक होने लगता है कि सम्भवतः जैनेन्द्र के औपन्यासिक जगत् में मनुष्य के मनोवैज्ञानिक तथ्य या रागद्वेष काम नहीं करते। जैसे वह कोई ऐसा अपूर्व देश में हो जहाँ पति-पत्नी "सत्य" की परीक्षा के लिए ही जीते हों और पत्नी को परम मुक्ति देना ही कदाचित् पति के लिए सबसे बड़ी त्याग साधना हो। जो हो यह स्पष्ट है कि इन चारों उपन्यासों में लेखक ने इस मनस्तात्त्विक सत्य की ओर इंगित किया है कि नारी प्रत्येक स्थिति में प्रेम करने में स्वतन्त्र है। विवाह से पहले का प्रेम सब कहीं दाम्पत्य में नहीं बँध जाता और यह अन्तर्ध्यान कभी भी उमड़ कर नारी के वैवाहिक जीवन की शान्ति को नष्ट कर सकता है। फिर विवाह के बाद दाम्पत्य जीवन में तो प्रेम की पुकार आ ही सकती है और क्या नारी उसमें निमग्न हो जाये ? सतीत्व के नाम पर ऐसा वह करती है तो वह सतीत्व क्या व्यभिचार नहीं हुआ? शरत् के उपन्यासों में जब ऐसी परिस्थिति आई है तो अन्त में स्वयं नारी की अन्तःप्रकृति रास्ता न पाकर टूट गई है। परन्तु उसके इस टूटने में बड़ा "दर्द" है, बड़ा चीत्कार है जो हमें विक्षोभ से भर देता है। यही नहीं वहाँ पति नाम का प्राणी नारी के इस "दर्द" को पहचान कर ही उदार बनता है। उधर शरत् का प्रेमी भी संस्कारी जीव है। वह नारी का तन मात्र नहीं चाहता। तन चाहने पर भी अन्ततः लड़ कर लेखक सतीत्व को बचा लेता है। परन्तु तन की सुरक्षा रहने पर भी नारी मन को चोरी मान लेती है और टूट जाती है। शरत् की यह योजना "गृहदाह" में सबसे स्पष्ट रूप से

सामने आती है। अन्य उपन्यासों में भी इसी के कई संस्करण मिलते हैं। मूल योजना रवि बाबू के "घरे-बाहरे" से उधार ली गई है। परन्तु शरत् कलाकार हैं। वह "बाहर" को महत्त्व नहीं देते। उनकी नायिकाएँ जो पुकार सुनती हैं वह किसी बाहर के आन्दोलन की (वह चाहे हिंसक हो या अहिंसक) पुकार नहीं है। वह मधुरानी सुखदा या सुनीता नहीं बनतीं। शरत् नर-नारी के प्रकृत आकर्षण को ही लेकर चलते हैं। जहाँ आन्दोलनमयी पुकार है वहाँ भी क्या पुकार का आकर्षण प्रकृत आकर्षण पर ही आधारित नहीं है? यद्यपि उसे प्रच्छन्न रखकर लेखक ने अपने को छला ही है। इस प्रकार शरत् की कथा रवि बाबू की कथा का परिष्कृत रूप है और उसमें भी स्वाभाविक सम्भावना कहीं अधिक है। हार्डी की वैवाहिक विडम्बनाओं और फ्लाबेयर, मोपासाँ और अन्य फ्रेंच कथाकारों से शरत् ने काफी सीखा है। उन्होंने "पापी" को पापी नहीं कहा उसके चरित्र की उज्ज्वलता देखी और तथा कथित कुलटाएं और वेश्याएं उनके साहित्य में सती के रूप में सामने आईं। नारी के प्रति हमारे दृष्टिकोण को उन्होंने आक्षितिज विस्तार दिया।

जैनेन्द्र क्या इससे आगे बढ़ सके हैं या शरत् के उपन्यासों-जैसी मार्मिकता उनकी रचनाओं में है? "सुनीता" "सुखदा" और "विवर्त" में उन्होंने रवि बाबू के "घरे बाहरे" और "चतुरंग" का ही पुनरुद्धार किया है। रवि बाबू की इन रचनाओं से अधिक सरस वह नहीं हो सके हैं। उन्होंने दर्शन के ताने-बाने अधिक फैलाये हैं अन्तर्जीवन के मर्मस्पर्शी विस्फोट को कम नहीं लिया है। तीनों उपन्यासों में बाहर की क्रान्ति की पुकार सुन कर नारी बाहर आई है और पति की परम अनुमति ही उसे मिली है। 'सुनीता' में पति के आग्रह पर ही उसने अपने सतीत्व को संकट में डाला है। 'सुखदा' में भूमि तैयार थी। यह भूमिका बहुत कुछ चारित्रिक थी। सुखदा चंचल और महत्त्वाकांक्षिणी थी। पति के शान्त और साधु चरित्र से वह असन्तुष्ट थी। उद्दाम प्रकृति लाल के प्रति उसका आकर्षण स्वाभाविक था। बाहर गई तो परन्तु लौट कर आ नहीं सकी भीतर भीतर टूट गई। यह टूटना पाप भावना के कारण नहीं अपनी जीवन-दर्शन की असार्थकता के कारण रहा। "विवर्त" में मोहिनी भी टूटी है और पति ने उसे बड़ी उदारता और सतर्कता से सँभाला है। तीनों उपन्यासों में नारी का बहिर्गमन तो है परन्तु पति की उदारता के कारण ही वह सम्भव हुआ है और पति ही अभिशप्त नारी की परम गति है। "व्यतीत" में भूमि थोड़ी बदली है। यहाँ नारी का पुरुष के प्रति सहज आकर्षण है। पहले प्रेम है फिर विवाह है और बीच में किसी भी ढंग की कोई क्रान्तिकारिता नहीं आई है। परन्तु प्रेमी जयन्त भावुक है कवि है, पलायनशील है। प्रयत्न करने पर भी अन्त तक अनिता उसे बन्धन में बाँध नहीं पाती। अन्त में पति की अनुमति से स्वयं अपने को देकर भी वह उसे समाजोपयोगी या सार्थक-जीवन बनाना चाहती है। जयन्त का आत्मभार उसके सतीत्व की रक्षा कर लेता है। परन्तु जयन्त टूटा हुआ है और अनिता

ने शायद "घर" लौटने में ही सुरक्षा मानी है।

यह "पति" महोदय जैनेन्द्र की अपनी सूझ है। उनकी उदाराशयता अपरिसीम है, और वह पत्नी के मार्ग में बाधक नहीं होते। वह उसे आग्रहपूर्वक बाहर लाते हैं (सुनीता) या आवश्यकता पड़ने पर, और पत्नी की रुचि देख कर, उसे बाहर जाने की छूट दे-देते हैं (सुखदा) या दाम्पत्य-जीवन के सुख विनोद के बीच में पूर्व प्रेमी के आ धमकने पर प्रताड़ित न हो पत्नी के उतने ही प्रेम से आश्वस्त हो जाते हैं जो उन्हें अप्रतिहत रूप से मिलता है। अन्त में प्रेमी की ओर से हताश हो पत्नी जब टूट कर लौटती है तो वह उसे अपनी ओर से सम्पूर्ण रूप से आश्वस्त कर देते हैं (विवर्त")। या पूर्व प्रेमी के प्रति पत्नी का आकर्षण बना देख कर उस प्रेमी के जीवन की व्यर्थता दूर करने में बड़ी सहानुभूति से पत्नी के सहायक बन जाते हैं और अन्त में पत्नी को यह छूट भी दे देते हैं कि वह सब कुछ देकर निष्फल प्रेमी के जीवन को सार्थक बनाये। ('व्यतीत) पति की यह उदारता क्रमश बढ़ती गई है और व्यतीत में उसकी पराकाष्ठा है। जैनेन्द्र आदर्शवादी हैं। फलत यह सम्भाव्य दाम्पत्य की झांकी है आज की व्यवस्था नहीं है। इसमें व्यावहारिक सार्थकता कितनी है यह सुधी पाठक जानें या मनोवैज्ञानिक। पत्नी के प्रति उदारता की दार्शनिकता से परिचालित होने के कारण "पति" का व्यक्तित्व सजीव नहीं हो सका है। उसमें उस अन्तद्वन्द्व की स्थिति नहीं है जो रवि और शरत् के पात्रों को महामहिम बनाती है। पत्नी के छूटने पर "पति" के भीतर कोई पीड़ा जाग्रत नहीं होती वह 'गृहदाह" के महिम की तरह पागल नहीं हो जाता या रवि बाबू के "घरे-बाहरे" के नायक की तरह आत्महत्या नहीं कर लेता। उसमें सिद्धान्त पुष्ट है, प्रयोग पूरा है परन्तु जीवन-तत्व पूरा नहीं है।

शरत् बाबू का कहना है कि नारी का जाग्रत मनुष्यत्व या नारीत्व 'महाप्राण" प्रेमी के जीवन की असफलता देख कर बोझिल हो उठता है। वह आत्मदान के लिए ललक उठती है। किरणमयी रमा और रमेश के उदाहरण से उन्होंने अपनी बात समझाई है। परन्तु यह महाप्राणत्व रमेश के प्राणों की ऊर्जस्विता है। वह कोई क्रान्तिकारी नहीं देश-नेता नहीं सामान्य जन है। परन्तु विचारों और भावनाओं में वह प्रगतिशील है और मर्यादाओं को ठुकराने का उसमें साहस है। इसे ही कदाचित् शरच्चन्द्र ने "महाप्राणता' माना है। इसमें शक नहीं कि शरच्चन्द्र ने अपने प्रेमी पात्रों को बड़ी शक्ति से उभारा है और उनके प्रति हमें सहज ही सहानुभूति हो जाती है। वह प्रारम्भ में चंचल विनोदी अप्रतिम साहसी उदाराशय भावुक और विद्रोही है। प्रेम उन्हें बदल देता है। वे भीतर के बोझ से दब जाते हैं। ममतामयी नारी प्रयत्न करने पर भी उन्हें उबार नहीं पाती। यह महाप्राणता' जैनेन्द्र के उपन्यासों में कहां है? क्या है जो हरिप्रसन्न लाल और जितेन को महाप्राण बनाता है? क्रान्तिकारिता (या इनके साथ हरिप्रसन्न के भीतर का कलाकार, यद्यपि सुनीता को इस कलाकार का परिचय अधिक

नहीं है पति से तो बहुत ही कम है। व्यक्ति का बल भर कर ही यह नारी को इसी का प्रयास है या महाप्राणता यह कहना कठिन है। सहज नैसर्गिक प्रेमार्पण पर आधारित शरच्चन्द्र की उपन्यास-कला में प्रतिष्ठित निराश प्रेमी इन उपन्यासों के समस्त भ्रमित नारियों से कहीं अधिक मार्मिक बन पड़ा है।

रह गई केन्द्रस्थित नारी। रवि शरत् और जैनेन्द्र तीनों में इसी की प्रमुख स्थिति है। यही सर्वोपरि है। लेखकों ने अपनी कला का सर्वश्रेष्ठ दान इसे ही दिया है। एकसी जीवन स्थिति प्राप्त होने पर भी ये नारियाँ परस्पर भिन्न हैं और उनमें समानता और विभिन्नता के अनेक तत्त्व हैं। यही प्रधान आकर्षण है। मूल रूप में ये बलिदानमयी भावनामयी प्रेममयी प्रेमिकाएँ हैं जो विवाह-बन्धन में बँधकर भी प्रेम के प्रबल आकर्षण को अस्वीकार नहीं कर पाती और इस दुर्बलता (या सार्थकता) के कारण अपना जीवन नष्ट कर लेती हैं। रवि बाबू और शरच्चन्द्र नारी-जीवन की इस द्वन्द्व स्थिति को स्वाभाविक मानकर चलते हैं और सिद्धान्त नहीं गढ़ते। जैनेन्द्र इसे नारी की अधमानिता मानते हैं और घर के प्रति उसके आसन्न विद्रोह को विकास का चिह्न समझते हैं। यह विद्रोह भाव भी उनके ग्रन्थों में क्रमशः आया है। सुनीता में दुरूह है 'सुखदा' में विस्फोट है और 'विवर्त' में वासना है।" 'व्यतीत' में इसे सहज रूप से लिया गया है। पति अकल्पित रूप से उदार हैं प्रारम्भ से ही अनिता के प्रेरणात्मक हैं कि किसी तरह बन्धन सार्थक बने इसी से इसमें नारी का घर के प्रति विद्रोह या नारी-स्वातन्त्र्य का नारा धीमा पड़ गया है। इस प्रकार जैनेन्द्र के उपन्यासों की नायिकाएँ 'आधुनिकाएँ' हैं। वे गृह प्राचीरों में बंदी होना अस्वीकार करती हैं या अपने दाम्पत्य जीवन से असंतुष्ट हैं। इसी बीच में नया या पुराना प्रेमी आ जाता है। और घर की ऊब से बचकर चलने के लिए वह उसे 'डूबते का सहारा' बना लेती है। परन्तु अन्त तक चलते रहना उनके लिए असम्भव है। जहाँ रवि बाबू पति के बलिदान से नारी के प्रत्यागमन के लिए मार्ग खोलते हैं वहाँ शरच्चन्द्र प्रेमी के बलिदान से दम्पति के पास आने की कल्पना करते हैं। प्रेमी मृत्यु द्वारा हटा लिया गया है परन्तु उसकी पुण्य स्मृति ने टूटे हुए दो हृदयों को जोड़ दिया है। जहाँ स्वयं नारी बलि की वेदी पर चढ़ गई है वहाँ पति और प्रेमी उसी की पुण्यस्मृति में बँधे हैं। जैनेन्द्र के उपन्यासों में इस त्रिकोण की क्या स्थिति है? 'सुनीता' में प्रेमी पलायन कर जाता है, इसलिए कि उसका प्रेम बाहरी तल का है और सुनीता जब निरावरण होकर यह सत्य उस पर प्रकट कर देती है तो वह इस सत्य की चकाचौंध को सह नहीं पाता। भाग जाता है। 'सुखदा' में लाल की भी यही स्थिति है। परन्तु यहाँ लाल सुखदा की ओर से क्यों हटा क्यों सुखदा के आग्रह करने पर भी उसे सम्पूर्णतः नहीं ले सका यह समझ में नहीं आता। हरिदा ने बल तोड़कर उसे निरस्त कर दिया है और कदाचित् हरिदा की आत्मबलि उसमें धिक्कार भर देती है। सुखदा के भीतर लाल के प्रति जिज्ञासा (या जिगुप्सा) अब भी बनी है और सम्भवतः

इसीलिए पति-पत्नी पास नहीं आ पाते। यही "पाप" है जिसके कारण सुनीता भयग्रस्त हो जाती है भीतर भीतर घुल कर मरण को प्राप्त करती है। 'विवर्त" में जितेन अपने मन की ग्रसना को समझ कर स्वयं अपने को लुटा देता है, यह समझ कर कि क्रान्ति या वर्जना य आत्म ग्रव बना है इसके मूल में मोहिनी के प्रति उसका मोह ही है। "व्यतीत" में भी प्रेमी (जयन्त) भाग जाता है। अनिता उसे भुलाना चाहती है कि तन में क्या कलुष है जो वह मांगता है और तन देने के लिए वह भाभी अनिता प्रस्तुत है। परन्तु जयन्त नारी का उन्माद नहीं चाहता तन अवांछनीय है मन उसे मिल नहीं सकता क्योंकि इतनी दूर आ कर भी अनिता पतिनिष्ठ है। पति की स्वीकृति से ही जैसे वह तन का दान लेकर आई है। इसी से यह "दान" जयन्त के लिए हेय है। वह उसे बलपूर्वक अस्वीकार कर देता है।

उदासीन पति पलायनशील प्रेमी। या कलाकार और क्रान्तिकारी बनने की आत्म प्रवंचना में ग्रस्त है और घर-बाहर सतीत्व-नारीत्व पति प्रेमी के बीच में झूलती हुई पतिनिष्ठ परन्तु नारी स्वातन्त्र्य का दम भर कर प्रेम के स्वच्छन्द पथ पर चलने का साहस करने वाली नारी के टूटने की कहानी ही इस उपन्यास-चतुष्टय में वर्णित है। वर्णित ही अधिक है चित्रित कम है। कला की रंगरेखाओं से नहीं ज्ञान और टैक्नीक की मुद्राओं से यह विभूषित है।

जैनेन्द्र की नारी भावना अधिक स्पष्ट रूप से हमें 'त्यागपत्र" और 'कल्याणी" में मिलती है। 'त्यागपत्र" में भूमि सामाजिक अधिक है यद्यपि लेखक ने उसे अबूझ दार्शनिकता से कुण्ठित कर दिया है। "कल्याणी" में भूमि व्यक्तिगत भी है और सामाजिक भी। दोनों में निष्फल प्रेम की पार्श्वभूमि है, "त्यागपत्र" में शीला का भाई और "कल्याणी" में प्रीमियर। पति अनुदार है। मृणाल का पति शीला के भाई की बात उसके मुँह से सुन कर उसे हण्टरों से मारता है और घर से निकाल देता है यह कह कर कि वह कुलटा है और कल्याणी के लिए पूर्व प्रेम की बात ही व्यर्थ है क्योंकि उसी के आधार पर डा० असरानी ने सौदा की अभेद्य दीवार खड़ी की और कल्याणी को प्राप्त किया। डा० असरानी की असुरक्षता की सीमा नहीं है कि वह कल्याणी के पूर्व प्रेम का भी व्यवसाय करना चाहता है और पति के नाते उसे इतनी भी छूट नहीं देना चाहता कि वह अपने पुलकित प्रसंगों के एक सुन्दर स्मृति को तो अक्षुण्ण रहने दे। बीच में है नारी जो भीतर-बाहर की बेड़ियों से पूरी तरह जकड़ी है और किंचित् मात्र भी विरोध नहीं कर पाती। विद्रोह भीतर फूटता है या नहीं फूटता कल्याणी में फूटता है, मृणाल में असहायता को ओढ़ कर शान्त रहता है। वास्तव में इन दोनों उपन्यासों को एक-दूसरे का पूरक कहा जा सकता है या नारी-जीवन के दो पहलू। सिक्का एक ही है मुद्रा भिन्न है। 'त्यागपत्र" की मृणाल अधिक शिक्षित नहीं है शायद स्वतन्त्र रूप से चलने में असमर्थ भी रहती। परन्तु कल्याणी सम्भ्रान्त है सुशिक्षित है डाक्टर है

झमेले में पड़ी है। परन्तु दोनों मूलतः प्राचीन आदर्शों की शृंखलाओं से बँधी हैं और पातिव्रत्य एवं सतीत्व की सूक्ष्मतम परिभाषाओं में डूब जाती हैं। मृणाल स्वीकृति लेकर चलती है सब कुछ ओढ़ लेती है पति के अत्याचार को भी पति का आदेश मान कर पतन के मार्ग की साधना ग्रहण कर लेती है। यह पतन ही उसके लिए आत्म-शुद्धि है। आत्म-पीड़न ही तप है। काया को दण्ड देना ही आत्मदर्शन है। तप के द्वारा ही वह कंचन बनना चाहती है। तन उसके लिए निर्मूल्य है। उसे वह यों ही दे देती है जैसे कुछ भी नहीं हो। परन्तु पता नहीं पति से किस सूक्ष्म सूत्र से जैनेन्द्र ने उसे बाँध रखा है। मृणाल सती है। प्रमोद को असमंजस हो परन्तु बुआ उपन्यासकार की नहीं है। सतीत्व का जो आदर्श मृणाल में चित्रित है वह आदर्श है। पतिनिष्ठा में सतीत्व सुरक्षित रखा गया है और घर से बाहर जाना भी पति के आदेश का पालन है। पति की इच्छा है कि पतन हो तो वही आदेश सिर-माथे। ये तर्क की चमत्कारी कड़ियाँ हैं जिनमें लेखक खो गया है। दूसरी ओर नारीत्व है? जिसके ले उसे नारी भरपूर क्यों नहीं दे? है वह अभावित ही और सबको अपनी सहानुभूति दे देना है धारणा है — और अपनी ओर से कुछ बदले में न दे सके तो तन ही दे डाले। यह तन जैसे एकान्ततः शून्य हो यह जैसे व्यर्थ पदार्थ हो।

"त्यागपत्र" और "कल्याणी" दोनों में परम्परागत सतीत्व भावना को विद्रूप बनाया गया है और नारीत्व की कल्याणमयता की स्थापना की गई है। इसी नारीत्व के द्वारा नारी को सामाजिकता प्राप्त हो सकती है। यदि सतीत्व उसे लौह शृंखला में बाँध कर व्यक्ति-विशेष से जकड़ देता है तो नारीत्व इस शृंखला का उन्मोचन करता है। उसी के द्वारा नारी की मुक्ति है। नारीत्व के विकास के लिए सतीत्व से स्खलन भी लेखक को सहनीय है। मृणाल क्यों पापिष्ठा नहीं है? क्यों उसके प्रति लेखक की सहानुभूति है? इसीलिए कि उसमें सहज नारी-धर्म (सेवा करुणा मातृत्व) का सम्पूर्ण विकास दर्शाया गया है और इस नारी-धर्म के पालन में वह अपनी सामाजिक मर्यादा को भी होम देती है। वह नीचे नीचे नीचे उतरती जाती है। अन्त में वह वहाँ पहुँच जाती है जहाँ समाज का नरक जीता है। उसी नरक को वह स्वीकार कर लेती है। प्रमोद जब उससे उद्धार की बात कहता है तो वह इन नारकीय कीड़ों को छोड़कर किसी भी स्वर्ग में जाना नहीं चाहती। यह लोकैषणा ही मृणाल का बल है। यह दूसरी बात है कि यह परिस्थितिजन्य है या आरोपित। उसकी महनीयता में कोई सन्देह नहीं है।

मृणाल में पति के प्रति समाज-संस्था के प्रति परम्परा के प्रति कहीं भी विद्रोह नहीं है। आलोचकों को यह बात खटकती है और उन्होंने जैनेन्द्र को अपरिवर्तनवादी कहा है। इसमें सन्देह नहीं कि मृणाल में समाज की स्वीकृति और मान्यता है अस्वीकृति और विद्रोह नहीं। इसीलिए मृणाल का तप स्निग्ध है शान्त है उसमें उत्ताप और तीव्रता नहीं है। उसमें नारी का विद्रोह भी प्रकट होता है तो वह और भी आकर्षक और सार्थक

बन सकती है। परन्तु जैनेन्द्र नारी जीवन के प्रयोगी हैं और उनके एक प्रयोग के रूप में ही हम मृणाल को ले सकते हैं। "कल्याणी" में विद्रोह भी है यद्यपि मुखर न होकर प्रशान्त और विवेकशील। वह कल्याणी के सम्भ्रान्त व्यक्तित्व और कुलीन संस्कारों के अनुरूप ही है। एक तरह से कल्याणी में भाव-शक्ति है। भावना में वह सनातन भारतीय नारी है जो पतिनिष्ठ है और उसे छोड़कर कुछ छोड़ ही नहीं सकती परन्तु बुद्धि में वह नवीना है जो सन्देह करती है और प्रश्न करती है जो स्वतन्त्र जीवन जीना चाहती है और नारी के लिए सतीत्व से भी बड़े नारी-धर्म की माँग करती है। धर्म कर्म और प्रेम को लेकर वह स्वतन्त्र रूप से चलना चाहती है परन्तु किसी भी रूप में पुरुष से छुटकारा नहीं मिलता। पुरुष यानी पति। भीतर से वह पति-भय की समर्थक है उसके संस्कार उसके साथ हैं परन्तु बाहर से वह विद्रोहिणी है। भीतर की बेड़ियों से जकड़े रहने का क्षोभ उसे अन्त में तोड़ देता है।

इस प्रकार इन दो कथा-कार्यों में लेखक केवल व्यक्तिगत प्रेम और विवाह के पक्ष को लेकर नहीं चला इनका सामाजिक पहलू भी उभारता है। जहाँ विवाह में सर्वनाश है और प्रेम में ही व्यक्तित्व की मुक्ति है ऐसी स्थिति कल्याणी और मृणाल के जीवन में बताई गई है। परन्तु परम्परानुमोदित मृणाल पति से तिरस्कृत रह कर भी "पत्नीत्व" या "सतीत्व" को धरोहर मान कर चलती है और समाज का दण्ड उसे भरपूर मिलता है। वह समाजबहिर्भूता है निर्वासिता है, समाज उसे स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं है। उसका स्थान चोरों-उचक्कों—समाजबहिर्भूतों के साथ है। यह भाग्य की विडम्बना है। परन्तु क्या यही सामाजिक न्याय की विडम्बना नहीं है? समाज की चुनौती को मृणाल स्वीकार नहीं करती। वह समाज के दण्ड को सिर-आँखों पर ओढ़ लेती है और अपने अभिशप्त जीवन को ऊपर से हँसती भीतर से रोती सेवा भाव और कारुण्य में बिताती है। कल्याणी का विद्रोह मुखर है परन्तु समाज की चुनौती या पति नाम के प्राणी का अत्याचार वह सम्पूर्ण रूप से स्वीकार कर लेती है इसे उसकी चारित्रिक दुर्बलता कहो या संस्कारजड़ित भावना। 'पैप प्रश्न' की तरह की तरह समाज की चुनौती को स्वीकार करने वाली कोई तेजस्वी पात्री जैनेन्द्र नहीं गढ़ सके हैं जो भविष्य की सम्भावनाओं की ओर इंगित करे और पद-दलित नारीत्व को तेजरूप दे। इसीलिए इन दोनों उपन्यासों में उन्हें नियतिवादी या नियतिवादी दर्शन का सहारा लेना पड़ा है क्योंकि जहाँ भीतर का तेज कुण्ठित है आत्मा की चुनौती नहीं है वहाँ परमात्मा प्रमुख है और अन्त में वही सब कुछ है। इस तरह समस्या सामने रखी गई है परन्तु स्थिति को यथातथ्य स्वीकार किया गया है और उसे ही यथार्थ माना गया है।

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि जैनेन्द्र के उपन्यास नारी भावना प्रधान हैं। नारी उनके केन्द्र में है। यह केन्द्र केवल चारित्रिकता का ही नहीं है समस्या और समाधान का भी है। कहने का तात्पर्य यह है कि आधुनिक उपन्यासकारों में जैनेन्द्र नारी-समस्याओं

के उभारने में सर्वप्रथम हैं। उन्होंने विधवा-विवाह। (परख) प्रेम और विवाह (जिसमें सभी ग्रन्थ और "व्यतीत" में घर और बाहर (सुनीता सुखदा और विवर्त) नारी का वस्तु स्वातंत्र्य और सतीत्व एवं नारीत्व के द्वन्द्व (त्यागपत्र और कल्याणी) जैसे सूक्ष्म विषयों को लिया है जो नारी-जीवन के मूलभूत प्रश्नों को लेकर सामने आते हैं। उनके समाधान वायवी हैं दार्शनिक हैं सम्भवतः व्यावहारिक नहीं हैं और हम सर्वत्र उनसे सहमत नहीं हो सकते परन्तु इसमें संदेह नहीं कि उनके लिए नारी राष्ट्र और समाज का मेरु-दण्ड है और उसकी मुक्ति राष्ट्रोन्मुक्ति का प्रतीक है। नारी की सर्वोन्मुक्ति के बिना इस देश में संस्कारी जीवन के अभ्युदय की कल्पना करना ही असंभव है। जैनेन्द्र का विचारक नारी-समस्या की ग्रन्थि खोलने में सर्वथा सफल नहीं होता परन्तु कट्टो सुनीता मृणाल कल्याणी सुखदा मोहिनी और अनिता के रूप में उन्होंने जो करुणा विगलित नारी-चरित्र निर्मित किये हैं वे सहज ही हमारे भीतर के प्रश्नचिह्नों को जगाते हैं और हम से पूछते हैं कि हमारे साथ ऐसा क्यों हुआ? क्यों हमारे जीवन की सार्थकता नहीं मिल सकी? इन प्रश्न-चिह्नों के उभारने में ही जैनेन्द्र की कला की सार्थकता है।

परन्तु प्रश्न उभार कर जैनेन्द्र समाधान की ओर इंगित नहीं करते। समाधान की ओर इंगित करना उपन्यासकार का काम है भी नहीं। वह हमारी संवेदना को झकझोर कर यदि उस प्रश्न की ओर हमारी सारी भाव-धारा प्रवाहित कर सकें तो वह बड़ा कार्य है। जैनेन्द्र से हमें यही शिकायत हो सकती है कि उन्होंने प्रश्नों को बौद्धिक तल पर ही उपस्थित किया है और उनमें निषेधता ही अधिक है। कुछ अस्पष्टता भी है। वह अपने पात्रों को औपन्यासिक जीवन नहीं दे सके हैं। उनमें चारित्रिकता नहीं है, कथारस नहीं है। विश्वचेतना (वर्ल्ड-आउटलुक) नहीं है जहाँ औपन्यासिक भूमि को विस्तृति देने के लिए दार्शनिकता लाई गई है, वहाँ वह रहस्योन्मुख और पलायनवादी है। वह कर्मण्यता को आगे नहीं बढ़ाते। मृत्यु की अन्धकारपूर्ण गोद में मृणाल कल्याणी और सुखदा को पहुँचा कर वह कदाचित् मनुष्य के प्रयत्नों की असारता और काल की दुर्दमनीयता का निरूपण करना चाहते हैं परन्तु यह मृत्यु की अनिवार्यता यदि हँसते-खेलते संघर्षशील जीवनमय कर्ममय व्यक्तियों के भीतर से आती तो उसे हम लांछित नहीं समझते। ये पात्र सब कुछ सहन कर लेते हैं परिस्थितियों से मोर्चा लेने की शक्ति इनमें नहीं है, ये टूटे-टूटे हैं। इनका पलायनवादी व्यक्तित्व हमारे सामाजिक जीवन का प्रतीक है या हमारे दुर्दमनीय सामाजिक अनाचार का चिह्न है यह कहना कठिन है। इनके जीर्ण-जर्जर कलेवर में भी यदि जैनेन्द्र की उज्ज्वलतापी भावना झलक जाती है तो इसका कुछ श्रेय जैनेन्द्र की भावात्मक कला को है और कुछ श्रेय आज की उस कायर लोक-दृष्टि को जो बराबर नारी को केन्द्र में रखकर देखती है।

पुरुष-स्त्री को जैनेन्द्र तल में जाकर केवल मात्र पुरुष-स्त्री के रूप में देखना चाहते हैं और उन दोनों के आकर्षण-विकर्षण सम्बन्ध को एक रहस्यमय अज्ञात योगायोग मानते हैं। इस योगायोग को ही उन्होंने अपने पात्रों में ढूँढ़ा है। वह कहते हैं, "नारी

संज्ञाओं विशेषणों और विविध सर्वनामों के सहारे जो मनुष्य-जाति अपना काम चलाती हुई आ रही है प्रथमतः वह द्विविध है—स्त्री और, पुरुष। कुटुम्ब-परिवार पीछे आते है नाते-रिश्ते नाम-गोत्र मत पथ वाद-सम्प्रदाय सब पीछे आते है। (सुनीता) पृ० १ ४) इस द्वैत को दो की तरह जैनेन्द्र ने भी दार्शनिकता में बाँधना चाहा है। पुरुष मांगता है स्त्री बाँटती है। पुरुष उद्धत है स्त्री विनीत और समर्पित है। संकुचित है। परन्तु विनीत और समर्पित होने पर ही स्त्री-पुरुष को विकास के मार्ग पर बढ़ाती है। वह पीठ है पुरुष आगे रहे। पुरुष पीठ की ओर भागना चाहे तो स्त्री सामने आ जाती है। सुनीता हरिप्रसन्न से बड़े गर्व से यह बात कहती है 'तुमसे पार होकर वह (पुरुष) नहीं जा सकेगा। स्त्री यह न सहेगी कि पुरुष उससे आगे मार्ग स्पष्ट न करता जाए। पुरुष इस दायित्व से भागना चाहेगा तो पीछे स्त्री ही गिरफ्तार होकर फिर उसे आगे चलना होगा। (वही पृ ९) जैनेन्द्र के सभी उपन्यासों में पुरुष-स्त्री सम्बन्धी यह द्वैत भावना उभरती है। पुरुष के परम पुरुषार्थ पर नारी मुग्ध है। परन्तु यह पुरुषार्थ नारी को ओट में करके चलना चाहे तो इसमें स्त्री की पराजय है। *इसी से नारी पुरुष के भीतर के नारीत्व को उकसाती है और उसे हिंसा के मार्ग से हटाकर* भीतर के दर्द से परिचित कराती है। यही 'दर्द' उसे आदमी बनाता है। यही स्त्री की सार्थकता है और उसकी विजय भी है।

प्रेमचन्द के साहित्य में नारी ने मातृत्व-पक्ष की विजय है। नारी ने बलिदान की महान् गाथाओं से उनका साहित्य भरा पड़ा है। जहाँ सामाजिक उत्पीड़न की कथा है जैसे "निर्मला" में वहाँ भी नारी का क्षमाशील कल्याणपरक व्यक्तित्व हमें आश्वस्त करता है। जैनेन्द्र नारी के प्रेयसी-पक्ष को लेकर चलते है। वह स्त्री-पुरुष को मूल में इसी रूप में देखते है। आंशिक समर्पण और आंशिक स्पर्धा से ही स्त्री-पुरुष का नाता चलता है। इस द्विविधा को ही जैनेन्द्र ने औपन्यासिक रूप दिया है। दोनों एक-दूसरे पर विजय पाना चाहते है किन्तु एक दूसरे के हाथों पराजय भी चाहता भी है। परस्पर होड़ और परस्पर उत्सर्ग होने की आकांक्षा ही प्रणयी जीवन की विडम्बना है। इन दोनों विरोधी भावों के बीच में नारी टूट जाती है और पुरुष भी क्या नहीं टूट पाता ? सच तो यह है कि नर-नारी की यह मूल द्वैत स्थिति बड़ी आकर्षक है और शरत्चन्द्र के उपन्यासों में ज्ञात-अज्ञात रूप से इसका बड़ा सुन्दर उपयोग हुआ है। जैनेन्द्र में मनोविज्ञान की उतनी और पकड़ नहीं है कदाचित् उनमें उतनी भावुकता भी नहीं है। परन्तु नारी जीवन को लेकर उन्होंने तलस्पर्शी अध्ययन किया है और वह नये जीवन के निर्माण के लिए नये सूत्र हमें देते है। प्रेमचन्द आदर्शवादी थे परन्तु व्यावहारिकता का पल्ला वह अन्त तक पकड़े रहे। जैनेन्द्र भी आदर्शवादी है परन्तु उनके समाधान अव्यावहारिक और दार्शनिक है। फिर भी उनमें कुछ ऐसा है जो हमें प्रभावित करता है और चिन्तन शील बनाता है। यही बहुत कुछ है।

१६

जैनेन्द्र और मनोविज्ञान

जैनेन्द्र के आलोचकों में से एक वर्ग ऐसा है जो उन्हें मनोविज्ञान और मनोविश्लेषण-शास्त्र की मान्यताओं द्वारा पकड़ना चाहता है और इन शास्त्रों की स्थापनाओं को उनके पात्रों और घटनाओं पर आरोपित कर स्वयं जैनेन्द्र के अवचेतन का उद्घाटन करना अपना लक्ष्य बनाता है। इसमें सन्देह नहीं कि जैनेन्द्र के उपन्यासों-कहानियों में ज्ञात-अज्ञात रूप से बहुत कुछ ऐसा है जो इन शास्त्रों से पुष्ट होता है या जिसे हम समानान्तर विकास के रूप में इन शास्त्रों में देखते हैं। परन्तु मनोविज्ञान के संदर्भ में जैनेन्द्र की रचनाओं पर विचार करते हुए हमें यह देखना है कि वास्तव में साहित्य और मनोविज्ञान का क्या सम्बन्ध है और स्वयं जैनेन्द्र को अपने साहित्य के मनोवैज्ञानिक पक्ष पर क्या कहना है।

ऊपर से देखने से ऐसा लगता है कि मनोविज्ञान मनोविश्लेषण और उपन्यास का कोई बैर नहीं होता। वास्तव में उपन्यास में मानव-मन के अतलस्पर्शी स्तरों को ही बराबर खोला गया है और मनोविज्ञान के जन्म से शताब्दियों पहले उपन्यासकार अवचेतन मन और उसके निरोधों की खोज कर चुके थे। स्वयं फ्रायड ने अपनी रचनाओं में इस सत्य को स्वीकार किया है। फ्रायड की महानता इसी में है कि उसने उपन्यासकारों की प्रतिभा पकड़ कर उसे शास्त्रीय भित्ति दी और उसे नियमों से अनुशासित कर 'विज्ञान' का शासन बनाया। उन्होंने यहाँ रोगी मन का गम्भीर और सूक्ष्म अध्ययन किया वहाँ उन्होंने पुरातन साहित्य के पृष्ठों और साहित्यकारों के मनस्तत्व की भी खोज की। फलतः मनोविज्ञान अथवा मनोविश्लेषण साहित्य के लिए कोई नई चीज नहीं। फिर भी यह सत्य है कि फ्रायड का मनोविज्ञान साहित्यकार को स्वस्थ और संकल्पी जीव न मान कर उसे द्विधाग्रस्त कुण्ठित अपमानित और रुग्ण-मनस् बताता है। और इस प्रकार साहित्य के अपनी निजी दृष्टिकोण में और मनोवैज्ञानीय दृष्टिकोण में अन्तर पड़ने लगता है। मनोविज्ञान और साहित्यकार के सम्बन्ध में विचार करते हुए एक आधुनिक लेखक ने स्थिति को इस प्रकार अंकित किया है। 'आधुनिक युग में यह बहुत आश्चर्यप्रद नहीं है कि मनोविश्लेषण का विज्ञान ही कलाकार के लिए सबसे अधिक लाभप्रद सिद्ध हो

सकता था उसे विकृत-मना ठहराता है। इस विज्ञान में बहुत-सा ऐसा है जो सर्जनप्राण कलाकार के अनुकूल पड़ सकता है। और जो उसके लिए शिक्षाप्रद और उत्प्रेरक होगा। लियोनेल ट्रिलिंग ने बतलाया है कि एक बार फ्रायड ने यह मान लिया था कि कवियों और दार्शनिकों ने ही अवचेतन का आविष्कार किया है। उसने कहा था " मैंने उस वैज्ञानिक पद्धति का पता लगाया जिससे अवचेतन का अध्ययन हो सकता है। फिर भी मित्र बनकर आने पर भी फ्रायड का कला के प्रति दृष्टिकोण उपेक्षा का है। अपने ही मार्ग से चलकर वह बेकन के तीन शताब्दियों पहले के इस निष्कर्ष तक पहुँचा है कि 'कला' पर्याय-तुष्टि है वह वास्तविकता नहीं आया है।" कलाकार के लिए यह आवश्यक है कि वह अवचेतन को फ्रायडीय विज्ञान की संकीर्णताओं से विमुक्त करके देखे और उसकी उपलब्धि से प्राप्त शक्ति को साहित्य की थाती बनाये।" (लिटरेचर एण्ड साइंस बी आइफर ईवान्स पृ० १०१–७) इस प्रकार की विचारधारा हमें राबर्ट लिडेल में मिलती है जिनका कहना है कि 'एक सामान्य भ्रान्ति यह बात पड़ती है कि लेखक-गण नहीं जानते कि वे क्या कर रहे हैं और मनोवैज्ञानिक अथवा मनोविश्लेषक उनसे अधिक जानते हैं। मनोविश्लेषणात्मक समीक्षा के विरुद्ध एक बाधा यह है कि उसमें लेखक की लिपिबद्ध विचारधारा की ही परीक्षा की जा सकती है परन्तु उसे सर्वाङ्गी होने के लिए लेखक को मौखिक परीक्षा के लिए भी बुलाना होगा। जीवित लेखकों तक हमारी पहुँच असम्भव है और ऐसी आशा नहीं है कि जीवित लेखक इस प्रकार की हठवादिता को सहनीय मान लेंगे। फिर यह भी सम्भव है कि लेखक ने अपनी रचना में अपने सारे ही अनुभव-क्षेत्र का उपयोग नहीं किया हो। ऐसी स्थिति में यदि मनोविश्लेषक केवल लिखित रचना तक सीमित रहेगा तो उसकी सामग्री अधूरी और अपर्याप्त रहेगी। (आर० लिडेल ए ट्रीटाइज ऑन द नाविल पृ २१) यह स्पष्ट है कि मनोविज्ञान की अपनी सीमाएँ हैं और साहित्य मनोविज्ञान पर आधारित होकर अपने को छोटा बनाता है। साहित्य संपूर्ण जीवन और उसकी सारी बुरी भली संभावनाओं का लेखा है। वह मनोविज्ञान और मनोविश्लेषण शास्त्र के पृष्ठों पर ही समाप्त नहीं हो जाता। जिस लेखक की जीवनानुभूति जितनी अधिक है उतनी ही जीवन में उसकी अंतर्दृष्टि गहरी है और वह गहरा जाता है। उसके लिए यह आवश्यक नहीं है कि वह बँधे-बँधाये सूत्रों को लेकर चले। जैनेन्द्र के साहित्य में हमें उनका जीवनगत चिन्तन मिलता है और मनोविज्ञान-संबंधी पुस्तकीय ज्ञान भी यद्यपि वह स्पष्ट कहते हैं कि प्रारंभिक कुछ वर्षों तक वह फ्रायड से परिचित नहीं थे। परन्तु त्यागपत्र और "कल्याणी" में यह परिचय स्पष्ट है। "कल्याणी" को मनोविश्लेषणात्मक अध्ययन ही बना दिया गया है और मनोविश्लेषण की पद्धति ही लेखक ने ग्रहण की है। इसीलिए यह रचना जीवन के सहज प्रवाह से हीन है। उसमें गाँठें हैं जो खुलती नहीं क्योंकि कुंजी जीवन के पास नहीं मनोविज्ञान के पास है या स्वयं लेखक ने बीच की कड़ियों को तोड़ कर सब कुछ अबूझ बना दिया है। वास्तव में उपन्यास से हम "जीवन

और जीवन की माँग करते हैं, चाहे वह वस्तुगत हो या मूलगत। वह मूलगत जीवन निरपेक्षो और वर्जनाओं को भी ले सकता है परन्तु मात्र उन्हीं पर अवलंबित नहीं हो सकता।

जैनेन्द्र की रचनाओं में मनोविज्ञान की क्या स्थिति है इस पर हमें विचार करना है। प्रारंभिक रचनाओं में भले ही हमें कोई सूत्र नहीं मिले परन्तु परवर्ती रचनाओं में ऐसे अनेक सूत्र मिल जाते हैं जिनसे उनकी मनोविज्ञान-निष्ठा प्रकट है। उदाहरण के लिये 'कल्याणी' में वह डॉक्टर के चरित्रों के सूनेपन की व्याख्या करते हुए कहते हैं, 'डॉक्टर कुछ नहीं मानता दीखता इसीलिए शैतान का ही असावधान वह है पर उसी की वजह से वह बेहद भूखा भी है। गाँठ उसमें नहीं है। मन के विज्ञान वालों ने जिसका नाम रक्खा है काम्प्लेक्स वह चीज डॉक्टर में कुछ काम करती भी है तो ऊपर धुन रहती है। कहीं पुतली की मानिन्द भंवर असल बनाती हुई वह नहीं रहती। (पृ १८) इसी तरह एक दूसरे स्थान पर कल्याणी अपने सौन्दर्य का उपभोग करने की बात उठाती है और एक करोड़पति बनाने के उपक्रम की बात कहती है 'सुनिए, एक करोड़पति की दुकान मेरे इलाज में है। बाप की नहीं कहती पुत्र की कहती हूँ। जवान उम्र है, पढ़े-लिखे हैं, समझदार हैं, सुन्दर हैं, स्वस्थ हैं। शौकीन भी हैं। शौक के सहारे उनके दिन कटते हैं, पर पक्के अभी नहीं हैं और दिल के हरे और उदार हैं। सुन्दर के रूप में सत्य के वह दीवाने हैं यद्यपि वह यह नहीं मानते। पढ़ते हैं, लिखते हैं और सोच में रहकर सोच की व्यर्थता भी जानने लगे हैं। सौन्दर्य पर भी उनका मन गया है पर हाथ बढ़ा कर उस पर मुट्ठी बाँधी है कि वह अंदर से पोली ही झुकती है भीतर पकड़ में कुछ नहीं आता है। फिर भी वह तो है ही जो उनमें कामना जगाता है। वही सौन्दर्य। अतः सुन्दर ही उनका सत्य है। मैं सुन्दर हूँ। लेकिन वह मेरा आदर करते हैं। सदा अपनी गाड़ी में मुझे ले जाते हैं और आदर करते हुए बराबर की सीट पर बिठाते हैं। यही युवक की भावना को समझ मैं नहीं समझूँगी। वह सदा पवित्र है। उसमें स्वप्न मिला होगा है। काम्य होकर वह निष्काम भी होती है। और वह मुझे 'दीदी' कहते हैं। बड़े संभ्रम और सम्मान से मुझसे व्यवहार करते हैं। पत्नी के कारण उनका अभिलाष मुझसे अप्रकट नहीं है। वह युवक मुझे प्रिय है। सरल है, कुण्ठा और वक्रता उनमें नहीं है। उनके हाथ में दो-चार हजार की क्या कुछ गिनती है। वह मुझे बहुत कहते और बहुत मानते हैं। प्यार को मैं नहीं जानती। हो सकता है गहराई में सब कहीं एक ही चीज हो। गहराई मैं नहीं जानती। पर सोचती हूँ कि क्या हर्ज है कि उनसे कह कर देखूँ कि लाइए एक अच्छे काम के लिए मुझे पाँच हजार दे डालिए। शायद उनका संभ्रम यह सुनकर काफूर हो जाय। शायद सुनकर चुप हो कि उनको मेरी कीमत मालूम हो गई। शायद किसी भाषा में मेरी बात वह पूरी भी कर डालें पर फिर भी मैं क्यों न कह देखूँ कि वह शुद्ध आदर्श नहीं जो उन्हें मेरी

ओर जाता है। समझ की बातें सतह की बातें हैं पर मैं यह सब क्यों सोचूं? रुपया मिल सकता है तो क्यों न ले लूं।" (वही पृ० ११८-९) यह संपूर्ण अवतरण केस-हिस्ट्री सा जान पड़ता है। फ्रायड को पीछे छोड़ दिया गया है, परन्तु फ्रायड का प्रभाव स्पष्ट है। कल्याणी" के ठेकेदारों वाले 'हैल्युसिनेशन' प्रसंग में हमें युंग की यह विचारधारा भी मिल जाती है जो मनुष्य को जातीय अंतश्चेतन या सामूहिक चेतना से ग्रस्त मानती है, जिससे विस्फोट का जन्म होता है। वास्तव में इस प्रसंग ने कल्याणी के चरित्र को धूमिल ही किया है। पति के प्रति अपने विद्रोह को चरितार्थ करने के लिए उसकी अंतर्वर्तिनी सत्ता ने हत्याहत युवती और उसके हत्यारे पति की कल्पना कर ली है और उसमें पति के प्रति अपने अवरुद्ध आक्रोश, को रूपान्तरित कर लिया है। कल्याणी जैसे अतिसंवेदित अतिभावुक चरित्र में यह आरोप उतना अस्वाभाविक नहीं लगता परन्तु आरोप तो आरोप ही है। वह काल्पनिकता वास्तविकता को नहीं छू सकता। कल्याणी के मृत्यु के प्रति आकर्षण को भी यम की मान्यताओं (डैथ इंस्टिंक्ट) में ढूंढा जा सकता है।

कल्याणी के "हेल्युसिनेशन (मनःविभ्रम) के समानान्तर एक प्रसंग हमें हेनरी जेम्स के उपन्यास 'द टर्न आफ द स्क्रू' में मिलता है। एडमण्ड विल्सन ने अपनी पुस्तक 'द ट्रिपिल थिंकर' में इस प्रसंग का विस्तारपूर्वक विवेचन किया है। लिडेल ने अपनी रचना "ए ट्रीटाइज़ आन द नावेल" के ११८ १४२ पृष्ठों पर इस विवेचना का सारांश दिया है। स्वयं हेनरी जेम्स के अनुसार इस प्रसंग के बीज उन्हें एक वार्ता से प्राप्त हुए परन्तु कथा में उनकी ओर से जो वृद्धि हुई है वह या तो उनके अवचेतन से सम्बन्धित की जा सकती है, या किसी साहित्यिक रचना से। आलोचकों ने जेन आइर के एक उपन्यास "अडाल्फो" से उसे सम्बन्धित किया है। अन्त में लिडेल इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि "टर्न आफ द स्क्रू" की मूर्तिमत्ता असंदिग्ध रूप से लेखक के अवचेतन से आई है जो स्वयं उनकी बौद्धिक समझ से परिचित नहीं है। इस निष्कर्ष से हमें भयभीत नहीं होना चाहिए हमें यह समझना चाहिए कि लेखक का चेतन मन उस समय अपने अवचेतन पर किस प्रकार विजय प्राप्त कर रहा था। वह एक मूलतः गन्दी चीज को कला की चीज बना रहा था और इस प्रक्रिया में उसने उस प्रसंग को बड़े उत्साह से और अपूर्व सामंजस्य से भरा रूप दिया। यदि अवचेतन मन के कुछ अर्थहीन तत्त्व इस मूर्तिमत्ता में गुम्फित हो गये हैं, और उन्होंने छल और प्रताड़ना के वातावरण को और भी गहन बना दिया है तो यह दूसरा उदाहरण है जिससे यह सिद्ध होता है कि जब उपन्यास एक सुन्दर कृति उपस्थित करता है तो सभी वस्तुएं उस कृति की श्रेष्ठता में सहायक हो जाती हैं। यदि हम ग्रन्थ की प्रतीक-योजना से परिचित हो जाते हैं और उसके प्रभाव में नहीं आते तो इससे हमारी उस कृति सम्बन्धी रसानुभूति तीव्र ही होती है।" (लिडेल ए ट्रीटाइज़ आन द नावेल पृ० १४४-५)

इसमें संदेह नहीं कि सर्जनात्मक कृतियों में लेखक के चेतन मन की उपलब्धि, उसके अनुभव अध्ययन और अनुभूति के साथ मन की अवचेतन ग्रन्थियों का भी महत्त्वपूर्ण योग रहता है जो नये मूल्यों का निर्माण करता है, परन्तु केवल अवचेतन के ही आधार पर श्रेष्ठ कृतियों की कल्पना असम्भव है। कल्याणी के मन-भ्रम में हम लेखक के मन की विकृति ढूंढकर उसके शास्त्रीय अध्ययन की भी कल्पना कर सकते हैं। जहाँ वास्तव और सम्भाव्य को एक साथ लेकर चला गया है वहाँ लेखक की सम्भाव्य-कल्पना उसके मन के आदर्श-चित्र से प्रभावित हो या अवचेतनीय वर्जनाओं का विस्फोट है यह कहना कुछ कठिन हो जाता है, क्योंकि वर्जनाएं ही मनःकल्प बन जाती हैं और स्वप्न-सत्य में दोनों दिशाओं में आदान प्रदान होता रहता है। जो हो यह स्पष्ट है कि जैनेन्द्र के साहित्य में अनेक स्थल ऐसे हैं जिनमें उन्होंने औपन्यासिक सूत्रों (घटनाओं और चरित्रों के कारण कार्य शृंखलाबद्ध विकास) को छोड़कर विशुद्ध मनोवैज्ञानिक या मनोविश्लेषणीय सूत्र उभारे हैं अथवा अमूर्त भाव-विस्फोटों को रख दिया है। मनुष्य के भीतर के दुर्दान्त सतत आन्दोलित दीर्घसूत्री एवं लघुसूत्री भावविकल्प को उन्होंने अपनी समर्थ लेखनी से भाषा और व्याकरण की निर्धारित मान्यताओं से बाहर जाकर, पकड़ना चाहा है। दुर्बोधता ही जहाँ लक्ष्य है वहाँ यह कैसे कहा जा सकता है कि वह एकदम असफल हो गये हैं। उन्होंने सुनिश्चित सामाजिक मनुष्य न देकर अन्तर्मन में समाविष्ट व्यक्ति पर मनुष्य हमें दिया है जो स्वयं उनके अवचेतनीय नरत्व-नारीत्व की प्रतिच्छाया है।

"परखभूमि" और "परख" में जैनेन्द्र बहुत कुछ परम्परागत उपन्यास ही हमें देते हैं। उनमें अभिव्यंजना की नई कला चाहे हमें मिले परन्तु चारित्रिकता पुराने ढंग की है मानो पात्रों के चरित्र अभूत नहीं हैं, उनके कार्य-व्यापार कार्य-कारण शृंखला पर चलते हैं और वे कोई भी ऐसी आकस्मिक बात नहीं करते जो असमर्थ हो मनोनिष्ठ न हो या अवचेतनगत हो। उनमें चेतन मन का (चाहे वह फिर अति-आदर्शवाद से ही ग्रसित क्यों न हो) विकास है। कट्टो की विहारी में क्या दीखा कि वह उससे इतनी बड़ी मांग कर सकी कि वह अविवाहित रह कर "वैधव्य-व्रत" में उससे बंध जाय यह हम नहीं जानते परन्तु इस एक सूत्र को छोड़ दें जो आकस्मिक है तो कट्टो का सब कुछ निखरा हुआ सामने है।

"सुनीता" में हम पहली बार जैनेन्द्र के मनोविश्लेषणिक प्रयोगों को देखते हैं। हो सकता है जान-बूझ कर प्रयोगों में उतरने का प्रयत्न उनका नहीं हो परन्तु पति श्रीकान्त की स्वीकृति और हरिप्रसन्न के प्रति उसके आकर्षण में कुछ अस्पष्ट एवं रहस्य अवश्य है जो पाठक की ओर इंगित करता है, या जो "केस-हिस्ट्री" बन जाता है। दाम्पत्य जीवन में व्याप्त निरानन्द को दूर करने की योजना (तीसरे आदमी को लाकर) स्पष्ट ही मनोवैज्ञानिक सूझ है जो जैनेन्द्र की मौलिकता तो है ही मनोविज्ञान की नई उपलब्धियों से भी पुष्ट है। सुनीता के चरित्र में जहाँ चेतन मन नारी की स्वाधीनता की मांग करता है,

वहाँ अवचेतन मन हरिप्रसन्न की ओर आप ही खिंच जाता है। सुनीता को निरावरण करके उसे अन्त में लेखक ने बचा लिया है परन्तु यह निरावरण मनोवैज्ञानिक नहीं दार्शनिक ही अधिक है परन्तु पुस्तक के अन्त में सुनीता को पति के प्रेम की सम्पूर्ण उपलब्धि हुई है और निरानन्द हट गया है। यह स्पष्ट है कि सुनीता में जैनेन्द्र मुक्त मनोवैज्ञानिक स्थिति को लेकर नहीं चले हैं वह रवीन्द्र के साथ हैं और अपनी सूझ-बूझ भी उनमें है। मध्यवित्तीय जीवन के चित्रण में वह पूर्णतया सफल हैं और एक प्रकार से अपृक्त रहने पर भी मांसलता और औपन्यासिकता इस रचना में सब ही रचनाओं से अधिक है। इसमें हमें एक नई सूक्ष्म संवेदना (सेन्सिबिलिटी) मिलती है जो प्रेमचन्द के उपन्यासों में नहीं है और बाद की भी कम रचनाओं में है। मन के विरोध संकोच और प्रसार का बड़ा व्यापक चित्र हमें यहाँ मिल जाता है। सर्वदर्शी लेखक के दृष्टिकोण को लेकर लेखक अपने पात्रों के अन्तर्जगत् में सफलतापूर्वक उतर सका है।

परन्तु 'त्यागपत्र' और उसके बाद "कल्याणी" में मनोविज्ञान जीवन पर आधारित न होकर स्वतंत्र हो गया है जो घटनाओं और पात्रों को असंगत अयथार्थ और अबूझ बना देता है। त्यागपत्र की मृणाल को लेखक ने आदर्श के हिमशिखर पर पहुँचा दिया है और निरन्तर पतन में ही उसके "व्यक्तित्व" के नाश का नाता जोड़ा है। अहं का सर्वनाश ही तो मुक्ति है परन्तु मृणाल का समस्त जीवन अपने प्रति पलायन का जीवन है और उसके मानसिक स्वास्थ्य पर हमें सन्देह हो सकता है। प्रमोद के साथ उसका सम्बन्ध तो मनोविज्ञान की दृष्टि से विचारणीय है ही उसके मार खा कर प्रसन्न होने में भी आत्मपीड़न की मनोवैज्ञानिक प्रवृत्ति ही है जो दमित काम का ही प्रकार है। "त्यागपत्र" में प्रमोद के मन में जिस हीनता का विस्फोट दिखलाया गया है वह क्या केवल नैतिक है क्या उसमें बुआ के प्रति अवरुद्ध एवं अवैध रतिभाव तो नहीं है? "कल्याणी" में सिद्धान्त और मनोवैज्ञानिकता ही ऊपर है कथा वस्तु चरित्र सब उसके सहारे चलते हैं। सबसे बड़ा प्रश्नचिह्न कल्याणी ही है। कई दृष्टिकोणों को कल्याणी के चरित्र पर केन्द्रित करके भी लेखक उसे सुलझा नहीं सका है। यहाँ भी मृणाल की तरह नारी में आत्मपीड़न की लिप्सा वर्णित है। पति की मार से खाया हुआ घाव ही आधार कल्याणी को रहा है। ईसा धर्म डाक्टरी बालविनोद सब में वह अपने को भुलाना चाहती है परन्तु अन्त में ये सब उसे बचा नहीं पाते। इस उपन्यास में देवमालीकर के प्रसंग में जो कल्याणी का मन-भय पाया है उसे क्या हम वास्तविकता मानें कि वह सचमुच प्रेम-जन्य उभार है या हम कल्याणी के पति से बदला लेने की भावना का रूपान्तर समझें। पति उससे विरक्त हो सकता है ईर्ष्या का बदला लेने की चाह इस दमित आकांक्षा के भुलाने के लिए जो वह मानस् का प्रक्षेप (प्रोजेक्शन) मात्र हो या स्वयं प्रेत-स्त्री में उसने अपने व्यक्तित्व को आरोपित कर लिया हो और देवमालीकर का पुरुष प्रतीक के रूप में लिया हो। ऐसी स्थिति मनोवैज्ञानिक होते हुए भी औपन्यासिक नहीं कही जा सकती। एक यह

हुआ है कि "कल्याणी" पाठकों और समीक्षकों को आश्वस्त नहीं कर सकी है और वह रहस्यमयी बन गई है। क्यों वह रहस्यमयी बन गई है? इसलिए कि उसमें हमें विकृत मनोस्थिति से पाला पड़ता है और अस्पष्टतः वह स्थिति विकृत या दमित काम की उपज है, या पति के प्रति ईर्ष्याजन्य है। परन्तु इस प्रकार की रचनाओं में हम लेखक की पूर्ण सफलता ही नहीं उसकी सफलता भी देख सकते हैं। फिर भी कल्याणी का यह व्यवहार सर्वथा हृदयहीन नहीं है। उससे उसकी मनोस्थिति पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। इसका मूल अव चेतन में है यह स्पष्ट है, क्योंकि इन्हीं दिनों वह स्वस्थ और सतर्क रह कर अपने क्रांति कारी मित्र पात्र की रक्षा करती है और पुलिस के प्रयत्नों को विफल बनाती है। "कल्याणी" के चरित्र का अनुलझन इसीलिए है कि लेखक अपनी ओर से कुछ देना नहीं चाहता केवल सम्भावनाओं को उभारता है और जीवन को अतर्क्य और अनिर्दिष्ट बना कर चलता है।

परवर्ती तीनों उपन्यासों में जैनेन्द्र "कल्याणी" की तरह अबूझ नहीं हैं। "त्याग पत्र" या "कल्याणी" में मनोवैज्ञानिक सूत्रों का जैसा व्यापक आधार है वैसा इनमें नहीं है। इसी से ये रचनाएँ न उतनी रहस्यमयी हैं न अबूझ। कम-से-कम "सुखदा" और "विवर्त" को हम "घरे-बाहरे" और "चतुरंग" की भूमि पर रख कर देख सकते हैं और पति-पत्नी के अधिकारों एवं हिंसा अहिंसा के प्रश्नों के समाधान के कारण सूक्ष्म और अकल्पित विस्तार मन मस्तिष्क से नहीं पा लिया है। विचक्षण मावविस्फोट जैनेन्द्र के पात्रों का प्रमुख अस्त्र है जिसके द्वारा वे हमें चमत्कृत कर देते हैं परन्तु इसके मूल में उनका मानस-चालन है या प्रेमचन्द का पूर्वाभास है इस मनोवैज्ञानिक भूमि पर उन्हें उत कना कठिन है। जो हो यह मनोविज्ञान पुस्तक से नहीं परिकल्पित होने पर भी जीवन से आया है। इसी से ये रचनाएँ हमें आश्वस्त करती हैं। इनमें जैनेन्द्र एक बार फिर उप-न्यास के पुराने उपकरणों (कथा-वस्तु चरित्र-चित्रण) की ओर लौटे हैं और अभिव्यंजना नई और सूक्ष्म होने पर भी हमें एकदम निरस्त नहीं कर देती।

परन्तु "व्यतीत" में नारी की पुरुष-प्रिया बनने की दुर्दमनीय आकांक्षा को उभारा गया है और उसका वही-वाला आवेग रूप सामने आया है। अन्तिम पृष्ठों में अनिता का भावविस्फोट और जयन्त का उसके प्रति प्रत्याहार-भाव आत्म-विस्मय का चाहे जो रूप हो परन्तु उसकी स्थिति भी गुणीता की निराधारता से कम निरंकुश नहीं है। कला की दृष्टि से इस रचना में जैनेन्द्र का सूक्ष्म वक्तव्य और शिल्पगत संयम दृष्टव्य है परन्तु सिद्धान्त वादिता या अति आदर्शवाद के कारण उनकी जैसे मूल चरित्र भी रहस्यमय हो गये हैं। जैनेन्द्र मूलतः आदर्शवादी और नैतिक लेखक हैं। यथार्थ और अनैतिकता का छद्म वेष धारण कर उन्होंने आधुनिक बनने का प्रयत्न किया है। उनकी अति-अद्भुत अभिव्यंजना के कारण यह भ्रम और भी दृढ़ हो जाता है परन्तु तह में देखने से इस सम्बन्ध में भ्रान्ति होने की कोई भी सम्भावना नहीं। परवर्ती रचनाओं में वह मनोविज्ञान की परिपार्श्व में

ो रखकर चले हैं। यह उनकी रचनाओं के साहित्य-रस के लिए अच्छा ही हुआ है। उपन्यासकार का उपजीव्य जीवन का समग्ररूपी वैविध्य है; मनोविज्ञान और मनोविश्ले षण के शास्त्रों की कोठें नहीं। यही स्वस्थ विधा है। सम्भवतः जैनेन्द्र ने इस सत्य को खूब समझ लिया है।

जैनेन्द्र की रचनाओं को देखने की एक दृष्टि यह भी हो सकती है कि हम उनके पात्रों और मोक्षित घटनाओं में उन्हें देखने की चेष्टा करें। स्वयं जैनेन्द्र ने कुछ इस ओर इंगित किया है,—कि "परख" की कट्टो कोई है, सत्य वह स्वयं है और बिहारी उनका अपना सम्भाव्य रूप है। क्या "सुनीता", "कल्याणी" और अन्य रचनाओं के सम्बन्ध में भी ऐसा कहा जा सकेगा? हरिप्रसन्न लाल और जितेन भी क्या सम्भाव्य जैनेन्द्र नहीं हैं? क्योंकि जैसा जैनेन्द्र के कुछ लेखों से स्पष्ट है वह अपने क्रान्तिकारी मित्रों के प्रति आक र्षित रहे हैं और क्रान्तिकारी जीवन के प्रति उनकी वितृष्णा है —जिसका प्रथम विस्फोट "फाँसी" है। यह सम्भाव्य रूप हिंसक होने के कारण विफल हुआ है और अहिंसक जैन दर्शन (वास्तविक जैनेन्द्र) की जय हुई है। "त्यागपत्र" में क्या अतीत प्रभाव के रूप में जैनेन्द्र अपनी किसी बाल्य-स्मृति को उभार रहे हैं एक विधवा बुआ का उल्लेख उन्होंने किया है। "कल्याणी" में वह तटस्थ द्रष्टा हैं शायद वकील बनना है कहानी बाहर की है। "व्यतीत" में वह कहाँ हैं यह कहना कठिन है। क्या जयंत के रूप में उनका कोई वितृष्ण मनःकरण है या कथा के केन्द्र में किसी मित्र को रखकर जैनेन्द्र जयंत के जीवन की अनुपलब्धि-भाव में स्वयं हैं? यह कहना सम्भव नहीं है कि जैनेन्द्र के उपन्यासों में "आप-बीती" कितनी है और "जग-बीती" कितनी है। सम्भवतः दोनों हैं पर आप-बीती थोड़ी है या अपने पर बीत सकनी थी उसकी कल्पना अधिक है —और जग-बीती भी बहुत है। कभी यह जग-बीती स्वतन्त्र रूप से आई है, कभी लेखक ने स्वयं उसे अपने पर घटित कर लिया है। सम्भव है कुछ प्रसंग और पात्र पराये हों या वे उनके लिए अन्य लेखकों के ऋणी हों क्योंकि लेखक की जाग्रत चेतना जग-बीती और परायी सामग्री को भी अपना बना सकती है। परन्तु इसमें गहरे जाना सम्भव नहीं है और इससे कुछ हाथ आता नहीं दीखता।

यह कहा गया है कि जैनेन्द्र में काम-कुण्ठा है या आत्मरति है परन्तु जैनेन्द्र यदि कहते हैं कि उन्होंने अतिरिक्त काम को रचनाओं में उभार कर स्वास्थ्य-लाभ किया है तो उन्हें दोषी कैसे माना जा सकता है? सुनीता की निरावरणता और अनिता की निर्लज्जता में क्या लेखक भाव-तृप्ति पा रहा है? यह एकाएक रूप से कहना कठिन है। काम कहाँ नहीं है? सभी में तो है। कामोन्मेषन भी हो सकता है और कामासक्ति भी। हमें देखना है कि अन्त में लेखक ने काम से क्या माना है —विरक्ति ही न? फिर उस पर काम को आश्रय देने की तोहमत कैसे लगाई जा सकती है? पात्रों में काम-कुण्ठा है तो क्या उसे अनिवार्य रूप से लेखक में ढूँढना ठीक होगा? सम्भव है "काम" की विकृतता

के लिए ही यह हो। अतः व्यक्तिगत भूमि पर इन प्रश्नों को उठाना बात का बतं ना भर है। यह सम्भव है कि लेखक अपने अनुभवों, आकांक्षाओं और मन ों को अनिवार्यतः अपनी रचनाओं में गूँथ देता है, गूँथ क्या देता, वे स्वयं ही अल-क्षित रूप से आ जाते हैं परन्तु यह भी सम्भव है कि लेखक की जीवनानुभूति का एक बड़ा अंश बाहर रह गया हो अथवा उसने दूसरों की अनुभूतियों का सहारा लिया हो। प्रत्येक पात्र की चारित्रिक दुर्बलता के लिए उसे अपराधी नहीं ठहराया जा सकता।

२

जैनेन्द्र के अपने जीवन के कुछ उल्लेख उनके मनोविज्ञान को समझने के लिए महत्वपूर्ण हैं। उन्होंने अपने जीवन-विकास की चर्चा करते हुए ज्ञात-अज्ञात रूप से कई सूत्र छोड़े हैं और उन्हें हम उनके साहित्य से सम्बन्धित कर सकते हैं।

जैनेन्द्र के व्यक्तित्व पर जिन दो सम्बन्धियों की अमिट छाप दिखाई पड़ती है वे उनकी माँ और मामा महात्मा भगवानदीन हैं। पिता के देहान्त के समय वह अबोध थे कदाचित् दो वर्ष के थे। फलस्वरूप माँ में ही उन्होंने बराबर आश्रय ढूँढ़ा है और अपनी ओर से निःसहायता का अनुभव किया है। एक प्रकार का अकिंचन निरालम्बी या अ-केन्द्रित भाव उनकी जीवनदृष्टि में मिलता है जिसका मूल मनोवैज्ञानिक कारण बचपन की इसी निरावलम्बता में ढूँढ़ा जा सकता है। माँ में उन्होंने कर्मण्यता और साहस का चरमोत्कर्ष देखा, परन्तु बड़े होने पर समाज की उनके प्रति उपेक्षा और पुरुषों के विरोध से उनका नारी-सम्बन्धी दृष्टिकोण दृढ़ हुआ। "त्यागपत्र" और "कल्याणी" में मृणाल और कल्याणी के रूप में जैनेन्द्र ने अपनी माता की चारित्रिकता ही उभारी है। ये नारियाँ समाज की लाञ्छना को ओढ़कर भी कर्तव्य-पथ से विचलित नहीं होतीं और अपने स्वतन्त्र जीवन के अधिकार की रक्षा के लिए बराबर चुनौती की तलवार बनी रहती हैं। जैनेन्द्र की माता की दृढ़ता भी इन नारियों को मिली है। अपनी माता के सम्बन्ध में "माता जी" शीर्षक लेख में जैनेन्द्र ने जो कहा है उसे हम इन नारी-पात्रियों पर भी लागू कर सकते हैं। वह कहते हैं "उनके प्रति विस्मय और श्रद्धा बरसती ही गई है तो दूसरी ओर गहरा अवसाद भी मेरे मन में बैठ गया है। जगत् के प्रति घोर उपेक्षा का-सा जो भाव भीतर समा गया है मुझे हमेशा कचोटता रहता है। माता जी जैन-समाज की तपस्या थीं और तप की साक्षी से जानता हूँ कि जीवन के अन्त में पच्चीस वर्ष उनके उस समाज की सेवा और चिन्ता में बीते। इस लगन में उन्होंने अपने को दया या क्षमा नहीं दी। लेकिन उनको जो पुरस्कार मिला मेरी आँखों के सामने है। मन्दिर में, घर में, खुली सड़क पर उनका अपमान हुआ। वह मरीं तो समाज की अपदृष्टि उन पर थी। इस पर कभी तो घोर नास्तिकता मेरे मन पर छा जाती है। फिर सोचता हूँ कि शायद सेवा-धर्म की यही परीक्षा है। जो हो, एक गहरा शोक सदा ही मन को डसे रहता है, जो जैन-समाज से मुझे भयभीत और उसकी सेवा से कुछ दूर बनाये रखता है। जीवन की इस गम्भीर अवस्था

वेदना को लेकर मुझे जीना पड़ रहा है।" (मैं और वे पृ० १८२) "त्यागपत्र" में प्रमोद के मन में जो व्यथा उभारी गई है (जो त्यागपत्र के मूल में है) उसे भी जैनेन्द्र में ही ढूंढा जा सकता है यद्यपि यहाँ प्रसंग माँ का ही है। उसके बाद मेरे पास तो प्रायश्चित ही शेष बचता है कि जीते-जी उन्हें दुःख तो देता रहा मरने के बाद ऐसा तो करूँ कि क्षणिक उन्हें सुख हो। पर हाय आदमी कितना अवश है और अपने ही कर्मों के बंध से कितना बद्ध है कि मन के भीतर की जो चाहना है वह कभी नहीं हो पाती। इस चित दशा पर जानता हूँ माँ मुझे क्षमा कर देंगी जैसे कि सदा ही करती रही हैं पर मेरा अपना युमन कैसे छूटे।" (वही पृ० १८२)

माँ की रोगशय्या का उन्होंने कुछ रेखाचित्रों में भी उल्लेख किया है और अपने प्रारम्भिक लेखक-जीवन की अन्न-अभावता की एक झांकी हमें दी है। विरोध और ताड़ना के तूफान में जो बुझ रही उसी मातृमूर्ति ने जैनेन्द्र की नारियों को अपने व्यक्तित्व के प्रति सचेतन और जागरूक बना दिया है। "कल्याणी" का सारा संघर्ष ही अपने व्यक्तित्व-विकास को लेकर है और मृणाल भी पति से अलग होकर समाजनिष्ठा में आबद्ध रहकर अपने भीतर को पाना चाहती है। समाज इस व्यक्तित्व-विकास में बाधक है तो वह समाज की उपेक्षा कर देती है। ताड़ना के भीतर से उसके तेजस्वी चरित्र को लेखक ने उभारा है। प्रेम-कहानियों में (सुखदा सुनीता और विवर्त में) यह व्यक्तित्व विकास प्रेम-स्वातंत्र्य की पुकार बन जाता है और पति-पत्नी के अधिकारों में विग्रह आता है। विवाह से बना नारी के व्यक्तित्व का नाश ही हो जाता है। प्रेम की भूमि पर यह समस्या जैनेन्द्र को "[illegible]" में मिली और इस उन्होंने अपने उपन्यासों में नये-नये रूप देकर विकसित किया। जैनेन्द्र की सभी नायिकायें प्रेमशील और भावुक के उभय पक्षों को लेकर चलती हैं। प्रेमशील नारी की हार है, भावुक जीत। इससे यह स्पष्ट है कि जैनेन्द्र की नारी की कल्पना अभिराम त्याग और सेवा को लेकर विकसित हुई है। इसमें उनकी माता ही की प्रतिच्छाया है। यह आदर्श नारी व्यक्तिगत जीवन की भूमि पर असफल होते हुए भी समाज के सामने अपनी त्याग और तपस्या की एक प्रकाश-रेखा खींच जाती है। यह नारी करुणा-मूर्ति है और इसमें वह अवचेतना भाव व्याप्त है जिसे युंग ने "[illegible]" कहा है। इसीलिए उनकी प्रेम नायों को सामान्य मनोविज्ञान के धरातल पर समझना असम्भव है। "सुनीता" "सुखदा" और विवर्त में जैनेन्द्र ने नारी के जीवन-प्रवाह प्रेयसी रूप को दुहराया है और उसके भीतर की अभिमानमयी और मेधावनी नारी हो जीती है। युंग ने स्पष्ट कर दिया है कि पुरुष का नारी का प्राथमिक और सब से महत्वपूर्ण अनुभव उसकी माता के माध्यम से प्राप्त होता है और उसके नारी सम्बन्धी वेग के निर्माण में उसका योग सबसे अधिक शक्तिपूर्ण है। कुछ पुरुष उसकी मोहक शक्ति से जीवन भर मुक्ति नहीं पा सकते। माँ का व्यवहार कैसा है, यह बालक के लिए महत्वपूर्ण नहीं है। बालक उसके कार्य-व्यापार से सम्बन्ध

में किस प्रकार भासित होता है, यही महत्वपूर्ण है। जैनेन्द्र के उपन्यासों में उनकी माता का यही भासित रूप सुरक्षित है।

दूसरा व्यक्तित्व मामा का है, जिनके सम्बन्ध में "महात्मा भगवानदीन" शीर्षक निबन्ध में उन्होंने लिखा है। छः-सात वर्ष की आयु जैनेन्द्र की थी तब मामा विरक्त हो गये और बाद में उन्होंने हस्तिनापुर में बालकों के लिए एक जैन-आश्रम खोला। जैनेन्द्र इस आश्रम में कई वर्षों तक रहे। बाद में वह माता के संरक्षण में आ गये जिन्होंने दिल्ली में एक जैन-महिलाश्रम की स्थापना कर ली थी। परन्तु हाई स्कूल तक उनकी शिक्षा-दीक्षा बिजनौर में हुई। मामा साधु ही नहीं हैं उनकी रचनाएँ भी प्रकाशित हो चुकी हैं। ये प्रमुखतः निबन्धों और कहानियों के रूप में हैं। जैनेन्द्र की रचनाओं पर उनकी शैली की स्पष्ट छाप है। सूत्रवत् चिन्तन और दृष्टान्त और रूपक शैलियों में बात कहने की प्रवृत्ति जहाँ जैनागमों के अध्ययन का प्रभाव सूचित करती है वहाँ महात्मा भगवानदीन के साहित्यिक व्यक्तित्व की छाप भी बताती है। भाषा-शैली की सहज स्वाभाविकता ठेठपन और प्रभावोत्पादिता दोनों में है। इस प्रकार जैनेन्द्र के व्यक्तित्व पर मातृपक्ष का प्रबल प्रभाव है जो बाद में धार्मिक जिज्ञासा और जैन-समाज की महत्ता में प्रकट हुआ है। परन्तु इस प्रभाव को जैनेन्द्र अपने कथा-साहित्य और निबन्धों के द्वारा व्यापक स्वरूप भी दे सके हैं।

जैनेन्द्र की रचनाओं में घटनाओं और चरित्रों का जो संकोच दिखाई देता है उसका मूल उनका संकोची चरित्र है। साहित्य में यह संकोच अस्पष्टता और रहस्य की सृष्टि करता है। "जैनेन्द्रकुमार की भीत" शीर्षक अपने काल्पनिक संस्मरण में उन्होंने अपने संबंध में लिखा है "मिलने जुलने और दुनिया में राह बनाने की उनमें लियाकत न थी। वह चीज बिल्कुल न थी जिसका असर और रौब पड़ता है। ऐसे आदमी के पास कुछ सपने बाहर जमा हो जाया करते हैं पर उनमें दम नहीं होता और मसलिहत के आगे वे छूमन्तर हो रहते हैं।" यह स्पष्ट है कि जैनेन्द्र के साहित्य में उनका सम्बन्ध कम ही है, कि वह क्या हो सकते थे। सपनों को ही वह यथार्थ बनाने का प्रयत्न करते हैं परन्तु स्वप्निलता छोड़े नहीं छूटती।

स्वयं उनका व्यक्तित्व उनकी रचनाओं में कहाँ है, यह कहना कठिन है। उपर्युक्त निबन्ध में वह स्वयं लिखते हैं "जैनेन्द्र की जिन्दगी में बड़े उतार चढ़ाव नहीं आये। वह कुछ बेतरतीब-जिन्दगी रही जिसमें लहरें उठीं तो बाहरी हवा के थपेड़ों पर, नहीं तो जिसकी सतह चाहिए सीधी नहीं रही। न गहरे राज की बात उसमें दिखाई देती है। जिन्दगी वह मामूली आदमी की है और उसमें रोमानी रस की रौनक नहीं है। परन्तु जैनेन्द्र "आप बीती" को भी लेकर चलते हैं और "जग बीती" को लेकर भी। अपने साहित्य की सीमाओं को उन्होंने यों बतलाया है "इस सब साहित्य में आदमी के मन के भेदों को खोला गया है और उलझनों को खोलने की कोशिश है। व्यक्ति को परिधि मानकर सवाल उठाये

और घूम गये हैं, पर इस तरह प्रश्न सवालों का हल मिलेगा ऐसा नहीं मालूम होता। सवाल एक के मन का नहीं सारे समाज के निज़ाम का है। दिक्कत असली है और जैनेन्द्र का साहित्य ख्याली है। पढ़ने में वह उलझाता और इसी से किसी क़दर अच्छा लगता है। भावनाओं को कुछ उभार भी वह देता है पर क्या वह बल और प्रकाश भी देता है? (वे और वे पृ० १२९) उपन्यासों में इन्सानी कैरेक्टर और जिस्म के उत्तरोत्तर कम होने की बात भी उन्होंने कही है। कदाचित् नई उपन्यास-कला की ओर उनका इंगित है। परन्तु जगत् के प्रति जैनेन्द्र की दृष्टि वस्तुगत न होकर आत्मगत है जो उन्हें दूर तक भटकाती है। जैनेन्द्र ने स्वयं अपने इस दृष्टिकोण को यों कथा के रूप में कहा है एक मित्र ने कहा 'जैनेन्द्र हमारी दुनिया के जीते-जागते सवालों को लेकर अपनी कलम चलाओ।' जैनेन्द्र ने कहा —"मैं लेखक नहीं हूँ। इस लायक नहीं हूँ कि तुम्हारी कुछ माँग उठा सकूँ।" कहा गया— "तुमसे उम्मीदें हैं भाई। समाज के लिए उपयोगी हो कुछ ऐसा लिखो।" उसने कहा— 'समाज ! मैं उसको नहीं जानता हूँ।"

यह है जैनेन्द्र की मन-सम्पत्ति। उनके साहित्य में "जग-बीती" आप-बीती बन कर आई है और औपन्यासिक क्षेत्र में उसने नारी के व्यक्तित्व की स्वाधीनता का रूप ले-लिया है। मन के भेदों को उन्होंने खोलना चाहा है और मनुष्य किसी दूसरे के मन को क्या जानता है? जानता है अपने मन को। इसी से यह कहा जा सकता है कि जैनेन्द्र ने अपने साहित्य में अपना ही मन खोला है। और, जैसा उन्होंने एक जगह कहा भी है इस प्रक्रिया में उन्होंने स्वास्थ्य-लाभ किया है। आदर्शवादी आत्मविग्रह की चेतन दृष्टि के नीचे मन की अतल गहराइयों के दबाव को अवचेतन से बार-बार उभारा गया है। इस प्रक्रिया में कभी-कभी कुछ अहित भी आ गया है परन्तु वह सतर्क और अचूक भी है। इसमें संदेह नहीं कि जैनेन्द्र वस्तुजगत् को कल्पना और भावना से पकड़ना चाहते हैं और केवल बुद्धि को अपना आधार न बनाकर मन की अचेतन और अवचेतन प्रक्रियाओं को प्रधानता देते हैं। प्रारम्भिक कहानियों की सर्जन प्रक्रिया का जो उल्लेख उन्होंने किया है उससे यह स्पष्ट है कि उनके साहित्य में आत्मानुभव अध्ययन और अवचेतन मन की प्रक्रिया मिल कर एकरस हो गई है। इसी से केवल बुद्धि और तर्क से न उनके उपन्यासों की घटनाओं की व्याख्या हो सकती है न पात्रों के चरित्रों की। उनमें मनोवैज्ञानिक सूत्रों के पीछे भावना या कल्पना और लेखक के आकांक्षा-तत्त्व का भी समावेश है। उनकी रचनाओं में जग-बीती आप-बीती बन कर आई है और आप-बीती जगबीती बन गई है। अन्ततः यह दृष्टिकोण कवि का दृष्टिकोण है सनातन उपन्यासकार का नहीं। इसी से जैनेन्द्र गद्य की भूमि को अपनाते हुए भी सूक्ष्म रूप से कवि हैं। उन्होंने कथा और चरित्र में अपने व्यक्तित्व के अबूझ तत्त्वों को भी मिला लिया है जिससे वह रहस्यमय हो उठे हैं। धन और ऐश्वर्य के प्रति विमुखता भाव विराग घर और बाहर अथवा विवाहिता नारी के व्यक्तित्व-विकास का प्रश्न हिंसा और अहिंसा का समाधान आत्मदान और आत्मसंकोच का द्वन्द्व ये उनके उपन्यासों की

मूल स्थितियाँ हैं और इनका मूल स्वर उनके व्यक्तित्व में (चरित्र में तो नहीं क्योंकि चरित्र में तो जैनेन्द्र विश्वास ही नहीं करते) खोजा जा सकता है। संभाव्य आकांक्षा अन्तर्निरोध अन्तर्द्वन्द्व और दार्शनिक ऊहापोह पर आधारित जैनेन्द्र का उपन्यास-साहित्य अतर्क्य होने पर भी तर्क-वितर्क का विषय बन गया है। "तेन त्यक्तेन भुंजीथा" वाली श्रुति को उन्होंने रवीन्द्र की रचनाओं की भूमिका पर से ग्रहण किया है और आत्मदान में ही आत्मा की उपलब्धि का संदेश हमें दिया है। उनका साहित्य उनकी आत्म-साधना का ही एक अंग है और इसी रूप में उसे स्वीकार करके उसके साथ न्याय किया जा सकेगा।

१७

नया उपन्यास और जैनेन्द्र

हिन्दी में नये उपन्यास का आरम्भ जैनेन्द्र के "परख" उपन्यास से माना जा सकता है जिसका प्रकाशन १९२९ में हुआ। परन्तु इस उपन्यास में जो वैशिष्ट्य और स्पष्ट विशेषतायें थीं उनका जन्म यूरोप में बहुत पहले हो चुका था। इंग्लैंड में नई प्रवृत्तियों का जन्म १९१० के लगभग हुआ परन्तु प्रवृत्तियों को स्थायित्व तीसरे दशक के प्रारम्भ में प्राप्त हुआ। फारस्टर की रचना "ए पैसेज टु इण्डिया" (१९२४) में हमें नई कोटि की एक अत्यन्त प्रभावशाली औपन्यासिक रचना के दर्शन होते हैं और बाद के बीस वर्षों में यह रचना अंग्रेज़ी उपन्यास-कला को बराबर प्रभावित करती रही है। इन नई प्रवृत्तियों का उदय फ्रांस और रूस के उपन्यासों में सन्निहित प्रवृत्तियों और प्रयोगों से हुआ और कालान्तर में उपन्यास उन्नीसवीं सदी की परम्परा से विच्छिन्न हो गया। अमरीका के उपन्यासकारों के कुछ नवीन प्रयोगों ने भी नई कला के संयोजन में सहायता पहुँचाई। जो हो यह आश्चर्य की बात है कि हिन्दी उपन्यास ने "परीक्षा-गुरु" से "परख" तक ५० वर्षों में ही पश्चिमी उपन्यास के विकास की तीन शताब्दियाँ पार कर लीं और नये उपन्यास का उदय इंग्लैंड की इस श्रेणी की रचनाओं से बहुत बाद नहीं हुआ। एक प्रकार से इस विकास को समकालीन भी कहा जा सकता है।

परम्परागत उपन्यासों में उपन्यासकार मूलतः एक मनोरंजक कथा को लेकर चलता था और साथ ही वह कुछ व्यक्तियों को भी उपस्थित करता था जिन्हें पाठक चरित्र की निश्चित और बँधी रेखाओं के भीतर से देखते थे। ये पात्र हमारे मित्रों और परिचितों से अभिन्न रहते थे और उनकी रूपरेखा प्रशस्त रहती थी। उनकी सज्जा, उनकी मुद्राओं वार्ताओं और प्रवृत्तियों का विस्तारपूर्वक लेखा-जोखा रहता था। यह अवश्य है कि प्रारम्भ से ही ऐसे उपन्यासकार भी थे जो कथा के साथ-साथ जीवन-दर्शन भी देते थे अथवा कथा में सामाजिक कुरीतियों के विरुद्ध जिहाद करते थे। इसमें संदेह नहीं कि प्रारंभ से ही उपन्यास समाज-सुधार का साधन बन गया था और इस लक्ष्य को अंततः सामने रख कर डिकेन्स जैसे कलाकारों ने बड़ी शक्तिशाली रचनाएं उपस्थित की थीं। परन्तु ऐसे भी उपन्यासकार थे जो सामाजिक समस्याओं से आगे बढ़ कर अपनी कथा द्वारा दार्शनिक,

नैतिक और राजनीतिक विचारों का भी स्पर्श करते थे। अंग्रेजी उपन्यासकारों में चार्ल्स किंग्सले का नाम इस क्षेत्र में लिया जा सकता है।

इंगलैंड में जिन लोगों ने नई उपन्यास-कला के विकास में सहायता पहुँचाई उनमें हेनरी जेम्स, हार्डी, आरनाल्ड बैनेट, गाल्सवर्दी, सामरसेट माम और कोनार्ड प्रमुख हैं। चेस्टरटन, फिलपॉट्स और सैमुएल बटलर का भी नाम लिया जा सकता है परन्तु इनकी सभी रचनाएँ एक प्रकार से युग-परिवर्तन की सूचना नहीं देतीं। इन लेखकों के "द मैन हू वाज़ थर्सडे" (१९०७) और 'द वे आफ़ आल फ़्लेश' को हम क्रमशः ले सकते हैं। इनके अतिरिक्त १९१० तक की रचनाओं में ई० एम० फ़ार्स्टर के चार उपन्यास हैं जिनमें अंतिम 'होवर्ड्स ऐन्ड' (१९१०) है।

जिस मनोवैज्ञानिकता की नये उपन्यास में पूर्णता हुई है वह उन्नीसवीं शताब्दी के अंत में हेनरी जेम्स के उपन्यासों में ही महत्व पाने लगी थी। इन नई रचनाओं में लेखक अपने पाठकों को साथ-साथ लेकर चलता है और पाठकों की वास्तविक सहानुभूति ही पात्रों के भीतर प्रवेश पाने की एक मात्र कुंजी है। हेनरी जेम्स ने ही पहले-पहल पात्रों के कार्य-कलापों को अप्रधानता दी और उनके अंतर्जगत् को विशेष महत्व दिया। जेम्स के उपन्यासों में पात्रों की संख्या बहुत थोड़ी है और इन कुछ पात्रों के कार्यों के पीछे तर्क और भावना का एक विस्तृत जगत् है जो कहानी को रोचक और महत्वपूर्ण बनाता है। इससे यह हानि हुई कि उपन्यास मनुष्य के व्यापक कार्यक्षेत्र को छोड़कर चरित्र और प्रेरणा के विशेष क्षेत्र में लग गया। इस आलोचना से उपन्यास बुद्धिमूलक बना और बीसवीं शताब्दी के उपन्यासों में भी यह प्रवृत्ति बराबर मिलती है। कथा-प्रेम पीछे पड़ गया और बौद्धिक ऊहापोह प्रधान हो गया। कुछ उपन्यासकारों ने जैसे हार्डी ने बुद्धि और मन के बीच में संतुलन को बनाये रखा परन्तु हार्डी के उपन्यासों में वातावरण की प्रधानता मिलती है जो नये उपन्यास का नया तत्त्व है। एक नये ढंग की विशेषता इस प्रकार की रचनाओं में आ जाती है। हार्डी ने काव्योपमता और कथा के कलात्मक संगठन के रूप में दो नये तत्त्व भी नवीन उपन्यास-धारा को दिये। हेनरी जेम्स के बाद मनोवैज्ञानिकता का सबसे सुन्दर रूप हमें कोनार्ड में मिलता है जिसकी रचनाओं में हमें संवेदनामयी और आकर्षक कथाओं के साथ-साथ पात्रों और प्रेरणाओं का मनोवैज्ञानिक निरूपण भी मिलता है और साथ ही जीवन का व्यापक एवं विस्तृत समालोचन भी रहता है। वास्तव में सूक्ष्म कलाकारिता और मनोवैज्ञानिक पकड़ के कारण कोनार्ड में इस युग के अन्य उपन्यासकारों की अपेक्षा आधुनिकता सबसे अधिक है। इन क्षेत्रों में हेनरी जेम्स से ही उसकी तुलना हो सकती है। जेम्स इस कला में अप्रतिम है और बीसवीं शताब्दी के उपन्यास पर उसका प्रभाव बहुत गहरा है।

नये उपन्यास के सृजन और निर्माण में बौद्धिक तत्त्व का अधिक समावेश हुआ है। परंपरागत उपन्यास से इस दिशा में यह नितान्त भिन्न है। उपन्यास में कहानी

और वस्तु (प्लाट) की आवश्यकता पर संदेह किया जाने लगा और हार्डी एवं मेरिडिथ से एक कदम आगे बढ़कर उपन्यास को जीवन-दर्शन का वाहन मान लिया गया। उद्देश्य या बीज प्लाट और पात्रों से कहीं अधिक महत्वपूर्ण हो गया। प्रत्येक नये उपन्यास के मूल केन्द्र में एक विचार अवश्य प्रतिष्ठित मिलेगा। इस विचार को पल्लवित करने में ही कथा और पात्रों की सार्थकता है। उपन्यास की पृष्ठभूमि चुनते समय भी इसे ही ध्यान में रखा जाता है। चूंकि विचार पहले है इसलिए उसके विकास के लिए प्रस्तुत कथा में असत्य का कुछ अंश होना अनिवार्य है। पुराने उपन्यासकार पहले पात्रों की कल्पना करते थे और फिर उनके अनुरूप कहानी गढ़ते थे या पहले कथा की रूप-रेखाएँ बनाते थे और तब उसे चारित्रिकता देते थे या कथा और पात्रों को एक साथ ही सर्जन प्रक्रिया में निर्मित करते थे। इससे उपन्यास में मांसलता रहती थी और कथा एवं पात्र विश्वसनीय रहते थे। नये उपन्यासों में सिद्धान्त ही सब कुछ था और औपन्यासिक भूमि पर से मानवीय हलचल को हटाकर उसे सीमित कर दिया गया। यह कहा कि पात्रों की अधिक संख्या केन्द्रीय विचार को पल्लवित करने में बाधक होती है। फलतः पात्र गिने चुने रखे गये। इसमें संदेह नहीं कि कथाकार उपन्यासकार के हाथ में ऐसे उपन्यास बड़े उत्प्रेरक हैं और धीरे-धीरे उनकी लोकप्रियता बढ़ती जाती जाती है। अधिक नये उपन्यासों में जीवन की समस्त और विविध भूमियों के उपयोग और कथा-निर्माण में विभिन्न व्यक्तियों के घात-प्रतिघात के स्थान पर केवल जीवन के संबंध में केवल बौद्धिक ऊहापोह रहता है। इस प्रकार नया उपन्यास विचार-केन्द्रित है और उसकी अभिव्यंजना आन्तरिक रूप से मनोवैज्ञानिक है यद्यपि धीरे-धीरे यह नई मनोवैज्ञानिकता भी पुराने ढंग की मनोवैज्ञानिकता से दूर जा पड़ी है। इसमें संदेह नहीं कि अब भी अनेक ऐसे लेखक हैं जो परंपरागत उपन्यास को ही लेकर चल रहे हैं या उसे अपनी व्यक्तिगत विशेषता और नये उपन्यास के तत्वों के सम्मिश्रण से महत्वपूर्ण बना रहे हैं परन्तु यह निश्चय है कि आज के उपन्यास की मान्यताएँ बीस-पच्चीस वर्ष पहले के श्रेष्ठ उपन्यास की मान्यताओं से भिन्न हैं।

१९२० से पहले ही अंग्रेजी उपन्यास ने नई दिशाएँ टटोलनी शुरू कर दी थी। कुछ उपन्यासकारों ने जैसे काम्पटन मैकेन्जी और एच० जी० वैल्स ने बचपन और युवावस्था का चित्रण किया। कुछ अन्य उपन्यासकारों ने जैसे डी० एच० लारेन्स ने कल्पना और भावना के अतिरेक को अपनी कला का आधार बनाया और यौन प्रेम के रूप में नई अभिव्यंजनाओं का चित्रण कर मन के गहरे पर्तों को छुआ। लारेन्स का "सन्स एण्ड लवर्स" इस दिशा में क्रांतिकारी रचना है। कदाचित् इतनी शक्ति और काव्यमयता के साथ किसी भी उपन्यासकार ने जीवन का संस्पर्श नहीं किया है। सच तो यह है कि लारेन्स ने उपन्यास को अपने नये धर्म की प्रचार-भूमि बना दिया। नर-नारी के बीच वासनाओं और प्रेम-घृणा के संवेगात्मक चित्रों ने उपन्यास जगत् में हलचल मचा दी। इन सब उपन्यासों ने अपना

और विशिष्ट स्थान वेल्स का है जिन्होंने उपन्यास को वैज्ञानिक कल्पना और वैचारिक प्रयोगों की भूमि बना दिया। इस प्रकार हम देखते हैं कि उपन्यास की कड़ियाँ बीसवीं शताब्दी के दूसरे दशक में ही टूटने लगी थीं और उसका क्षेत्र विस्तृत बन चला था।

परन्तु नये उपन्यास का जन्म १९२० से ही माना जा सकता है क्योंकि इसी समय के लगभग पुराने ढंग के उपन्यासों पर कड़ी चोटें पड़ीं और नये प्रभावों ने उसकी सारी भूमि ही बदल दी। ये नये प्रभाव से उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य से ही पड़ने लगे थे परन्तु सामूहिक रूप से उपन्यास इनसे फिर भी अछूता था परन्तु ये नये सिक्के चलने लगे और नई मुद्रा प्रचलनीय भी बनी। ये प्रभाव तीन दिशाओं से आये

१—फ्रेंच उपन्यास का प्रभाव। उन्नीसवीं शताब्दी के अंत में ही जार्ज मूर और सामरसेट माम के उपन्यासों पर फ्रेंच प्रभाव दिखलाई पड़ने लगा था। यह प्रभाव केवल भाषा के नग्न यथार्थ (प्रकृतवाद) का प्रभाव था परन्तु रूपगत ! भावात्मक प्रभाव भी कम महत्वपूर्ण नहीं था। फ्रेंच उपन्यासों में शिल्प और अभिव्यंजना को अनिवार्यतः महत्वपूर्ण स्थान मिला है। वे सच्चे अर्थों में कलाकृतियाँ हैं। पुराने ढंग के उपन्यासों में उपन्यासकार निर्बन्ध भाव से चलता है, कभी-कभी तो कई कथाएँ लेकर चलता है। परन्तु फ्रेंच उपन्यासों में सूक्ष्म अभिव्यंजना और प्रासादिक शैली का महत्व है और उपन्यास का रूपविधान भी सुघटित होना आवश्यक माना जाता है। १९२ के बाद प्रूस्त के उपन्यासों की सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक अभिव्यंजना-शैली का भी प्रभाव पड़ने लगा।

२—दूसरा प्रभाव रूसी उपन्यासों का है। यह प्रभाव अधिक गहरा पड़ा। टाल्स्टाय दोस्तोयेव्स्की तुर्गनेव और चेखव की रचनाएँ अनूदित हुईं और पाठक और लेखक दोनों उनमें डूब गये। ये रूसी कथाकार मानवात्मा में प्रवेश करने की अद्भुत क्षमता रखते थे। अंग्रेजी उपन्यासकारों ने इन गहराइयों को नहीं छुआ था। मानवीय व्यक्तित्व के अतलस्पर्शी मनोवैज्ञानिक आश्चर्य इन रचनाओं में उभर आये। इन उपन्यासों की संवेदना सार्वभौमिक थी। इन में या तो देश-व्यापी आन्दोलन चित्रित थे या मनुष्य की अंतरात्मा की पीड़ा उभारी गई थी। इनका संसार ही दूसरा था।

३—रूसी उपन्यासों के प्रभाव के साथ ही अवचेतन मन संबंधी फ्रायड के नवीन आविष्कार भी सामने आये। १९२ तक मनोविज्ञान की नई उपलब्धियाँ मान्य हो गईं और मनोविश्लेषण की पद्धति लोकप्रिय हो गई। इन नवीन तत्वों ने व्यापक रूप से उपन्यास को प्रभावित किया।

अंग्रेजी उपन्यास को नई औपन्यासिक भूमि देने का श्रेय जेम्स ज्वाइस और वर्जीनिया वुल्फ को है। ज्वाइस का पहला प्रकाशित उपन्यास आत्मकथात्मक था (ए पोर्ट्रेट आफ द आर्टिस्ट एज ए यंग मेन १९१६) परन्तु वह कुछ दिन पहले से एक विस्तृत प्रयोग में लगा हुआ था। यह प्रयोग "यूलीसिस" (१९१४-२२) था। वास्तव में इतना

...ा प्रयोग उपन्यास के क्षेत्र में हमें अन्य नहीं मिलता। १९२२ में जब पेरिस में उसका
...काशन हुआ तो साहित्य-जगत् में हलचल मच गई। वह एक ही साथ निंदा और
...ंसा का विषय बन गया। इस उपन्यास का नायक डबलिन में चौबीस घंटे बिताता
... कथ्य इतना ही है। परन्तु ज्वाइस ने बहिर्जगत् को नायक की चेतना के तंतुओं
... द्वारा पकड़ना चाहा है। अंतश्चेतना का एक प्रतीकात्मक प्रवाह उसमें उभर आया
...। साथ ही अंग्रेजी भाषा की सारी संभावनाएँ लेखक ने समाप्त कर दी हैं। पांडित्य
...ौर हास्य को एक ही सूत्र में गुंफित कर दिया है और परंपरागत उपन्यास का उसमें
...क भी शेष नहीं है। केवल मात्र नायक की मानवता बच गई है। पात्रों के अंतरंग
...ावों (इन्टरनल मानोलाग्स्) को पढ़कर पाठक मस्तिष्क के सूक्ष्म रूप से परिचय
...ता है परन्तु कथा-विकास का पता नहीं चलता। कथा-संगठन लुप्त है। बीज इतना
...हरा दबा है कि पता नहीं चलता। सामान्य पाठक की पकड़ में वह आता ही नहीं।
...नेक अंश अनैतिक और अश्लील यौन-सम्बन्धी हैं जिससे सेन्सर ने संपूर्ण ग्रंथ को इंग्लैंड
...ें प्रकाशित नहीं होने दिया परन्तु यह निश्चय था कि एक बड़ा महत्वपूर्ण प्रयोग
...ामने आया है। "यूलीसस" के पात्रों के विचारों की मानवधर्मिता और उसकी शैली
... नये उपन्यास को इतना प्रभावित किया कि पुरातन ढंग से उपन्यास लिखना ही
...म्भव नहीं रहा। रूसी उपन्यासों ने जो मनोलोक उपस्थित किया था वह इस प्रयोग
... और भी प्रखर हो गया। वर्जिनिया वुल्फ ज्वाइस से अधिक प्रभावित रहीं परन्तु
...दाचित् वही अधिक प्रभावशाली सिद्ध हुईं। उसने स्पष्ट रूप से कहा कि उपन्यासकारों
...े दो वर्ग हैं भौतिकवादी और आध्यात्मिक। पहला वर्ग गौण विषयों पर लेखनी चलाता
... और उसकी कला की सारी सार्थकता इसी में है कि उसमें कद महान् और वास्तव दिख
...ाई देने लगे। दूसरे वर्ग के उपन्यासकार जीवन के मूलभूत और स्थायी तत्वों को लेकर
...चलते हैं। वे मनुष्य के चेतना प्रवाह के सतत परिवर्तनशील और वास्तविक रूप को
...्रहण देते हैं जो बाहर के प्रभाव से बराबर बदल रहा है और भीतर को नया रूप दे
...हा है। वुल्फ के विचार में जीवन एक अर्धपारदर्शी ज्योतिवलय है जो हमारी चेतना
...े प्रारम्भ से अन्त तक हमें घेर रहता है। उपन्यासकार का लक्ष्य यह होना चाहिए कि
...स अज्ञात अपरिसीम और सूक्ष्म आत्मतत्व का आभास अपने पाठकों को दे चाहे इसके
...लिए उसे कितना ही सूक्ष्म निरीक्षण क्यों न करना पड़े और चाहे उसकी अभि
...व्यंजना कितनी ही दुरूह क्यों न हो जाय। इस प्रक्रिया में उसे विजातीय और बहिर तत्वों
...का कम-से-कम मिश्रण करना होगा। ऐसा एक प्रयत्न ज्वाइस की रचना के रूप में
...उसके सामने था। ज्वाइस ने अंतर की ज्योति शिखा के सूक्ष्मतम स्पन्दन को पकड़ना
...चाहा था और जीवन प्रवाह के अंतरंग स्रोत तक पहुँच गया था। इसी से वर्जिनिया वुल्फ
...ने उसे अध्यात्मवादी कहा। रूसी उपन्यास में भी ऐसे स्थल आते हैं जब आत्मा का सूक्ष्म
...तम आलोड़न अर्थान्ध मूढ़ और अस्पष्ट रूप में गुंफित हो जाता है जिससे कि

मानवीय मस्तिष्क की एक अनिमय खिचड़ी हमारे सामने उद्घाटित होती है। अंग्रेजी उपन्यासों में हास्य-विनोद के प्रसंगों और भावात्मक प्रसंगों में इस प्रकार की एक झलक मिल जाती है, परन्तु जीवन की रहस्यमय गहराइयों की छानबीन विस्तृत और निपुण झाँकी हमें नहीं मिलती। वर्जिनिया वुल्फ की प्रयोगात्मक रचनाएँ "जेकब्स रूम" और "मिस्टर डेलोवे" हैं, परन्तु "टू द लाइट हाउस" (१९२७) में उनकी उपन्यास-कला का परिपक्व रूप मिलता है। इसमें चेतना के अन्तर्वर्तिक प्रवाह को आत्मा के ज्वार-भाटे के रूप में चित्रित किया गया है, प्रतीकों का भी उपयोग है और एक अत्यंत संवेदना पीन कलाकारिता भी है जो काव्य रस देने में समर्थ है। पुरातन ढंग की कथा समाप्त हो गई परन्तु चारित्रिकता (जो अंग्रेजी उपन्यास की विशेषता थी) फिर भी सुरक्षित रही।

परन्तु नये उपन्यास का वास्तविक विकास बाद में हुआ। इन दोनों लेखकों ने उपन्यास-सम्बन्धी रूढ़िवादिता को नष्ट किया और नई सम्भावनाओं की ओर इंगित किया। वास्तव में नये उपन्यास का नारा एलडस हक्सले की रचना 'आइलेंड इन गाजा' (१९३६) से आरम्भ होता है। इस उपन्यास में काल-प्रवाह को तीन स्तरों पर बराबर चलाया गया है। सच तो यह है कि १९२ से १९३९ तक उपन्यास के क्षेत्र में सब से बड़े परिवर्तन टेक्नीक के क्षेत्र में नहीं थे नैतिक क्षेत्र में नये विचारों की उद्भावना में थे। प्रथम महायुद्ध ने स्वीकृत विचारों की जड़ें हिला दी थी और फलस्वरूप उपन्यासों में नई नैतिक चेतना की दुहाई दी जाने लगी थी। टेक्नीक के क्षेत्र में ई० एम् फारस्टर, डी० एच० लारेन्स और एलडस हक्सले कहीं अधिक महत्व पूर्ण है।

नये अविष्कार-क्षेत्र भी सामने आये। महायुद्ध को लेकर कई रचनाएँ प्रस्तुत की गई जिनमें अरनेस्ट हेमिंग्वे की रचना "ए फेयरवेल टु आर्म्स" (१९२९) प्रमुख है। सिन्क्लेयर लेविस, अप्टन सिन्क्लेयर और दूसरे अन्य अमरीकी उपन्यासकार थे जिन्होंने यूरोप की नई औपन्यासिक चेतना को प्रभावित किया। कुछ उपन्यासकार दूर ग्रामीण जीवन को सामने लाये। बचपन और किशोरावस्था को लेकर भी कई रचनाएँ उपस्थित हुईं। कल्पनिक युगों और दूर देशों को लेकर भी रचनाएँ सामने आईं। ऐतिहासिक रोमांस का एक प्रकार से पुनर्जन्म हुआ। नागरिक जीवन की विभीषिकाओं से भाग कर उपन्यासकारों ने ग्रामीण जीवन के काव्य-चित्र उपस्थित किये और उसे नागरिक जीवन एवं उद्योग-धन्धों के विपक्ष में पेश किया। अपराधी जीवन-सम्बन्धी रचनाओं और जासूसी रचनाओं की भी बाढ़ आ गई।

उपन्यासकारों की इस बाढ़ ने उपन्यास पढ़ने वाली जनता को कई वर्गों में बाँट दिया। एक वर्ग बैन्ट बैनेट गैल्सवर्दी और वोलपोल जैसे परम्परानिष्ठ उपन्यासकारों को पसन्द करता था तो दूसरा ज्वायस और वुल्फ के प्रयोगों को तीसरा वर्ग के विपरीत

को चीना आइरिश या चीनी पृष्ठभूमि को। वास्तव में अनेक प्रकार की विचार धाराओं ने उपन्यास को विशृंखलित कर दिया था। १९१७ के बाद 'प्रोलेटेरियेत' नाविल के रूप में मार्क्सवादी और साम्यवादी विचारों पर आधारित रचनाएँ सामने आईं और जनवाद और आन्दोलनों को महत्त्व मिला।

पिछले डेढ़ दशक में उपन्यासों का जो विकास हुआ है वह विशेषतः टेकनीक की दिशा में। उपन्यास का क्षेत्र छोटा होता गया है यद्यपि नये-नये क्षेत्रों की खोज भी की गई है। अब उपन्यास सम्पूर्ण जीवन को न लेकर जीवन का एक खण्ड मात्र लेता है यहाँ तक कि चौबीस घण्टों का जीवन या कुछ घण्टों का जीवन भी उसके लिए काफ़ी हो जाता है। इन कुछ घण्टों में ही लेखक की चेतना काल-प्रवाह में आगे-पीछे दौड़ती है और उसके जीवन के अनेक शृंखल-विशृंखल चित्र पकड़ने में सार्थक होती है। इन्हीं चित्रों में पात्रों के जीवन की कथा बनती-बिगड़ती है। वास्तव में उसमें वस्तु तत्त्व नहीं होता भाव-संवेदन ही होता है। फलस्वरूप उसमें कथा की कड़ियाँ भी नहीं बनतीं अथवा कथा सूक्ष्म ही रहती है। बीच-बीच में से कथा की शृंखलाएँ टूट जाने पर पात्र अबूझ भी हो सकते हैं। इस प्रकार पाठक के पल्ले मानसिकता ही पड़ती है चारित्रिकता नहीं। उपन्यास में मानस-भूमि पर जो दिखता दिखाई पड़ता है वह केवल अस्तित्व-बोध मात्र। अधिकांश कथा एक प्रधान पात्र अथवा दो-तीन पात्रों से संबन्धित होती है। अन्य पात्र रंग मात्र भरते हैं। प्रधान पात्र के सबल या दुर्बल होने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। वास्तव में मनोविज्ञान ने बतला दिया है कि सभी मनुष्य मूलतः दुर्बल हैं और चारित्रिक स्वास्थ्य असम्भव वस्तु है। जहाँ वह है भी वहाँ नीचे तल में विकृति ही मिलेगी। फलतः नये उपन्यास में न कथा हाथ लगती है न चारित्रिकता न मनोविज्ञाननिष्ठ न तर्कसम्मत वार्त्ता, क्योंकि चारित्रिकता वहाँ नहीं है, वहाँ मनोविज्ञान और तर्क-संगति भी महत्त्वपूर्ण नहीं है। अन्त में उपन्यास विचार या सिद्धान्त का विस्तार मात्र रह जाता है और उसमें उपन्यासेतर अनेक अन्य तत्त्व आकर्षण देने के लिए महत्त्वपूर्ण रूप से सामने आ जाते हैं। पुस्तक के एक उपन्यास में एक पात्र रेल में सफ़र करते हुए एक आदमी को जान बूझ कर धकेल देता है जिससे वह स्वयं कार्य-कारण की शृंखला से स्वतन्त्र रह सके। (लि केव्स दु वैतिकन (१९१४) यह निरुद्देश्य कर्म (एक्ते ग्रुई) का प्रमुख उदाहरण है। एक प्रकार से जीन पाल सार्त्र की अस्तित्ववादी विचारधारा का सूत्र हमें इसमें मिल जाता है क्योंकि यहाँ कर्म स्वतन्त्र अस्तित्व का सूचक मात्र है उसका न कोई पूर्वापर सम्बन्ध है न कोई उद्देश्य। इस प्रकार नया उपन्यास मनोविज्ञान पर भी उस तरह आधारित नहीं है जिस प्रकार हेनरी जेम्स और जोनाई के उपन्यास। वह मनोविज्ञान से भी स्वतन्त्र होना चाहता है। इस प्रकार जहाँ एक ओर मनोवैज्ञानिक उपन्यास हैं जो फ्रायड एडलर और युंग की सैद्धान्तिक मान्यताओं से आगे नहीं बढ़ते और "केस-हिस्ट्री" बन जाते हैं अथवा साइकोथेरपी मात्र रह जाते हैं वहाँ

करने के लिये उसने नये अवयवों का विकास किया है या पुराने उपकरणों को ही संवेदना की नई धार दी है।

नये उपन्यास के कुछ प्रमुख तत्त्वों की ओर हमने पीछे संकेत किया है। ये तत्त्व हैं

१—जीवन-क्षेत्र का संकोच। काल-विस्तार और जीवन-विस्तार दोनों की दृष्टि से आज उपन्यास का क्षेत्र संकुचित है। २४ घंटों या कुछ ही घंटों के जीवन प्रवाह को कथा में बाँधने में आज उपन्यास की सार्थकता है। श्री गिरिधर गोपाल के "चाँदनी के खंडहर" उपन्यास में एक दिन और एक रात की कथा कही गई है और प्रभातोदय के साथ नये जीवन के अभिनन्दन के साथ वह समाप्ति को प्राप्त होती है। ज्वायस और वर्जिनिया वुल्फ इस क्षेत्र में अगुणी रहे हैं। वास्तव में देखा जाय तो चौबीस घंटे भी बहुत होते हैं। उपन्यासकार आज खंड मनुष्य को न देकर संपूर्ण मनुष्य को देना चाहता है। परन्तु यह मनुष्य की संपूर्णता उसके कर्तृत्व में नहीं है उसके मन के आलोड़न-विलोड़न में है। इसी से नया उपन्यासकार आज अणुवीक्षणीय हो उठा है। उसके लिए पिण्ड ही ब्रह्माण्ड का प्रतीक है प्रतीक नहीं वह स्वयं ब्रह्माण्ड ही है। जैनेन्द्र में हमें यही दृष्टिकोण दिखाई पड़ता है। उन्होंने समस्त जीवन की कथा न कह कर खंड जीवन की कथा कही है। काल के साथ जीवन की चित्रपटी भी छोटी होती गई है। आज अनेक उपन्यासकार आंचलिक जीवन के उपन्यास लिख रहे हैं या बचपन और युवावस्था तक सीमित हैं कुछ ने केवल गाँव को ले लिया है, कुछ सामूहिक चेतना के किसी अंश को लेकर चलना चाहते हैं। आज उपन्यास के जीवन का एक खण्ड ही बहुत है। उसका दृष्टिकोण विश्लेषण का दृष्टिकोण है।

२—काल-प्रवाह की अव्यवच्छेदमूलक कल्पना। आइंस्टाइन की खोजों ने आज देश और काल के सम्बन्ध में हमारी धारणा ही बदल दी है। यह नहीं कहा जा सकता कि यह बदली हुई धारणा उपन्यासकार के उपयोग की वस्तु है या नहीं परन्तु आज घटना बहिर्जगत् की वस्तु नहीं अन्तर्जगत् की वस्तु बन गई है और उसके क्रम-विकास की कोई निश्चित रूपरेखा नहीं है। वर्जिनिया वुल्फ ने अपने 'द वेव्स' उपन्यास में काल प्रवाह के तीन स्तर एक साथ चलाये हैं और घटनाओं की असंगति और क्रमहीनता से कालयोग का आभास दिया है। अज्ञेय ने "शेखर: एक जीवनी" में स्थान-स्थान पर इस नई टेकनीक का प्रयोग किया है और बीती हुई घटनाओं को शेखर की विशृंखल मानसिक संवेदनाओं के माध्यम से देखा है। इस प्रकार के प्रयत्न उपन्यास से कथा रस छीन लेते हैं और उसे विशेषज्ञों की वस्तु बना देते हैं। पाठक पात्रों के अन्तर्जीवन में भाग नहीं ले पाता वह बेचारा द्रष्टा मात्र रह जाता है। उपन्यास-लेखक का मन स्वयं काल की सीमाओं में बँधा हुआ है। वह काल के पार कैसे देख सकेगा! रेम्बो ने स्वप्न जगत् या अतिजीवित क्षणों में काल और व्यक्तित्व के पार देखने की कल्पना की थी परन्तु यह कल्पना उसकी कुछ कविताओं में ही बँध कर रह

गई। भावुकिकता के नाम पर उपन्यासकार उसे फिर लेकर चलना चाहता है। जो हो काल प्रवाह की मनस्तत्वेतनामूलक चलना नये उपन्यास का बहुमूल्य संवल है।

१—मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण। अर्थात् फ्राइड एडलर और युग की मनोवैज्ञानिक और मनोविश्लेषणात्मक मान्यताओं पर आधारित घटनाओं का संकलन और नई चारित्रिकता का विकास जो अवचेतन को अधिक महत्व देती है। वह स्पष्ट है कि नये उपन्यास ने परम्परागत उपन्यास से चारित्रिकता का अंग मात्र लिया परन्तु उसे बहुत दिनों तक सुरक्षित नहीं रख सका। इसका कारण मनोवैज्ञानिकों की मन-सम्बन्धी खोजें थी। मनोवैज्ञानिकों ने आज मन को अनेक खण्डों में विभक्त कर दिया है। जो वस्तु पहले एक स्वतन्त्र इकाई और अविभक्त थी वह आज टुकड़े-टुकड़े होकर बिखर गई है। इन बिखरे हुए टुकड़ों में पराजकता है परन्तु उनका अपना आकर्षण भी है। उनसे हमारी जिज्ञासा की भी शान्ति होती है और हमें एक अमर क्रीड़ा-कौतुक का आनन्द भी होता है। स्वयं विधाता की भाँति हम मन को तोड़-फोड़ लेते हैं और टूटे हुए टुकड़ों को कभी एक तरह कभी दूसरी तरह रखकर चमत्कार-सृष्टि कर सकते हैं। ये मन के टुकड़े मात्र हैं परन्तु ये मानवीय प्रकृति के अंग होने के कारण उपन्यासकार के लिए महत्वपूर्ण हैं। ये वे ईंटें हैं जिन पर वह भव्य भवन का निर्माण कर सकता है। इसलिए आज का उपन्यासकार इन बिखरे मन के टुकड़ों का उपयोग करता है तो हमें कोई शिकायत नहीं होनी चाहिए।

परन्तु प्रश्न यह है कि वह इन टूटी-फूटी ईंटों का उपयोग किस प्रकार से करे—क्या वह इनसे एक निश्चित रूप और आकार का निर्माण करे? पिछली उन्नीसवीं शताब्दी के उपन्यासकार चरित्रांकन करते समय चरित्र के विभिन्न टुकड़ों को एक-दूसरे से बिलकुल सटाकर एक सम्पूर्ण और निश्चित चरित्र का निर्माण करने में अपनी कला की सार्थकता समझते थे। यह नहीं कि वे मानव-चरित्र की असम्बद्धताओं और असम्पूर्णताओं को नहीं समझते थे और मनुष्य को देवता या राक्षस मानकर ही अपने कर्तव्य की इतिश्री समझ लेते थे। हमें ऐसे अनेक चरित्र उन्होंने दिये हैं जो अनेक और कानेरंगों के मिश्रण हैं या जिनमें हैमलेट जैसी रहस्यवादिता है जो निश्चित रूपरेखाओं में बँध नहीं पाते परन्तु फिर भी इन उपन्यासकारों का लक्ष्य यही था कि वे चरित्र को "चरित्रता" दें अर्थात् वह निश्चित सुसम्बद्ध स्पष्ट तर्कसिद्ध और अविभाज्य इकाई हो चरित्र की डोरियों के सिरे परस्पर बँधे हों वे झूलती न रहें। परन्तु बीसवीं शताब्दी की मनोविज्ञान की खोजों ने "चरित्र" संबंधी मान्यताओं में महान् क्रान्ति कर दी। यह अवश्य है कि अब भी पुरानी परंपरा के सैकड़ों कथाकार हैं जो चरित्रों को सुनिश्चित और प्रमाणित इकाई बनाये रखने में ही कला की सार्थकता समझते हैं परन्तु उपन्यासकारों का एक दूसरा वर्ग भी है जो परम्परा की ओर मुड़कर नहीं देखना चाहता। उसकी दृष्टि भविष्य पर है और उसका कहना है कि किसी भी वाम को अविभाज्य और सुस्पष्ट बना देना

वास्तविकता से दूर चले जाता है। जीवन में ऐसा नहीं होता। जिन व्यक्तियों से हम परिचित होते हैं वे हमें खण्डित रूप में ही मिलते हैं और हमें स्वयं उन चारित्रगत खण्डों को जोड़ कर अपने लिये एक सम्पूर्णाभास तैयार करना होता है। इसीलिए आज का उपन्यास सम्पूर्णता पर बल नहीं देता वह चरित्र के विभिन्न अंशों या खण्डों पर प्रकाश डालता है। मनोवैज्ञानिकों ने मन को जिन विभिन्न टुकड़ों में विभाजित कर दिया है वे विभिन्न स्तरों की चीजें होते हुए भी चरित्र के पुनर्निर्माण के आवश्यक अंग हैं क्योंकि आज हम यह जानते हैं कि यद्यपि मनुष्य चेतन मन से कार्य-क्षेत्र में उतरता है (या वह यह समझता है कि वह चेतन मन की प्रेरणा से संचालित है) परन्तु उसके पीछे उसकी अन्तश्चेतना के परस्पर विरोधी कभी-कभी असम्बद्ध और अथाह तत्व हैं और उसकी चेतना उसके अवचेतन के निरन्तर प्रहारों से प्रताड़ित होती रहती है। आज उपन्यासकार ने मानव-मन के अवचेतन के तत्व को समझ लिया है और उसका शिल्प भी बदल गया है। वह अपनी ओर से कुछ भी सहायता हमें नहीं देता। न कोई छोटा सा निश्चित सा रेखाचित्र है न कहीं सारांश। वह असम्बद्ध खण्ड चरित्र मात्र को सामने रखकर तटस्थ भाव से अलग हो जाता है। वह पाठक और चरित्र के बीच में जरा भी खड़ा होना नहीं चाहता। नये उपन्यासकार अपने चरित्रों को कई टुकड़ों में देते हैं। कभी वे स्पष्ट और सम्बद्ध हो जाते हैं कभी विरोधाभासपूर्ण। उनका कहना है कि मनुष्य का मन सभी असंगतियों और विरोधों का घर है। फिर क्यों हम उसी प्रकार क्यों नहीं चित्रित करें। एक दूसरी कठिनाई यह है कि ये सब मनस्-खण्ड एक ही प्रकार के नहीं होते। उनमें कुछ चेतन विचार और कर्म से सम्बन्धित हैं कुछ अन्तश्चेतना का प्रवाह मात्र अथवा उपचेतन में बहती हुई विचार-प्रक्रिया मात्र और कहीं अवचेतन की अन्ध शक्तियाँ हमारे सामने आती हैं जो पात्रों की चेतन मान्यताओं को झकझोर डालती हैं। इन विभिन्न स्तरों और खण्डों को लेकर हमें एक समन्वित चरित्र तैयार करना होता है।

इस प्रक्रिया का फल यह हुआ कि उपन्यास के क्षेत्र से अब कालानुक्रम लगभग समाप्त ही हो गया है। नायक के जीवन के चित्र हमें मिलते हैं परन्तु वे किसी निश्चित कालक्रम से नहीं। कभी हम सहसा आगे बढ़ जाते हैं कभी सहसा जाकर एकदम पीछे उसके बचपन या किशोर जीवन के गर्त में गिर पड़ते हैं। चेतना की विषम और असम्बद्ध गति की भाँति कथा और चरित्र-भूमियाँ आज विषम असम्बद्ध और अगतिशील बन गई हैं। उपन्यासकार आज हमें समन्वित सम्पूर्ण नहीं देता। वह हमें जीवन-खण्ड दे देता है। वह सुनिश्चित होना नहीं चाहता और चरित्र के खण्ड देकर तटस्थ भाव से अलग हो जाता है। जो वह देता है उनमें एकसूत्रता स्थापित करना पाठक का काम है।

परन्तु यह एकसूत्रता चरित्रगत या विचारगत एकसूत्रता नहीं होगी। इसे हम भावगत एकसूत्रता कह सकते हैं। रेमिन डे गोर्मोन्त ने इसे "इमोशनल ओरिएन्ट" कहा

है। वह कहते हैं "तर्क-संगति के नितान्त अभाव का आदी न होने के कारण पाठक पहले तो चिढ़-सा जाता है संगति खोजने के प्रयत्न में उसे अपनी बुद्धि पर जोर डाल कर उसे प्रतिसंवेदित कर लेना ठीक नहीं होगा। इस व्यवस्था में भाव-संवेदन के द्वारा ही वह रसनिष्ठ हो सकेगा। यदि वह कल्पना-चित्रों को अपने भीतर पड़ा रहने देगा तो उसे लगेगा कि उसने सूत्र को पकड़ लिया है। जैसे एक स्फुलिंग-मात्र से सारी पार्श्वभूमि जगमगा उठी हो।" वास्तव में नया उपन्यासकार चेतन मन का उपयोग नहीं करता। इसलिए तर्कगृहीत सम्बन्ध-सूत्रों की उसके उपन्यास में स्थापना असम्भव होगी। अब तक के साहित्य में तर्क-सम्बन्ध और विषय निर्वाह को सर्वोपरि माना गया था परन्तु जहाँ साहित्यकार ऊपरी मन के धरातल को छोड़ कर उपचेतन या अवचेतन के विरोधाभास-पूर्ण असंगत और अस्पष्ट विचार-प्रवाह को अपना स्रोत बनाता है, वहाँ तर्कशास्त्र सम्मत निर्वाह की कल्पना ही असम्भव है। परन्तु यहाँ प्रश्न यह हो सकता है कि ये असंगत भाव-खण्ड सम्पूर्ण चित्र कैसे दे सकेंगे। आज का उपन्यासकार इसकी कोई आवश्यकता ही नहीं समझता। यदि यह कहा जाय कि इस प्रकार हम चरित्र को पूर्णतया नहीं जान सकेंगे तो नया दृष्टिकोण कहता है कि हम अपने निकट से निकट सम्बन्धी का अन्तर्बाह्य पूर्ण रूप से नहीं जान सके हैं। कभी जान भी सकेंगे यह भी नहीं कह सकते। जब दैनिक जीवन में ऐसा है तो हम उपन्यासकार से यह क्यों चाहें कि वह हमें सम्पूर्ण व्यक्तित्व का चित्र दे। आज का उपन्यासकार यह विश्वास करता है कि मनुष्य की अन्तरात्मा उसकी अपनी चीज है। उसे छोड़ कर कोई उससे सम्पूर्णतः परिचित होने का दावा नहीं करता। फिर भी जो असम्बन्धित चित्र आज हमें उपन्यासकार देता है वे पात्र के मन की एक झाँकी देने में समर्थ हैं। केवल यह जानना होगा कि इन चित्रों में तर्कसिद्धता और गणित का जोड़-फल हमें नहीं ढूंढ़ना है। जीवन न तर्कों पर आधारित है, न गणित पर। उसमें अकल्पित और असम्भाव्य का भी स्थान है। वहाँ हमें मानफल से बड़ी या सब तरह से नवीन उपलब्धि भी मिल सकती है। आवश्यकता है कि हम अपने को पर्याप्त संवेदनशील बनाएं। हम उपन्यासकार के कल्पना-चित्रों में डूब जाएं और उनके प्रवाह में अपने को बहने दें तभी हम जीवन प्रवाह की वास्तविक अनुभूति प्राप्त कर सकेंगे।

४—नये उपन्यास में अन्तर्जीवन की प्रधानता है और उसके भीतर से बहिर्जीवन को देखने का प्रयत्न है। फलस्वरूप एक ही घटना को या एक ही चरित्र को विविध दृष्टिकोणों या पात्रों के माध्यम से देखा जाता है। नई चरित्र-दृष्टि चरित्रों को असंगत अव्वेतनीय प्रतिक्रियाओं का समाहार मानती है। इसी परम्परागत ढंग की चारित्रिकता और वस्तु-संगठन को आज अग्राह्य समझा गया है। आज का उपन्यासकार-मानव-जीवन के क्षण-क्षण के भावोत्थान-पतन का आलेखन मात्र करता है और उसी में जीवनाभास हमें देता है। परन्तु यह निश्चय है कि उसकी अपनी सीमाएं हैं जिनका अतिक्रम वह नहीं कर

सकता। आज उपन्यासकार के लिए कालक्रमागत जीवन उतना महत्त्वपूर्ण नहीं है जितना मूल्यगत जीवन को ले कर चलने से घटनाओंकी शृंखलाएं ही टूट जाती हैं और कथा, कथा नहीं रह जाती। वास्तव में कालक्रम और 'मूल्य' दोनों ही महत्त्वपूर्ण हैं और एक के लिए दूसरे की बलि उचित नहीं है। फारेस्टर ने अपने ग्रन्थ "आस्पेक्ट्स आफ द नाविल" (१९२७) में उपन्यास के वस्तु-संगठन पर विचार करते हुए इस सम्बन्ध में अपनी मान्यता देते हुए कहा है कि उपन्यास के ताने-बाने के भीतर कालक्रम को एकदम अस्वीकार कर देना उपन्यासकार के लिए असम्भव बात है। चाहे कितने ही सूक्ष्म रूप में हो उसे कथा-सूत्रों से चिपटा रहना होगा काल के अपरिसीम धाराप्रवाह को उसे अनिवार्य रूप से छूना होगा नहीं तो वह अबूझ हो जायगा और उपन्यासकार के लिए यह घातक गलती मानी जायगी। आधुनिक उपन्यास कालक्रमागत जीवन से ऊपर उठना चाहता है। एकमात्र मूल्यगत जीवन ही वह देना चाहता है। परन्तु कथा में आकांक्षा के जिज्ञासा और समाधान के जो सूत्र हैं वे उसकी पकड़ में आते रहते हैं और इसी से उसकी रचना में जीवन-प्रवाह की वास्तविकता होने पर भी उससे हमें सन्तोष नहीं होता। अन्त जीवन का अन्यतम उचित होने पर भी रचना अवास्तव ही रहती है।

आज उपन्यास कथा के सूत्र अनुस्यूत उपन्यासकार के हाथ में रखने का कायल नहीं है। वस्तु-संगठन तर्कमूलक बौद्धिक प्रक्रिया है और अन्त तक इस प्रक्रिया को लेकर चलने से रचना निष्प्राण ही हो सकती है। बहुधा घटनाएं और चरित्र उपन्यासकार के सूत्रों से स्वतन्त्र हो जाते हैं और उपन्यास को परिसमाप्ति ही के लिए उपन्यासकार उनके साथ बलात्कार करता है। नया दृष्टिकोण इसे अनाचार समझता है। उपन्यास रूपरेखा को लेकर चले ही क्यों? क्या वह स्वाभाविक अथवा प्रकृत रूप से विकसित नहीं हो सकता। वह समाप्त हो ही क्यों? क्या वह खुला नहीं रह सकता। जीवन की भांति वहां भी सब कुछ सम्भावनाओं पर ही क्यों नहीं छोड़ दिया जाय। सूत्रधार न होकर उपन्यासकार रचना के भीतर अपने को भी क्यों नहीं डाल दे और किसी अकल्पित लक्ष्य की ओर बढ़ने का आनन्द ले। इसमें सन्देह नहीं कि वस्तु-संगठन कथा को आकर्षक और रोचक बना देता है परन्तु वस्तु-संगठन नाटक से उधार ली गई चीज है और रंगमंच की सीमाओं की उपज है। उपन्यासकार किसी भी रंगमंच से बँधा नहीं है। वह जीवन की व्यापकता का आभास क्यों नहीं दे? यह स्पष्ट है कि नए उपन्यास ने अपने को नाटक और काव्य के प्रतिबन्धों से मुक्त करना चाहा है और इसीलिए कालक्रम और वस्तु-संगठन की उसने उपेक्षा की। इसीलिए आज उपन्यास कही जाने वाली चीज एक नई साहित्य-कोटि बन गई है।

५—नए उपन्यास की एक अन्य विशेषता उसकी विचारमूलकता है। वैसे हेनरी जेम्स के समय से ही उपन्यास विचारों का वाहन बना हुआ है परन्तु आज वह विचारमूलकता जीवन-दृष्टि में बदल गई है। टाल्सटाय ऐंद्र जीद, सार्त्र सब कथा को जीवन

सम्बन्धी उहापोह का साधन बनाते हैं। जहाँ जीवन-प्रवाह को पकड़ने की चेष्टा है वहाँ भी जीवनदृष्टि की नवीनता ही प्रतिबिम्ब है। इस प्रकार नया उपन्यास जीवन का चितेरा नहीं जीवन का समीक्षक है। वह 'मूल्य' देता है औपन्यासिक रस वास्तविकता प्रदर्शन की उपलब्धि में उसके लिए आज महत्त्वपूर्ण नहीं है। रैल्फ फ़ाक्स ने इसी परिवर्तन में उपन्यास का ह्रास देखा है। परन्तु जो हो यही नई दिशा आज उपन्यास ने ग्रहण की है और इसी में उसने नई सम्भावनाओं की कल्पना की है।

६— नये उपन्यास में सामूहिक और व्यक्तिगत जीवन के बीच पटरी बिठाने की चेष्टा भी दिखलाई पड़ती है। रूसी उपन्यासों का तो यह विषय है ही क्योंकि रूस में सामूहिक जीवन के विकास का प्रयत्न हो रहा है और नये समाजवादी यथार्थ में मनुष्य की व्यक्तिगत चेतना नहीं उसकी समाजगत चेतना ही व्यक्त है परन्तु पश्चिमी यूरोप के उपन्यासकार भी एक रूप से इसी प्रश्न को लेकर चल रहे हैं। उपन्यास ही क्यों काव्य और नाटक भी मूल रूप से इसी समस्या को लेकर चलते हैं। इब्सन और शॉ के नाटक और वेल्स की रचनाएँ इस द्वन्द्व को प्रारम्भ में हमारे सामने लाये और उन्होंने मनुष्य की मौलिक समाजमूलकता का उद्घाटन किया। बाद में व्यक्तिवाद के समर्थक भी सामने आये और समसामयिक युग में साम के नाटकों में यह व्यक्तिवाद अपने सबसे नग्न रूप में दिखलाई देता है। इस समय पश्चिमी यूरोप मनुष्य की व्यक्तिगत चेतना का प्रतीक है और पूर्वी यूरोप सामूहिक जीवन का प्रयोग कर रहा है। उपन्यास में यह द्वन्द्व स्पष्ट रूप से सामने आता है।

७—उपन्यास से क्षेत्र में सब से बड़ा परिवर्तन टेकनीक के क्षेत्र में हुआ है। आज उपन्यासकार निर्वैयक्तिक रूप से वस्तुनिष्ठ होना चाहता है। तटस्थता उसकी कला का प्राण बन गई है। फलतः कथा कहने के विविध ढंगों का उसने आविष्कार किया है। आज उपन्यासकार सम्पूर्ण जीवन नहीं देना चाहता। इसी से आज वह कहानी में मनुष्य की सम्पूर्ण आत्मा को ही भर देना चाहता है। उसकी कला आज रूपात्मक या अभिव्यंजनात्मक है। आन्तरिक संवाद और अन्तश्चेतन प्रवाहमूलक पद्धतियाँ उपन्यास की आध्यात्मिकता प्रदान करने में समर्थ हैं। वह बहिर्जीवन की चीज न होकर अभ्यान्तर जीवन की उपलब्धि हो गया है। नई-नई अभिव्यंजना-शक्तियों का आविष्कार हो रहा है और भाषा-शैली के नये मार्मिक प्रयोग सामने आ रहे हैं। "मुक्त आसंग" (फ्री एसोसिएशन) की पद्धति सांकेतिकता का प्रयोग प्रतीकवाद (विशेष रूप से स्वप्न प्रतीकों और यौन प्रतीकों का व्यापक उपयोग) और इसी प्रकार की दूसरी नवीनताएँ नई उपन्यास-कला का निर्माण करती हैं। उपन्यासकारों ने तर्क-संघर्ष को छोड़ दिया है और वे भाव-सरणि को प्रधान बना कर चले हैं। तर्कबद्ध बौद्धिकता के द्वारा नहीं भावमूलक प्रतीक व्यंजना के द्वारा नया उपन्यासकार हमें नई औपन्यासिक संवेदना देना चाहता है। यही नहीं उसका शिल्प भी आज उसकी नई आवश्यकताओं की पूर्ति करने

पर ही सफल है और उसका रूप भी बदल गया है। उपन्यास का प्रारम्भिक विकास नाटक, आख्यान और महाकाव्य के आधार पर हुआ और जहाँ नाटकीय आकांक्षा निर्वाह की पद्धति वस्तु-संघटन में प्रमुख मानी गई, वहाँ उपन्यास के रूपविधान में महाकाव्यात्मकता को प्रश्रय मिला। आज का उपन्यास उपन्यास को निर्बन्ध निबन्ध और संगीत की पद्धति पर ले जा रहा है। फारेस्टर ने टाल्सटाय के "वार एण्ड पीस" उपन्यास में और प्रूस्त की रचनाओं में संगीतात्मक अनुक्रमों और लयों की खोज की है। एक ही प्रकार की स्थिति, भावना या शब्दावली की पुनरुक्ति अथवा समानान्तर घटनाओं एवं भावों के विकास से उपन्यासकार 'सिम्फ़ोनी" (वीथिबन्ध) का आभास हमें देता है। उपन्यासकार की अन्तर्चेतना और अभिव्यंजना संगीत-कला के विकास के समानान्तर रखी जा सकती है जो नई उपलब्धि है।

हिन्दी उपन्यास का प्रथम चरण 'परीक्षा-गुरु' (१८८२) से प्रेमचन्द के सेवा-सदन (१९१६) तक चलता है। इन ३४ वर्षों में हिन्दी उपन्यास प्रमुखतः बंगला मराठी और उर्दू के उपन्यासों को आदर्श मान कर चलता रहा। फारसी उपन्यासों के अनुवाद के रूप में तिलिस्म-ए-होशरुबा और चमन ऐयार जैसी रचनाएँ भी सामने आईं जिन्होंने खत्री के "चन्द्रकान्ता सन्तति" और "भूतनाथ" जैसे उपन्यासों को प्रभावित किया। रेनाल्ड, वाल्टर स्काट और उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध के अपराध-सम्बन्धी जासूसी उपन्यासों ने हिन्दी उपन्यास की जासूसी-धारा का प्रवर्तन किया। अपने यहाँ की काव्यात्मक आख्यान (कादम्बरी)—परम्परा की ओर भी लोगों का ध्यान गया। परन्तु प्रमुख रूप से बंकिम सामने आये। वास्तव में इन वर्षों की मौलिक रचनाएँ मात्र ऐतिहासिक दृष्टि से ही महत्वपूर्ण हैं। यूरोप के उपन्यास से हमारा परिचय अंग्रेजी के माध्यम से था। फलस्वरूप अंग्रेजी उपन्यास ही हमारे पथ प्रदर्शक बने। परन्तु इक्का-दुक्की रचनाओं को छोड़ दें तो इन वर्षों का औपन्यासिक विकास पश्चिम की ओर नहीं देखता। वह अन्य भारतीय भाषाओं के साहित्य से रस खींचकर सम्पृक्त होता है।

प्रेमचन्द ने ही पहली बार पश्चिम के उपन्यास-साहित्य से व्यापक रूप से हमारा सम्बन्ध जोड़ा। मेरी कारेली और हेनरी से लेकर डिकेन्स, थैकरे, गेल्सवर्दी और टाल्सटाय तुर्गनीव तक उनकी दौड़ थी। गोर्की के साहित्य को भी उन्होंने रस लेकर पढ़ा था और गोर्की की मृत्यु का समाचार पाकर उन्होंने रोगशय्या से उठकर औपन्यासिक जगत की इस महान् क्षति पर शोक प्रकट किया था। एक प्रकार से यह कह सकते हैं कि प्रेमचन्द में हमें १९१ तक के यूरोपीय उपन्यास-विकास का बहुत कुछ पा जाता है। १९१०-१९२० की नई औपन्यासिक शक्तियों (डी० एच० लारेन्स, फारेस्टर, वर्जिनिया वुल्फ) से वे परिचित नहीं थे। फ्रेंच उपन्यास को उन्होंने छुआ भी नहीं। मोपासा, जोला और प्रूस्त जैसे उपन्यासकार उनके क्षेत्र से बाहर थे। प्रेमचन्द का नैतिकता-प्रधान एवं सुलझा हुआ व्यक्तित्व नए प्रयोगों में पड़ना नहीं चाहता था। वे नये प्रयोग नये युग-धर्म की

पुकार है। यह वे जानते थे परन्तु अपनी सीमाएँ भी समझते थे जैसा उन्होंने जैनेन्द्र से स्वीकार किया है। जहाँ तक उनके उपन्यासों के आदर्शवादी स्वर और उनकी आन्दोलन ममता का सम्बन्ध है रूसी उपन्यासों ने उन्हें प्रेरणा दी। तुर्गनेव और टाल्सटाय के साहित्य से उन्होंने सरल ढंग से मानवीय हृदय की गहराइयों में उतरना सीखा। "प्रेमाश्रम" "रंगभूमि" और "कर्मभूमि" में रूसी उपन्यासों का प्रभाव स्पष्ट है यद्यपि "गोदान" में वे अपनी नई चीज दे सके हैं। "सेवा-सदन" "निर्मला" "प्रतिज्ञा" और "गबन" में उन्होंने बंग की उपन्यास की ओर देखा है। वास्तव में उनकी कला में बंग की और रूसी उपन्यास का सेतुबंधन हो गया है।

परन्तु जैनेन्द्र नई भूमि लाए। यह भूमि मोपासां और प्रूस्त की भूमि थी। जहाँ हिन्दी उपन्यासकारों के एक वर्ग ने जोला के यथार्थवाद को अपनाया वहाँ जैनेन्द्र विचार और अभिव्यंजना के नवीनतम प्रकरण लेकर उपस्थित हुए। उन्होंने कई बार कहा है कि उनके उपन्यासों में फ्रायड को ढूंढ़ना बेकार है क्योंकि फ्रायड उन्होंने बहुत बाद में पढ़ा। परन्तु इसमें संदेह नहीं कि फ्रेंच उपन्यासों को उन्होंने पढ़ा था और यूरोप की नई औपन्यासिक प्रगति से उनका परिचय था। इसीलिए उन्होंने रूप-गठन टैक्नीक और अभिव्यंजना के क्षेत्रों में नए प्रयोगों से आरम्भ किया। "परख" और "सुनीता" में उन्होंने चारित्रिकता बनाए रखनी चाही परन्तु चरित्र की विस्तृत रूपरेखाएँ देने पर भी उनकी अंतरंग प्रवृत्तियाँ रहस्यमय और अबूझ रहीं। बाद के उपन्यासों में उन्होंने परम्परागत ढंग की चारित्रिकता को एकदम छोड़ ही दिया है।

जैनेन्द्र के उपन्यासों में दो प्रश्न अनिवार्यतः आते हैं—हिंसा-अहिंसा का प्रश्न तथा विवाह और प्रेम का प्रश्न। पहला प्रश्न गांधीवादी विचारधारा में अन्तर्निहित है और रवीन्द्रनाथ ने "घरे-बाइरे" और "चतुरंग" की औपन्यासिक भूमि पर इस प्रश्न को विवेचित किया है। जैनेन्द्र हिंसा पर अहिंसा की विजय दिखलाते हैं और हिंसात्मक राष्ट्रीयता को नैतिक पक्ष में दुर्बल और आत्मप्रवंचनात्मक मानते हैं। १९१२ में गांधी जी की खुली चुनौती ने हिंसात्मक राष्ट्रीयता को गहरा धक्का दिया। अनेक दल तोड़ दिये गए और क्रान्तिकारी नेता या तो पलायन कर गए या कांग्रेस समाजवादी दल अथवा साम्यवादियों में समा गए। इस ऐतिहासिक पृष्ठभूमि ने उन्हें हिंसा-अहिंसा के प्रश्न को राजनैतिक भूमि पर उपस्थित करने की प्रेरणा दी। क्रान्तिकारियों से उनका अपना परिचय भी था और उनके रोमांटिक मन का एक कोना उनके लिए बराबर खुला रहा। परन्तु जैनेन्द्र हिंसा में भी बड़ी दूर तक अहिंसा देखते हैं। उनकी असफलता का कारण क्रान्तिकारियों की प्रेम-सम्बन्धी आत्मप्रवंचना है हिंसा-अहिंसा सम्बन्धी कोई असमर्थता नहीं।

दूसरा प्रश्न हार्डी मान मोपासां प्रूस्त लगभग सभी आधुनिक कथाकारों में मिलता है। विवाह संस्थागत है, सामाजिक है। प्रेम व्यक्तिगत। व्यक्ति और समाज

संस्था का द्वन्द्व बीसवीं शताब्दी की सबसे प्रमुख समस्या है। प्रेम और विवाह के द्वन्द्व में यह द्वन्द्व छिपा है। मूल समस्या है प्रेम की। प्रेम क्या है ? क्या वह तन का है या मन का है या दोनों का है। प्रूस्त से बहुत पहले स्टेनढ़ाल ने प्रेम-सम्बन्धी एक सिद्धान्त उपस्थित किया था जिसे उसने "थ्योरी आफ क्रिस्टलाइज़ेशन" (आरोप-सिद्धान्त) कहा गया है। इसके अनुसार प्रेमी के मन में भावी प्रेम-पात्र का एक कल्पित चित्र रहता है और अपने इसी कल्पित चित्र को वह किसी व्यक्ति विशेष में प्रतिष्ठापित देखता है। वास्तव में प्रेमी अपने इस कल्पित चित्र से ही प्रेम करता है, अपने प्रेमपात्र से नहीं। प्रूस्त ने "थ्योरी आफ ऐबसेन्स" (अनुपस्थिति सिद्धान्त) के रूप में एक नया सिद्धान्त रखा जिसके अनुसार प्रेम कल्पना की व्यक्तिगत सृष्टि है,—इतनी कि प्रेमपात्र के सामने आने पर उसका अस्तित्व ही नहीं रहता। प्रेमपात्र की दैहिक अनुपस्थिति अनुपलब्धि निष्ठुरता या सतीत्व के प्रति सन्देह जिसके फलस्वरूप ईर्ष्याजन्य काम का जन्म होता है प्रेम के स्थायित्व के अनिवार्य अंग है। प्रूस्त ने इस विचारधारा को बड़ा आकर्षक विस्तृत और चमत्कारक रूप दिया है परन्तु इस विचारधारा को ऊपरी तल से ग्रहण करने पर वस्तुवाद का नग्नतम और वितृष्णाजनक रूप उपस्थित हो सकता है। "सुनीता" में जैनेन्द्र ने सुनीता के सतीत्व को खतरे में डाल कर श्रीकान्त की काम-जागृति की जो योजना की है वह ऊपर से ईर्ष्याजन्य नहीं है, परन्तु अवचेतन में ईर्ष्या है। प्रूस्त और ऐन्ड्रे जीद जैसे समसामयिक कलाकारों ने अपनी रचनाओं में व्यक्तिगत अवचेतन का विश्लेषण करते हुए संरति को ही प्रमुखता दी है और संरत चरित्रों का निर्माण किया है। श्रीकान्त के चरित्र में क्या उन चरित्रों की छाया नहीं है ? 'त्यागपत्र' और 'कल्याणी' में मृणाल और कल्याणी पातिव्रत्य की सूक्ष्म व्याख्या बन गई है। मृणाल असती रह कर भी परम पूज्य है क्योंकि वह तन ही देती है और शुद्ध समझ कर देती है और तन भारी नहीं है। "कल्याणी" में नारी के व्यक्तिगत और समाजगत (या विवाह संस्थागत) जीवन का द्वन्द्व निभाया गया है और इस निभने में कल्याणी टूट गई है। मन से एकनिष्ठ रह कर भी कल्याणी ने ऐसे व्यक्ति का वरण किया है जो उसे प्रिय नहीं है। वह उससे पत्नीधर्म निभाए जाती है और विवाहिता नारी का दायित्व पूरा करती है जो कमाती है वह भी उसे ही अर्पण करती है स्वतन्त्र जीवन की आशा छोड़ कर वह धर्म से मन लगाती है परन्तु अन्त में जब इस पत्नी धर्म को पूरा करने के लिए उसे अपने प्रेमपात्र (या प्रेमी) के प्रति भी आत्मसमर्पक बनना पड़ता है तो वह ग्लानि से मर जाती है। पति और प्रेमी का द्वन्द्व 'सुखदा' "विवर्त" और "व्यतीत" तीनों में मिलता है कहीं हिंसा-अहिंसा के प्रश्न से जुड़ा हुआ कहीं स्वतन्त्र परन्तु प्रेम की रहस्य-ग्रन्थि फिर भी खुल नहीं सकी है। यह अवश्य है कि जैनेन्द्र ने पति नाम के प्राणी से पत्नी के प्रति अपरिसीम उदारता की अपील की है जिससे वह अपना स्वतन्त्र जीवन जी सके और मनुष्य मात्र के प्रेम करने के अधिकार का उपभोग कर सके। फ्रेंच उपन्यासकारों जैसी सूक्ष्मदर्शिता और कलागर्भिता इन रचनाओं में भले ही नहीं हो इसमें सन्देह नहीं कि ज्ञात-अज्ञात रूप से जैनेन्द्र सिद्धान्तवादिता और विचारात्मकता की उसी भूमि पर चल रहे हैं। टैकनीक के लिए तो वे फ्रेंच कलाकारों के ऋणी हैं ही।

१८

जैनेन्द्र की भाषा-शैली

जैनेन्द्र के साहित्य में भावना का सहज स्वाभाविक प्रवाह नहीं है। भाव भी उनकी पग-पग पर रुकती हैं जैसे सतर्क हो उपेक्षाशील हो और सन्त्रस्त हों। इससे यह भ्रम भी होता है कि वह बहिरंग पर अधिक बल देते हैं यानी टेकनीक पर। परन्तु उन्होंने इस स्थिति को अस्वीकार किया है। "टेकनीक" सम्बन्धी एक प्रश्न का उत्तर देते हुए उन्होंने जो कहा है उसे हम उनकी कला का मूल सूत्र मानकर चल सकते हैं "टेकनीक तो होती भी है और नहीं भी होती। वह तो अपने आप ही जन्म लेती है। उसके लिए खास प्रयत्न नहीं करना पड़ता। कहानी-लेखक किसी घटना को सत्य को या भाव को अनुभव करता है और सहसा उसे पकड़ लेता है—वह उसके मन में बैठ जाता है। बस इसी बिन्दु से कहानी शुरू हुई और अपने आप ही बढ़ती गई। जहाँ खतम होना है वहाँ खतम हो गई जहाँ उसे रोका टेकनीक बिगड़ गई "उस समय तो हमें अपनी कलम का नेतृत्व एकदम त्याग देना चाहिए, वह जहाँ ले जाए आँख मूँद चल देना चाहिए। यदि हमारी अनुभूति सत्य है तो हम निःसन्देह सही रास्ते पर जायेंगे।" (कहानी कला पृ० १७१) "टेकनीक" के साथ कला का सम्बन्ध जुड़ा है। "टेकनीक" कला ही तो है। जैनेन्द्र नैतिकता समाजापेक्षिता धर्म दर्शन छन्द टेकनीक आदि सभी उन बन्धनों को जो बाहर से आते हैं अस्वीकार कर देते हैं। परन्तु भीतर का बन्धन उन्हें स्वीकार है। उनके शब्दों में "एक होता है आत्मनियंत्रण। वह तो कला में होता ही है। नहीं हो या कम हो तो कला हीनता या कला की न्यूनता होती है। परन्तु वह वस्तु-अर्पित है।" (कला नियन्त्रण पृ० २१८) इस प्रकार "टेकनीक" का कला अनुभूति से परिचालित है। सत्य को मूँदना नहीं उसे खोलना ही उसका उद्देश्य हो सकता है। अर्थात् "साहित्य और कला की रचना हमें बन्धनों से उत्तीर्ण करनेवाली हो सकती है।" (साहित्य और कला पृ० ४१०)

यह है तो कलाकार या साहित्यकार भाषा-शैली छन्द अलंकार रीति आदि की चिन्ता ही क्यों करे। वह आत्मनिष्ठ है तो ये सब अपने को सँभाल कर चलेंगे ही। शैली की चिन्ता में अपने को भुलाना भूल है। शैली आत्मा का प्रतिबिम्ब है यह तर्क नहीं है। वह व्यक्ति से अभिन्न है। अर्थात् आत्मा के अनुरूप हमारे समूचे व्यक्तित्व को व्यक्त करना

होगा। शैली को व्यक्ति के अनुरूप और रूप-भाषा को युग के अनुरूप होना होगा।" (वही पृ० ४२९) भाषा प्रयोग के क्षेत्र में जैनेन्द्र नई लीक डालते हुए चलते हैं। उन्हें आर्ष प्रयोगों से अधिक सहारा नहीं मिला है। व्याकरण की कड़ियों को उन्होंने जगह जगह तोड़ा है। अप्रचलित और असामान्य प्रयोग भी बहुत हैं। उनकी भाषा अनगढ़ है। वह सीधे उनके मन को कागज पर उतारती है। भाषा की रंगीनी उसमें नहीं है। वह तथ्य देती है शुष्क तथ्य परन्तु एकाध मोड़ यह बता देता है कि यह दार्शनिक की भाषा नहीं कलाकार की भाषा है यद्यपि बोझिला दर्शन भी उसमें जगह-जगह है। कहने का तात्पर्य यह है कि जैनेन्द्र की कला का सबसे सुन्दर रूप उनकी भाषा में देखा जाता है और कला भी यह कि कला नहीं है केवल लगती है। भाषा के सम्बन्ध में जैनेन्द्र कहते हैं "शब्द जब मुझसे बाहर उतना अपने को नहीं जितना मेरे भाव को कहते हैं तब साफ हो जाता है कि शब्द और भाषा की चिन्ता अपनी खातिर अनावश्यक है। गलत या सही आदमी होता है, भाषा स्वयं गलत या सही नहीं हो सकती। उसका मान तो सुधी और सहृदय पाठक के पास है।" (साहित्य और कला पृ २९८)

"प्रेमचन्द का गोदान यदि मैं लिखता" निबन्ध में जैनेन्द्र ने प्रेमचन्द के कलापक्ष पर भी विचार किया है। उनका दृष्टिकोण प्रेमचन्द के ठीक विपरीत पड़ता है। जैनेन्द्र थोड़े में कहने की कला जानते हैं। वह जानते हैं कि शब्दों को नहीं चुक जाना चाहिए।" बुद्धि की भाषा ही वाचिक है, व्यथा मौन द्वारा बोलती है। प्रेमचन्द में जहां भी शब्द मुखर है वहीं वे उनके द्वार मान बैठता और शब्दहीनता से सहारा ले पाता।" (प्रेमचन्द का गोदान पृ ११९) परन्तु जब कहीं यह सतर्कता कदाचित् अवांछनीय है और कहीं कहीं कृत्रिम और बोझल हो जाती है। लेखक जैसे कुलबुलाने लगा है। फिर जैसे उसके कन्धे पर बोझ बन गया है। जहाँ जैनेन्द्र मानसिकता का प्रकाशन करना चाहते हैं वहाँ वह अपने अल्प-स्वल्प प्रयोग में भी प्रभावशाली बन जाते हैं परन्तु भाषा के सम्बन्ध में यह कृपणता कभी-कभी अतिवाद की सीमा तक पहुँच कर अखरने लगती है। माना कि भाषा रूप-सज्जा है परन्तु रूप का शृङ्गार क्या सर्वथा ही उपेक्षणीय है? क्या यह आत्मा के भीतर हमें नहीं पहुँचा सकता या उसके द्वारा आत्मा की किसी-न किसी अंश में अभिव्यक्ति क्या असम्भव बात है? साहित्य में मर्म-बोध चाहिए, दर्द चाहिए, परन्तु क्या शब्दों की झंकारों से वह मर्म-बोध या दर्द हमें अधिक सुगमता से मिल जाता है। जो हो यह स्पष्ट है कि जैनेन्द्र ने जिस प्रकार उपन्यास के अन्तर्बोध के विषय में एक सिद्धान्त बना लिया है *वैसे उनके कलात्मक बहिर्बोध के विषय में भी। वास्तव में उनकी कला की परिभाषा* उनकी उपन्यास-कहानी की परिभाषा से ही फूटती है। वह दोनों क्षेत्रों में भावना-मात्र देना चाहते हैं। परन्तु जहाँ भावना अतलस्पर्शी है गंभीर है अथाह है वहाँ वह शब्दों का सहारा नहीं लेती। इसी से जैनेन्द्र का कहना है कि "साहित्य की भाषा की शक्ति सौन्दर्य न होकर मौन है। व्यक्ति की स्पर्द्धा नहीं बल्कि व्यथा उसकी शक्ति है। (गद्य-

विकास और कथा-उपन्यास पृ० १५५) इसीलिए वह साहित्य की भाषा में व्यंजना को प्रधानता देते हैं। वह लिखते हैं साहित्य की भाषा कभी सीधे नहीं सदा व्यंजना द्वारा ही अपना अभिप्राय देती है। यों भी कह सकते हैं कि वहाँ भाषा कह कर उतना नहीं कहती जितना कि अनकहा छोड़ कर कहती है। (वही पृ १५५) इसी लेख में उन्होंने एक स्थान पर कहा है सूक्ष्म अपेक्षाकृत अव्यक्त है वह रूप और वर्ण से अतीत है। एक शब्द में उसका गुण निर्गुणता है। मेरी मान्यता है कि भाषा की श्रेष्ठता का भी सबसे बड़ा लक्षण यह निर्गुणता ही है। भाषा मानों स्वयं में कुछ रहे ही नहीं केवल भाव की अभिव्यक्ति के लिए हो। भाव के साथ इतनी वह तद्गत हो कि तनिक भी न कहा जा सके कि भाव उसके आश्रित है। अर्थात् भाव उसमें से पाठक को ऐसा सीधा मिले कि बीच में होने के लिए कहीं भाषा का अस्तित्व रहा है, यह तक न उसे अनुभव हो।"(वही पृ० १२७) यह भी उन्होंने बतलाया है कि उपन्यासकार (या कथाकार) का मन वेग-वान और गतिशील अवश्य है परन्तु वह इतना वेगमय नहीं हो कि उच्छृंखल हो जाए। मत अपने उत्कर्ष में स्थूल से सूक्ष्म के आक्रमण की वेगमय नहीं हो कि उच्छृंखल हो जाए। मन अपने उत्कर्ष में स्थूल से सूक्ष्म के आक्रमण की ओर बढ़े यह वह चाहते हैं। उसमें भाव और अर्थ का ऐक्य अनिवार्य है। जैनेन्द्र कहते हैं " कहानी उपन्यास में भाषा सिर्फ अर्थ देकर सार्थक नहीं हो सकती। भाव को भी उसे युगपत चित्रित और जागृत करते जाना होगा। इस आवश्यकता में से कहानी एक ऐसी कला बनती जा रही है जिसे सिद्ध करना मुश्किल है। बोध-तत्व और चित्त-तत्व का समीचीन समन्वय साधन परम दुर्वह कार्य है। उसमें बुद्धि के लिए अपने सहज दर्प का परिहार करना अपरिहार्य होता है। हृदय के सहज रागों में बुद्धि की विश्लेषणशीलता का सन्निवेश हँसी-खेल का काम नहीं है।" (वही पृ० १२६)

संक्षेप में —कि भाषा भाव-बोध के अन्तर को उभारे व्यंजना-सम्पन्न हो बुद्धि से ऊपर उठकर सहज राग में प्रतिष्ठित हो। ज्ञान-गरिमा से युक्त भाषा जैनेन्द्र के विचार में कथाकार के काम की चीज नहीं हो सकती। उसकी गरिमा ही उसे बोझिल और व्यंजनाहीन बना देगी। उसकी "आत्यंतिक निश्चिति" उसे जड़ बना देगी। जैनेन्द्र प्रश्न करते हैं कि ऐसी भाषा लहरीली कैसे रहेगी जब कि लहराना जीवन का धर्म है। इस प्रकार भाव-जगत् की वाहिनी ही नहीं उससे एकरस हो उसमें से फूटती हो और अर्थ की पकड़ को बचाए देकर चलती हो। जिस प्रकार जैनेन्द्र घटनाओं और पात्रों में प्रतीक्षा रखना चाहते हैं उसी प्रकार भाषा में भी वह अस्पष्टता अतः सापेक्षिकता के पक्षपाती हैं। घटना-संघटन चरित्र भावसंधान भाषा —जैनेन्द्र-उपन्यास के इन अनुभूतों को किन्हीं निश्चित रेखाओं में बाँधना नहीं चाहते। भीतर मर्म (जैनेन्द्र के शब्दों में "धर्म") ही जो घटना-संघटन या घटना-वैविध्य मानसिकतामूलक परिणामस्वरूप और विलक्षण भावविस्फोट में केन्द्रीभूत हो और बाहर भाषा का एक वायवी आवरण हो जो धुएँ का

मूँदता हो और मूँदे को खोलता हो। भाषा के सम्बन्ध में यह दृष्टिकोण रोमांटिक कलाकार का दृष्टिकोण है। जैनेन्द्र की रहस्यमूलक "ईश्वर"-वादी जीवन-दृष्टि और उसके अनुरूप भाव-संलक्ष्य को इस दृष्टिकोण को लेकर चलनेवाली भाषा से बहुत सहारा मिलता है।

कला का एक रूप ऐसा होता है जो सहज बोध को लेकर चलता है। उसमें विवेक बुद्धि के स्थान पर अवचेतन मन की भाव विह्वलता को अधिक मान्यता मिलती है। अन्तर के इस सहज बोध को पकड़ना सरल काम नहीं है। मन के भीतर की गाँठों को टटोलते हुए लेखक जब अपने प्रवहमान व्यक्तित्व को बोधगम्य प्रतीकों और भावमय कल्पना-चित्रों के द्वारा शब्दों में बाँधता है, तभी वह अपने उत्तरदायित्व को निबाहने में सफल कहा जा सकता है। ऐसी स्थिति में भाषा व्यक्तित्व में घुल जाती है और उससे अलग किसी भी वक्तव्य की कल्पना असम्भव बात होती है। फलतः लेखक के भाषा-तत्त्व की अलग से विवेचना अकल्पित हो जाती है। उसमें वर्णित और वाह्य अन्दर और बाहिर, यथार्थ और अयथार्थ की विभाजन-रेखा समाप्त हो जाती है। जैनेन्द्र के साहित्य में भाषा की यही स्थिति है। वह ज्ञान की नहीं कर्म की नहीं मन की भाषा देते हैं परन्तु वह मन की भाषा विवेकमूलक नहीं है। विवेक में मनुष्य की पराजय है ऐसा जैनेन्द्र मानते हैं। इसी से जैनेन्द्र विशुद्ध भाव देना चाहते हैं या विवेकनिष्ठ भाव या भावनिष्ठ विवेक। भाषा की सारी व्यंजना-शक्ति से उन्होंने अपने सिद्धान्तनिष्ठ भाव-जगत् को चित्रित किया है।

१९

जैनेन्द्र : प्रेमचंद, शरच्चन्द्र और रवीन्द्रनाथ के परिपार्श्व में

प्रेमचंद और जैनेन्द्र आधुनिक हिन्दी उपन्यास के दो युग हैं। दोनों में दो ध्रुवों जैसी विभिन्नता है परन्तु उन जैसा ठोसपन और केन्द्रीयता भी है। दोनों की साहित्यिक प्रक्रिया और उनके साहित्य की तुलना अवांछनीय नहीं होगी। प्रेमचन्द ही जैनेन्द्र को सामने लाये और अपने आशीर्वाद की सारी शक्ति देकर उन्होंने उन्हें अपना उत्तराधिकार सौंपा और हिन्दी ने उसे माना। स्पष्टतः प्रेमचन्द जैनेन्द्र में कुछ देखते थे। वह क्या देखते थे और जैनेन्द्र से हिन्दी को क्या मिला, जो मिला वह प्रेमचन्द को आश्वस्त कर सकता था या नहीं ये विचारणीय प्रश्न हैं।

स्वयं जैनेन्द्र ने प्रेमचन्द पर काफी लिखा है और "प्रेमचन्द का गोदान : यदि मैं लिखता" में उनके साहित्यिक वैशिष्ट्य को भी उभारा है। इसी सिरे को लेकर हम बैठें।

प्रेमचन्द बड़े व्यापक हैं। उनकी कृतियाँ बड़ी विस्तृत हैं। कई उपन्यास पाँच सौ पृष्ठों से अधिक गये हैं और लोक-जीवन को उन्होंने बड़ी व्यापकता से देखा है। परन्तु अपने भीतर वह कम डूबे हैं। अपने को उन्होंने कम खोला है, सम्भवतः खोलने को कुछ अधिक था ही नहीं। वह स्वस्थ और सन्तुलित अन्तर्जीवन से सम्पन्न थे। इसके विपरीत जैनेन्द्र उपन्यास-क्षेत्र में डरते-डरते आये। उन्होंने २०—२२ पृष्ठों से बड़ा उपन्यास नहीं लिखा। उनके उपन्यास भी पुरानी परिभाषा के उपन्यास कम हैं, वे लम्बी कहानियाँ या प्रायः वे "लघु उपन्यास" की कोटि की चीजें हैं। बहिर्जीवन से उनका परिचय अधिक नहीं है। उन्होंने या तो अपने को खोला है या छिपाया है या अपने कथा-साहित्य में अपने को पाने की चेष्टा की है। वह भावना और कल्पना का सहारा लेते हैं और अपने लोक-ज्ञान की कमी को इससे पूरा करते हैं। फलतः उनकी साहित्यिक प्रक्रिया भिन्न है। उपन्यास उनमें प्रेमचन्द से भिन्न एक नये ही रूप को ग्रहण करता है।

धारणा की क्षमता और कल्पना की सूझ-बूझ प्रेमचन्द में अधिक है। वह कहानी के सूत्र दूर तक फैला देते हैं, उनके तिलिस्मी कलम के ज़ोर से अनेक स्त्री-पुरुष साथ

उठते हैं। परन्तु उनमें तीव्रता उतनी नहीं है। विस्तार अधिक हो गया है। फैलाव ज्यादा है, महत्ता-गहराई कम। जैनेन्द्र अपनी दुर्बलता को जानते हैं। बाहर के संसार को उतनी व्यापकता से जानना उनके लिए कठिन है। फलतः उन्होंने अपने लिए पिंड-दर्शन बना लिया है। जो पिंड में है, वही ब्रह्माण्ड में है। इसीसे सारे मनुष्यों को पढ़ना ठीक नहीं न पढ़ा ही जा सकता है। कुछ पर से ही सब को परखा जा सकता है। फलतः जैनेन्द्र के उपन्यासों में न पात्र बाहुल्य है न घटना-विस्तार। कुछ गिने-गिने पात्र हैं। लोगों ने तो चार पात्र तक कहा है। और जो होता है वह बाहर से अधिक भीतर यानी मन में होता है। इस प्रकार उनके कथा-साहित्य की कोटि प्रेमचन्द से भिन्न हो जाती है, एकदम नई कोटि। इस बात को स्वयं जैनेन्द्र ने इस प्रकार स्वीकार किया है (पात्रों की) संख्या की अधिकता अवगाहन में सहायक नहीं भी होती महत्ता विस्तार में छिप जाती है और सूक्ष्म कम अदृश्य गुण से प्रधान हो जाता है। उससे समाज का और समय का चित्र तो मिलता है, पर आत्मा की उतनी गहरी अनुभूति कदाचित प्राप्त नहीं होती। मुझे ठीक नहीं मालूम कि साहित्य का क्या लक्ष्य है वह हमें वस्तु-बोध देने के लिए है कि आत्म प्रकाश देने के लिए। साहित्य का जो भी इष्ट और अभिष्ट हो स्वीकार करना चाहिए कि मेरी अपनी रुचि विविध जानकारियों के प्रति उतनी नहीं है न परिचय के विस्तार के प्रति। परिचय अधिक से न हो किन्तु अभिन्नता कुछ से भी हो तो मुझे यह बड़ा लाभ जान पड़ता है। बहुत मित्र एक हो तो उसकी कीमत सौ जान-पहचान वालों से मेरे लिए ज्यादा हो जाती है। निश्चय प्रेमचन्द हमें बहुत देते हैं उतनी तरह-तरह की जानकारियां देते हैं कि हम थका नहीं सकते। लेकिन एक दूसरी तरह की उपलब्धि भी है। बौद्धिक से अधिक उसे आत्मिक कहा जा सकता है। वह व्यथा की सघनता के रूप में मिलती है। (प्रेमचन्द का गोदान यदि मैं लिखता पृ २१२—२१३।)

प्रेमचन्द के साहित्य में वक्तव्य स्पष्ट है। वह शोर भरा है। सब कुछ सद्-असद् में बँटा है। धर्मी धूर्त हैं नास्तिक सज्जन हैं। वर्ग हैं और उनमें परस्पर संघर्ष है। लेखक को यह साफ करना पड़ता है कि वह किसके साथ है। और नहीं तो चरित्र-चित्रण में यह दृष्टिकोण मुखरता स्पष्ट हो जाती है। प्रेमचन्द सामाजिक शक्तियों के घात प्रतिघात को अनिवार्य समझते हैं और प्रगतिशील शक्तियों को आगे बढ़ाते हैं। यही मत उनका है। परन्तु जैनेन्द्र व्यावहारिक नहीं हैं, उनका आदर्शवाद रोमांस मंडित है, क्रियात्मकता उनमें कम है या है ही नहीं। वह तटस्थ द्रष्टा हैं। समाज की विषमताओं और समस्याओं से वह परिचित हैं परन्तु उनके प्रति पक्ष-ग्रहण लेकर वह कथा की सृष्टि नहीं करते। प्रेमचन्द ने "गोदान" में होरी को सामाजिक परिस्थितियों का शिकार बनाया है। परन्तु जैनेन्द्र कहते हैं 'मेरी कोशिश होती कि दिखाता कि सब कैसे शिकार ही हैं और वृथा एक-दूसरे को शिकार बनाने का प्रयत्न करते हैं। असल में शक्तियां निर्वैयक्तिक हैं और उनमें सद् के साथ रहने और असद् के साथ लड़ने के लिए सहानुभूतियों

का बंटवारा करने की जरूरत नहीं है। (वही पृ० २१६) यह तटस्थता और वैज्ञानिकता ही जैनेन्द्र के उपन्यासों को सजीव और सप्राण नहीं बनने देती। उपन्यासकार दार्शनिक नहीं है, वैज्ञानिक नहीं है। निर्वैयक्तिक प्रवृत्तियाँ भी उपन्यास की अनुभूति में वैयक्तिक रूप ग्रहण कर लेती हैं। राग-द्वेषमूलक आन्तरिक भाव ही मूल औपन्यासिक भाव है। उसे बचा कर हम उपन्यास को नीरस और जड़ ही बना सकते हैं। इसी से जैनेन्द्र के उपन्यासों में मांसलता नहीं है। उनमें विदग्धवादिता का चमत्कार ही अधिक है।

मनोदर्शन और विश्लेषण उपन्यासकार की बौद्धिक पकड़ के प्रमाण हैं। प्रेमचंद में ये तत्त्व उतने अधिक नहीं हैं जितने शरद में परन्तु इनका नितान्त अभाव भी नहीं है। चरित्र के गुण इन्हीं दोनों तत्त्वों पर आधारित रहते हैं। परन्तु जैनेन्द्र उनके प्रतिपादन में कुछ भी निश्चित कहने से बचते हैं। कहते हैं कि "ज्ञान आखिर हमारा अनुमान है। क्या उसके आगे प्रश्न-चिह्न नहीं है? इससे कल्पित भर देना निदान नहीं"। (वही पृ० २१४) यह ठीक है कि हम अपनों को भी पूरा नहीं जानते अपने को भी अधूरा ही जानते हैं। परन्तु यह जीवन की विवशता है। उपन्यास जीवन से कुछ भिन्न है, कुछ कम है, कुछ अधिक है। उसमें जानकर ही बना जाता है। उपन्यासकार की सर्वज्ञता का दावा भले ही असत्य हो, भ्रामक हो, परन्तु अपनी सृष्टि से वह सुपरिचित क्या नहीं रहे। किसी भी व्यक्ति का समस्त अन्तर्बाह्य हमारे सामने नहीं आता। फलतः हमारा अपना भी हमारे लिए अज्ञेय है। परन्तु उपन्यास के पृष्ठों में जो चरित्र उभरते हैं उनके अन्तर्बाह्य हमारे सामने इतनी पूर्णता से क्यों नहीं व्यंजित हो सकें कि हमें जानने को कुछ शेष नहीं रह? वास्तव में अज्ञान दर्शन का विषय है, कला के क्षेत्र में उसे आरोपित करने पर उलझन ही बढ़ेगी।

दोनों के शिल्प विधान में तो धरती-आकाश का अंतर है। प्रेमचन्द खुलकर कहते हैं, जैनेन्द्र मौन की कला में सिद्धहस्त हैं। वह देते कम हैं छिपाते अधिक हैं। उनमें व्यंजना का ऐश्वर्य है। प्रेमचन्द की बाहुल्य भाषा उन्हें कहाँ प्राप्त है? उनकी कलम की बादशाहत से वह अपरिचित हैं। प्रेमचन्द की मंजी-घुटी व्यावहारिक अल्हड़ मुखर भावप्रवण भाषा-शैली को उचित लोकोत्तर दाद कहनी है, जैनेन्द्र को नहीं मिली है। यह कहीं कहीं प्रेमचन्द की कला की दुर्बलता भी पा गई है परन्तु यही उनकी सबसे बड़ी शक्ति भी है। उसमें सजगता है, आत्मीयता है, प्रवाह है परन्तु अपनी बनावट नहीं है। जैनेन्द्र में भी बनावट नहीं है, वह शिल्प और टेक्नीक से आपन्न है, परन्तु सरल अनगढ़ अटपटी भाषा में वह अधिकांश दुर्बोध्य ही रह है। उन्होंने भाषा को गद्य से ऊपर उठने नहीं दिया। उस पर दार्शनिकता का बोझ डालकर उसे पंगु नहीं कर डाला। रूप रंग आकार प्रकार प्रकृति किसी को भी भाषा की चित्र-शक्ति देकर उन्होंने नहीं उभारा। विचारों का कसाव और भावनाओं का विस्फोट ही उनकी भाषा-शैली में हमें दिखे। यह तो है कि जैनेन्द्र की भाषा विचारात्मक है परन्तु वह भीतर से नहीं आती इसी से

सीमांत को छू कर चली जाती है। उसमें अपने ढंग का "ठेठ हिन्दी का ठाठ" है। सूक्तों और सूक्तियों में उनकी भाषा को जगह-जगह चमका दिया है परन्तु वह हमें फिर भी आश्वस्त नहीं कर सकी है। हम उसके प्रति बराबर शंकालु बने रहते हैं। अपने भाषा सम्बन्धी दृष्टिकोण के विषय में उन्होंने स्वयं लिखा है, मुझे व्याकरण की चिंता पकड़े समय बहुत नहीं रहती। भाषा की चुस्ती का या उसकी शिथिलता का ध्यान उसी के ध्यान की गरज से मैं नहीं रख पाता। भाषा की खूबी या कमी को सम्पूर्ण वस्तु के मर्म के साथ उसका किसी न किसी प्रकार सामंजस्य या वैषम्य बिठाकर मैं लेना चाहता हूँ। अतः यह नहीं कि मैं उस ओर नितांत उदासीन या क्षमाशील रहता हूँ, परन्तु वहीं समाप्त करके नहीं बैठ रहता। (प्रेमचन्द की कला पृ० १००) यह स्पष्ट है कि प्रेमचन्द की भाषा कला जैनेन्द्र की भाषा कला से भिन्न स्तर की चीज है। जैनेन्द्र ने भाषा को भीतरी तत्व से अलग करके देखा है परन्तु वास्तव में वह भीतरी तत्व के साथ चलती है। प्रेमचन्द की बात निर्णीत चुस्त निश्चित होती है इसलिए कि प्रेमचन्द का अंतरंग भी निर्णीत चुस्त और निश्चित है। जैसा जैनेन्द्र का अंतरंग भी है ऐसा कहने में संकोच होता है। प्रेमचन्द जिस प्रकार पाठक को विश्वास में ले लेते हैं उसी प्रकार जैनेन्द्र नहीं चलते हैं यहीं तो भाषा का भेद हो जाता है। प्रेमचंद के पात्रों के साथ हमारी सहज जान-पहचान रहती है। जैनेन्द्र के पात्र अबूझ रह जाते हैं। वे बुद्धि-प्रयोग के बाद भी रहस्यमय रहते हैं। लगता है जैसे लेखक ने बुद्धि की पराजय दिखलाने के लिए ही उनका निर्माण किया है। इसी से अतर्कित बात करते हैं और उनकी भाषा की सरलता भी हमारे लिए दुरूहता बन जाती है।

जैनेन्द्र की उपन्यास-कला में पाठक के प्रति एकदम अपेक्षाभाव नितान्त प्रबलतम स्पष्ट है जो उनके और पाठक के बीच में बार-बार आ जाता है और सहज रस-बोध में व्यवधान ही पैदा करता है। प्रेमचन्द में यह निरपेक्षता जरा भी नहीं है। वह हमारे सुख दुख के साथी हैं हमारे पथ प्रदर्शक हैं। जैनेन्द्र में वह बोध नहीं है। वह बीच-बीच में कथा की कड़ी तोड़ देने को कला मानते हैं। पात्रों का उतना ही रूप वह फैलाते हैं जो उन्हें वांछित है। वह हमें बूझने-उलझाने देते हैं। उपन्यास या कथा के द्वारा वह पाठक को प्रभावित करना चाहते हैं और उस प्रभाव को दृढ़ करने के लिए बहुत कुछ छिपा जाते हैं। वह चाहते हैं कि पाठक सतर्क और उद्बुद्ध होकर चले प्रवाह में बह नहीं जाये। परन्तु उद्बुद्ध और जागरूक पाठक अन्त में कहीं पहुँचना भी चाहता है। नहीं पहुँचता तो क्षोभ से भर उठता है। जैनेन्द्र उस क्षोभ को बचाना नहीं जानते।

प्रेमचन्द उपयोगितावादी नहीं हैं। वह जीवन के विकास के कला का पल्ला पकड़ते हैं। जैनेन्द्र स्पष्टतः उपयोगितावादी नहीं हैं, परन्तु वह कलावादी भी नहीं हैं। उन्होंने अपने दृष्टिकोण के सम्बन्ध में लिखा है "मुझे कहना हो तो कहूँ—आर्ट फ़ार मार्ड्स सेक अर्थात् परमात्मा के प्रति सत्य के प्रति कलाकार का दायित्व है। इसको

कलाकार जब समझेगा तो पाएगा कि उसका अपने मंतव्य के प्रति दायित्व है। इसलिए वह पाठक-समाज की धारणाओं की ओर से निरपेक्ष और निश्चिन्त होकर अपने प्रति सच्चा रहकर अपने को प्रकट कर सकता है। एक व्यक्ति समाज या पुस्तक के पात्र की भावनाओं की रक्षा के निमित्त अत्यंत आतुर हो उठने का कलाकार को अधिकार नहीं है इस सम्बन्ध में उसे अत्यंत निरंकुश होकर चलना पड़ता है। जिस प्रकार परमात्मा अपने विश्व का संचालन हमारी तुम्हारी परिमित समझ को देखते हुए, अत्यंत निरंकुश होकर करते हैं " (प्रेमचन्द की कला पृ० १०४) "ऊपर के तर्क से चलने वाली दुनिया की तुष्टि के लिये और उसके अहं-समर्थन के लिये कलाकार नहीं लिखता। इसी से कहा गया आर्ट फ़ार आर्ट्स सेक —अर्थात् कला का हेतु स्वयं कला है। किन्तु इसका ही सम्पूर्ण परिष्कृत रूप है आर्ट फ़ार गाड्स सेक और इसका अभिप्राय है कि कला अहंवादी बुद्धिवादी दुनिया को नष्ट करने या रचने की खातिर नहीं होती वह गाड अर्थात् सत्य की प्रतिष्ठा के लिये होती है।" (वही पृ० १०५)

ऊपर के वक्तव्यों में सत्य की प्रतिष्ठा और अपने प्रति सच्चा रहने की बात कही गई है। परन्तु यह "सत्य" क्या है कदाचित् लेखक का अनुभूत सत्य हो। यदि 'सत्य' 'अनुभूत सत्य' से भिन्न नहीं है तो प्रत्येक लेखक का अनुभूत सत्य क्या सत्य नहीं होगा ? इस प्रकार क्या कथा-जगत में यथार्थता का सृजन सम्भव नहीं है। यह स्पष्ट है कि जैनेन्द्र सत्य के भौतिक रूप को ग्रहण नहीं करना चाहते वह भावना के सत्य को प्रधानता देते हैं। फलस्वरूप वह जीवन की तर्क-सम्मत अनुभूति न देकर हमारे सामने जीवन की भावमय और कल्पित समान सृष्टि देते हैं। इस प्रकार वह सर्जक बन जाते हैं। यह "सर्जक" या "विधाता" समक शब्दों के वेष्ट में प्रतिष्ठित है। घटनाओं और पात्रों को वह अप्रत्याशित मोड़ दे देता है और हम चमत्कृत रह जाते हैं। स्पष्ट है अपने कथा साहित्य में जैनेन्द्र हमें जो "सत्य" देते हैं वह उन्हीं का सत्य है जैनेन्द्रीय सत्य है उसकी केवल सैद्धान्तिक स्थिति मात्र है,— या वह लेखक का अहं मात्र है। इससे अधिक हम उसे क्या समझें।

अपने प्रति सच्चा रहने की बात भी बुद्धि की पकड़ में नहीं आती। यह अपना क्या है जिसके प्रति लेखक सच्चा रहना चाहता है। "अपना" यानी अपनी आत्मा अपनी भावना अपने संस्कार। एक शब्द में अपना व्यक्तित्व। परन्तु व्यक्तित्व में मन के चेतन अवचेतन दोनों शामिल हैं। जैनेन्द्र बुद्धि को मनुष्य की हार मानते हैं। अर्थात् चेतन मन पराजित अवचेतन मन प्रधान हो जाता है। स्वयं जैनेन्द्र ने "अवचेतन" न कहकर "ईश्वर" कहा है। जहाँ बुद्धि हारती है वहाँ ईश्वर-बोध जागता है। परन्तु ईश्वर के आ जाने से जैनेन्द्र का अर्थ ही अनुमित होती हो इसमें उनके पात्र सहज नहीं हो पाते। दुमीधन बना ही रहता है। इससे जैनेन्द्र उन मनोविश्लेषकों की पकड़ में आ जाते हैं या उनके साहित्य में कुण्ठा आत्मरति स्वप्न आत्मपीड़न आदि भाव देखते हैं।

चेतन मन के उपयोग और सामाजिक निष्ठा एवं मानव-प्यार के कारण स्पष्ट ही प्रेमचन्द अधूरे नहीं हैं। वह ईश्वर की सृष्टि के व्याख्याता हैं स्वयं ईश्वर या विधाता बनने का उपक्रम वह नहीं करते। उनके साहित्य में "कर्म" प्रधान है "भाव" प्रधान नहीं है। इसीलिए उनमें कुशलता अधिक है, कुंठा कम है। जैनेन्द्र की तरह कदम-कदम पर ईश्वर को पेश नहीं करते। उन्होंने बड़ी विनम्रता से कह दिया है कि वह ईश्वर पर विश्वास नहीं कर पाते। परन्तु वह मनुष्य के प्रति पूर्ण आस्थावान हैं। जैनेन्द्र में मनुष्य के प्रति यह आस्था कहाँ है? कितनी है? अंतस्थ सत्य या ईश्वर के आराधीर होते हुए भी उन्होंने प्रेमचन्द से अधिक जीवनास्था क्या उभारी है।

प्रेमचन्द और जैनेन्द्र के साहित्य का एक अन्तर यह भी कहा जाता है कि प्रेमचन्द सामयिकता से बँधे हैं और जैनेन्द्र मानवीय चेतना के शाश्वत तत्वों को लेकर सामने आते हैं परन्तु निश्चय रूप से प्रेमचन्द अपने पात्रों में सामयिकता की परिधि को लाँघ गए हैं। जैनेन्द्र की शाश्वतोपासना निर्गुण की उपासना बन गई है—रहस्यमय और इन्द्रियातीत। उससे क्या साहित्यरस प्राप्त करना सम्भव है। वास्तव में सामयिकता के भीतर सार्वभौमिकता या शाश्वत की ओर जाना ही सफल उपन्यास-कला है—जैसा डिकेन्स में है टाल्सटाय और गोर्की में है केवल मात्र शाश्वत तत्व या चिरंतन सत्य दार्शनिक का बुद्धि विलास है। वह है भी या नहीं ही है, इसमें भी सन्देह किया जा सकता है। जिन समस्याओं को जैनेन्द्र ने उठाया है जैसे हिंसा-अहिंसा विवाह और प्रेम समष्टि और व्यष्टि वह भी जिस समाज-भूमि पर निर्भर रहती हैं। शाश्वत और चिरंतन तो एकमात्र ईश्वर ही है और ईश्वर कथा का विषय नहीं है। इसी से जैनेन्द्र की पग-पग पर ईश्वर की दुहाई हमें हास्यास्पद लगती है, यद्यपि वह धर्मप्राण पाठकों को भुलावे में डाल सकती है। सर्वकालीन और सर्वदेशीयव्यापकता मानव-बोध के द्वारा ही दी जा सकती है। यह चेतना प्रेमचन्द के उपन्यासों में भरपूर है। विराट मानव प्रेम अपरिसीम करुणा अनुकरणीय मानव्य असमाप्त सहृदयता ये यदि उच्च साहित्य के गुण हैं तो प्रेमचन्द में इनकी कमी नहीं है। इसके लिए प्रेमचन्द को दार्शनिक नहीं बनना पड़ा अधूरा नहीं होना पड़ा। यह चिन्तामूलक है न अध्ययन-प्रसूत। यह उनकी प्रकृति ही है। जैनेन्द्र का आत्म-बोध केवल-मात्र उनके व्यक्तित्व में सिमट कर संकीर्ण बन गया है और प्रेमचन्द का सर्वबोध उनके व्यक्तित्व को नष्ट करके सर्वव्यापी बन गया है।

सच तो यह है कि प्रेमचन्द और जैनेन्द्र के उपन्यास दो विभिन्न कोटियों की रचनाएँ हैं और उनकी यह विभिन्नता हमें आज मुक्त-कण्ठ से स्वीकार कर लेना है। ऐसा न करेंगे तो या तो हम प्रेमचन्द के साथ अन्याय करेंगे या जैनेन्द्र के साथ। दोनों कलाकारों में व्यक्तित्व भाव भाषा सर्जन-प्रक्रिया उद्देश्य—सब अलग हैं कहीं-कहीं विरोधी भी हैं। एक को बड़ा बताकर दूसरे को छोटा करना ठीक नहीं होगा। उपन्यास बड़ी लचकीली साहित्य-कोटि है। उसमें दोनों समा सकेंगे। दोनों हिन्दी के हैं यह क्या

हिंदी के लिए गर्व करने की बात नहीं है। जैनेन्द्र की निर्वैयक्तिक सत्यान्वेषी भावप्रवण जीवन दृष्टि क्या प्रेमचन्द की व्यक्तिनिष्ठ समाजमूलक आदर्शवादिता की पूरक नहीं है। क्या प्रेमचन्द के बहिर्जगत् का वर्ण-सौन्दर्य जैनेन्द्र के मानसिक जगत् के विभाजित भाव विन्यास से कम रहस्यमय है। प्रतिभा के अनेक रूप हो सकते हैं। उन्हें हम छोटा-बड़ा क्यों मानें? इस मूलभूत अन्तर को दृष्टि में रख कर ही हम प्रेमचन्द और जैनेन्द्र पर चर्चा करें।

अपनी रचनाओं में जैनेन्द्र ने अपनी रचना प्रक्रिया के सम्बन्ध में भी काफी कहा है। प्रेमचन्द के साहित्य में जीवन का वैविध्य सामने आता है। अच्छे साहित्य की यह शर्त है कि कर्ता अपनी कृति से "तदात्म" हो जाए। यह बात प्रेमचन्द के साहित्य में है। वह वस्तु-जगत् के चित्रकार होते हुए भी अपनी कृतियों से एकरस हो गये हैं। उनमें प्रेमचन्द के व्यक्तित्व का सर्वश्रेष्ठ अंश सुरक्षित है। जैनेन्द्र के साहित्य में जीवन से तादात्म्य का यह रूप नहीं मिलता। उनमें बहिरंतर जीवन का भेद मिट गया है। उनके अन्तरंग ने ही बहिरंग का निर्माण किया है। फिर भी उनका कहना है "मेरी और मेरी कृति का सम्बन्ध दूरी का नहीं है। एक तरह वह सम्बन्ध अभिन्नता का है। लेकिन जो तार हम दोनों को जोड़े हुए है वह एकदम अदृश्य है। इस तरह उसे असत कहना चाहें तो कह सकते हैं। रोमांटिक होना मुझे स्वीकार है। उसमें कर्ता और कृति का सम्बन्ध आत्मीय ही रहता है। रोमांस का सम्बन्ध सजीव है कृत्रिम नहीं। कोरा दिमाग का सम्बन्ध रहकर कठिन हो जाता है। उसमें लेखक और उसके लेख के बीच में आत्मीयता का फासला पड़ सकता है।" (मैं और मेरी कृति पृ. १६२) इस प्रकार उन्होंने अपने व्यक्तित्व और अपनी रचनाओं को कल्पना और अनुभूति के सूक्ष्म स्वर्ण-तारों से जोड़ना चाहा है। कहना उन्हें यह है कि उनकी रचनाएँ बौद्धिक नहीं हैं उनमें आत्मानुभूति का तत्व है कल्पना है, संस्कार है। एक शब्द में उनमें उनका अंतर्जीवन ही व्यक्तित्व प्रतीकों और प्रतीक घटनाओं के द्वारा रूपायित है। प्रेमचन्द के साहित्य में उनका मानवीय व्यक्तित्व ही उभरता है जो उनके द्वारा चित्रित बहिर्जीवन को संयमित नियमित सुन्दर एवं आदर्शनिष्ठ बनाता है। उनमें उनके भीतर की ग्रन्थियाँ नहीं दिखाई पड़तीं। सच तो यह है कि प्रेमचंद के निश्छल व्यक्तित्व में भीतर की ग्रंथियाँ हैं ही कहाँ। जैनेन्द्र जिसे अंतर्जीवन कहते हैं वह उनकी भावुकता आत्मकुंठा और आत्म-हीनता ही तो नहीं है। वह भीतर की ग्रन्थियों को ही तो निरपेक्ष भाव से सामने नहीं ला रहे हैं। इस वक्तव्य से कुछ इस प्रकार की शंका होती है फिर जब वह इस समस्या का मनन कर दर्शन की अबूझ पहेलियाँ ही बनाने लगते हैं तो एक प्रकार से मालूम पड़ जाता है। अपनी रचना को आत्मस्थ और अनन्य-संबंधित बतलाते हुए भी जब वह कहते हैं 'लेकिन कृति कर्ता में बंद तो नहीं। वह कला में अंतर्भुक्त होकर स्वतन्त्र भी कुछ है। इसमें कृति का श्रेय कर्ता को है यह मुझे नहीं लगता। सच तो यह है कि सोचने पर बात अनिश्चय ही

मुझे अपने में प्रतीत नहीं होता। लोग कहने वाले मिलते हैं कि वह कृत्रिम परिस्थिति में है। वैसे परिस्थिति अपने में भी कुछ चीज होती ही। किन्तु अपनी कृति का कर्ता मैं अपने को मानूँ तो यह भी मानना पड़ जायगा कि मेरे मरने के साथ उन्हें भी जी नहीं जीना है। यह मानना घोर अहंकार होगा। यानी मेरी कृति मेरी ही नहीं है जगत् और जगदाधार का उसमें हाथ है।" —जो कदाचित् कहना यह है कि वह (जैनेन्द्र) अपनी कृतियों से बड़े हैं उन्हें रच कर उनसे निर्लिप्त हैं —कि उनके साथ रचना का निरपेक्ष सम्बंध है और वह उनके बाद रहेगी तो उनके आश्रय नहीं किसी ईश्वर के आश्रय। यहाँ भी जैनेन्द्र का ईश्वर आता है और हमें मौन कर देता है।

प्रेमचंद किसी ईश्वर के नाते या उसकी प्रेरणा से रचना नहीं करने बैठते। वह भीतर की सद्भावना से प्रवाहित होकर बाहर देखते हैं और वहाँ उन्हीं दुख और विषमता पाकर भाव-विभोर हो लेखनी उठाते हैं। चित्रित करते हैं वह बाहर का जगत् परन्तु अब वह बहिर्जगत उनके अंतर में घुलमिल कर उनका अपना हो गया है। ईश्वर की उन्हें कोई जरूरत नहीं पड़ती। बात यह है कि जैनेन्द्र ने अपने निबंधों में अपनी रचनाओं और प्रेरणा-स्रोतों को बुद्धिगम्य बनाना चाहा है और बुद्धि की सूक्ष्मता ईश्वर पर समाप्त होती है। वैसे उनकी रचनाओं के बौद्धिक विन्यास के पीछे उनका भावुक (भावप्रवण) अमस्तिजीवी व्यक्तिनिष्ठ अहं ही विराजमान है। यही अहं उनके कर्ता और उनकी कृति के बीच का सूत्र है। इसे ही भ्रम से जैनेन्द्र ने "ईश्वर" कहा होगा। नहीं तो यह ईश्वर उपन्यास-कला का मूलाधार कैसे होगा। परन्तु यह स्पष्ट है कि मूल के इस "ईश्वर" के सम्बंध में प्रेमचंद और जैनेन्द्र दो ध्रुवों पर खड़े हैं।

शरच्चंद्र जैनेन्द्र के उपन्यास-साहित्य के अंतरंग में प्रतिष्ठित हैं और सामान्यतः पकड़ में नहीं आते। रवीन्द्रनाथ के साहित्य से भी जैनेन्द्र कम प्रभावित नहीं हैं, "सुनीता" पर "घरे-बाइरे" के प्रभाव को उन्होंने स्वीकार किया है और "परख" में "चोखेरबाली" की छाया है तथा "चतुरंग" की वस्तु और शैली का व्यापक प्रभाव बाद की दो रचनाओं "सुखदा" और "विवर्त" पर है। परन्तु शरत का प्रभाव अपेक्षाकृत सूक्ष्म है। वास्तव में जैनेन्द्र के साहित्यिक व्यक्तित्व के निर्माण में शरत का योगदान ही कदाचित् सबसे अधिक रहेगा। उनके साहित्य-सम्बंधी आदर्शों एवं मान्यताओं पर भी शरत की छाप स्पष्ट है। जैसा उन्होंने "ये और वे" संकलन में प्रकाशित "शरच्चंद्र चट्टोपाध्याय" शीर्षक निबंध में लिखा है कि उन्होंने "शरच्चन्द्र का नाम जीवन में जल्दी नहीं जाना। किताबें पढ़ी थीं और पढ़कर मन हिल गया था। उनकी कोई कहानी शायद ही बिना रुलाए रही हो।" शरच्चंद्र का स्मरण करते हुए उन्होंने लिखा है। "मझली दीदी बड़ी दीदी परिणीता पंडित जी चन्द्रनाथ विजया आदि मन की इसी स्थिति में मैंने पढ़ीं। पढ़कर शरद की मंझली और बड़ी दीदियाँ ठीक-ठीक मानो वैसी ही दीदियाँ मेरी भी बन

पाई थी। शरद के पंडित जी, चन्द्रनाथ, विजया एवं अन्य पात्र मेरे मन के निकट बहुत घनिष्ठ और प्रत्यक्ष बन-बन जाते थे। उनके दुःख के साथ मेरे मन में रोना उठता था। जी में अकुलाहट होती थी कि हाय इन (पात्रों) पर पड़नेवाली विपदा कैसे हो कि सब की सब मैं झेल लूं। सहानुभूति ऐसी उमड़ कर उठती थी। (ये आँखें पृ० १०८) वास्तव में शरच्चंद्र के साहित्य में जो चीज़ हमें सबसे अधिक छूती है, वह उनका आत्मदान है, जो कि गतिशीलता बन कर उनके कथा-पृष्ठों में भूरि-भूरि प्राप्त है, जो पाठक को चमत्कृत करने में अथवा बहा ले जाने में समर्थ है। जैनेन्द्र का यह अनुभव शरद के सभी प्रेमियों का अनुभव रहा है। 'अपने अभ्यन्तराभ्यन्तर में से क्या कुछ डालकर शरद ने अपने पात्र-पात्रियों को ऐसा सजीव और प्रत्यक्ष और प्रेरणामय बनाकर हमारे सामने प्रस्तुत किया कि हम मानों अनन्य कृतार्थ भाव से अपना जी उन (पात्र-पात्रियों) की मुट्ठी में दे बैठे। हमारे मन की बहुमूल्य अकड़ता में, अहंकार-अर्जित हमारे नाना नकार-निषेधों में शरद के किस अजस्र बल की ठेस लगी कि गल कर बहने को हो गये और मन कातर हो आया। किस भांति यह हो सका, जानना कठिन है। पर इसके अतिरिक्त जानना ही और क्या है?" (वही पृ० १०८) इसीलिए शरद को पढ़कर तृप्ति नहीं होती।

जैनेन्द्र शरद को कलाकार कहना नहीं चाहते क्योंकि कला की चतुरता उनमें नहीं है, आत्मदान है। यह आत्मदान भी कैसा कि "लगता है उन्होंने अपने भीतर कुछ नहीं छोड़ा, बूंद-बूंद दे डाला है।" शरद के साहित्य में बाहर-भीतर एक हो गया है क्योंकि "शरद ने अपने भीतर के दुर्लभ को उपलब्ध करने की राह में उसे हमारे लिए भी यत्किंचित् सुगम कर दिया। उन्होंने अपनी रचनाओं द्वारा जो चाहे पाया हो पर हमने तो उनमें बहुत-कुछ अपना मर्म पाया। शरद ने अपने को देकर पाया है।" (वही १०९) इस प्रकार शरद का साहित्य अप्रतिम है, अबूझ होकर भी वह हमारे मन को छूता है। इस निबंध में शरच्चंद्र और रवि बाबू के साहित्य की तुलना करते हुए लेखक ने यह इंगित किया है कि रवीन्द्रनाथ का अपने पात्रों से विशुद्ध प्रेम का ऐक्य नहीं होता, बीच में कहीं मनोविज्ञान को आ जुड़ने के लिए सुराख भी होता है, अर्थात् वे अपने पात्रों के प्रति और जगत् के प्रति प्रेमी से अधिक धीमान (इंटेलेक्चुअल) हैं। शरद अपने पात्रों और जगत् के प्रति एकरस हैं। वे जैसे आत्मवत् हैं। शरद के पात्रों की अद्भुतता का कारण जैनेन्द्र यही मानते हैं कि वे गढ़-चित नहीं हैं, सजीव हैं, उनका अपना जीवन, अपना स्वभाव है। वे नियम-निर्मित नहीं हैं और उनकी सृष्टि का सार शरद की अपनी आत्मा है जो देशकालातीत, सूक्ष्म, अबूझ और प्रेमरस से ओत-प्रोत है। ऐसा नैकट्य रवीन्द्र की रचनाओं में नहीं है।

शरद के उपन्यासों की जो चीज सब से अधिक महत्वपूर्ण और विचारी है वह है उनका दृष्टिकोण। शरद जीवन को जिस दृष्टि से देखते हैं उसमें परंपरागत नैतिकता का कोई

उच्च स्थान नहीं है। नीति-अनीति की सूक्ष्म परख है जो हमारी बँधी-छपी धारणाओं की विरोधिनी है। यही शरत की क्रान्तिकारिता है जो उनके साहित्य को चुनौती से भर देती है। 'साहित्य और नीति' शीर्षक अपने निबंध में उन्होंने उस धारणा का विरोध किया है जो साहित्य को आदर्शवाद और यथार्थवाद की दो तंग गलियों में बाँट देती है। शरत साहित्य में जीवन की सारी झाँकी देखते हैं। इसी से वे औपन्यासिक नैतिकता को सामान्य नीति-धारणा से विभिन्न मानते हैं। वे कहते हैं कि मैं दो शब्द प्रायः सुने जाते हैं आइडियलिस्टिक (आदर्शवादी) और रियलिस्टिक (यथार्थवादी) कहा जाता है कि मैं दूसरे सम्प्रदाय का सेवक हूँ। यह दुर्नाम ही मेरा अजन करके लिखा जाता है। आर्ट-वस्तु मनुष्य की सृष्टि है वह नेचर (प्रकृति) नहीं है। संसार में जो कुछ घटित होता है—और अनेक गन्दी बातें भी घटित होती हैं वह किसी तरह साहित्य का उपादान नहीं है। प्रकृति या स्वभाव की हू-बहू नकल करना फोटोग्राफी हो सकती है, किन्तु वह क्या तसवीर होगी? दैनिक अखबारों में अनेक रोमांच उत्पन्न करने वाली भयानक घटनाएँ छपती हैं वह क्या साहित्य है? चरित्र की सृष्टि क्या इतनी सहज है? (शरत्-निबन्धावली पृ० ८५) इसी पुस्तक में साहित्य और आर्ट में दुर्नीति की व्याख्या करते हुए उन्होंने बतलाया है कि आदर्शवाद और यथार्थवाद दोनों साहित्य में रहते हैं प्रत्येक रचना में रहते हैं हाँ कि कौन किधर कितना झुक कर चलेगा यह साहित्यिक शक्ति पर निर्भर है। वे यह मानते हैं कि इनमें से एक को बाद दे कर दूसरा नहीं होता। वास्तव और अवास्तव के सम्मिश्रण से वे पात्र गढ़ने की बात करते हैं परन्तु साथ ही यह भी कहते हैं कि इसमें अपार व्यथा अपरिसीम सहानुभूति और हृदय का अजस्र रक्त-स्रोत लगाने से ही चरित्र प्रस्फुटित होते हैं। "उसमें सुनीति और दुर्नीति का स्थान है किन्तु विवाद करने की जगह इसमें नहीं है।" (वही पृ ८६) अनीति को लेकर श्रेष्ठ साहित्य नहीं बनता तो प्रचलित नीति भी सद्साहित्य की गति को कुण्ठित करती है ऐसी ही उनकी मान्यता है। एक अन्य निबन्ध में आधुनिक साहित्य की दुर्नीतिमूलकता की कैफियत देते हुए उन्होंने अपने दृष्टिकोण को इस प्रकार विकसित किया है। वे कहते हैं। "भला और बुरा संसार में चिरकाल से है, शायद चिरकाल तक रहेगा। भले को भला और बुरे को बुरा आधुनिक साहित्य भी कहता है। बुरे की वकालत करने के लिए कोई साहित्यिक कभी किसी दिन साहित्यिक कभी किसी साहित्य की सभा में खड़ा नहीं होता। किन्तु बहुत कर नीति-शिक्षा देने को भी वह अपना कर्तव्य नहीं समझता। दुर्नीति का भी वह प्रचार नहीं करता। थोड़ा-सा ठहर कर देखने से उसकी दुर्नीति के मूल में शायद यही एक चेष्टा मिलेगी कि वह मनुष्य को मनुष्य ही सिद्ध करना चाहता।" (वही पृ ११४-५)

शरच्चन्द्र का विश्वास है कि साहित्य में नीति-अनीति का मापदंड वह नहीं है जो जीवन में है। साहित्य संस्कारों से मुक्ति देता है संस्कारों में बाँधता नहीं। उसक

मापदंड है प्रेम और सहानुभूति। इन्हीं पर वह नीति-अनीति की मांपना है। वेश्या वेश्या है और पापी दंडनीय है क्योंकि वह पापी है यह धारणा सत्य को छोटा करती है। वेश्या में भी सती को देखना संभव है और पापी का पाप पाप होकर भी अपने में कुछ ऐसा रख सकता है कि वह दंडनीय न हो "दोष प्रश्न" शीर्षक निबंध में अपनी अन्तिम रचना के विरोधी आलोचकों को उत्तर देते हुये जैनेन्द्र ने लिखा है देखो न लोग कहते हैं कि मैं पतिताओं का समर्थन करता हूँ समर्थन न नहीं करता केवल उनका अपमान करने को ही मेरा मन नहीं चाहता। मैं कहता हूँ कि वे भी मनुष्य हैं उन्हें भी प्यार करने का अधिकार है। और महाकाल के दरबार में इसका विचार जरूर होगा। अथवा" संस्कारों से बचे हो रहे लोग इस बात को किसी तरह स्वीकार करना नहीं चाहते। (वही पृ १२३) आगे चल कर उन्होंने अपने दृष्टिकोण की व्याख्या स्पष्ट रूप से इन शब्दों में कर दी है। "समाज-सुधार को कोई दुरभिसंधि मेरी नहीं है। इसी से इस पुस्तक के भीतर मनुष्य के दुःख और वेदना का विवरण है समस्या भी शायद है किन्तु समाधान नहीं है। यह काम दूसरों का है "मैं कहानी लेखक हूँ इसके सिवा और कुछ नहीं।" (वही पृ० १२६)

'साहित्य में मार्ग और दुर्नीति" निबंध में उन्होंने व्यक्ति और समाज एवं नीति और अनीति सम्बंधी अपनी उस विचारधारा का विस्तार किया है जो उनकी अपनी रचनाओं के केन्द्र में है। शरच्चन्द्र का विचार है कि सामाजिक न्याय का सबसे प्रकट रूप हमें प्रेम के क्षेत्र में मिलता है। मनुष्य-मनुष्य के सम्बन्धों में प्रेम का सम्बन्ध सबसे गम्भीर और व्यापक है परन्तु इसी सम्बंध पर समाज की नियंत्रण की दृष्टि सब से अधिक है एकनिष्ठ प्रेम और सतीत्व को लेकर हमने एक बड़ा हौवा खड़ा कर रखा है जो नर नारी की चरमतम उपलब्धि में बाधक है और जिसने हमारे मानवीय विकास को राहुग्रस्त कर लिया है। विशेषकर नारी का जीवन ही पंगु हो गया है। वह पति में ही सिमट कर रह गई है। उसकी उच्चतम वृत्तियाँ सतीत्व की वेदी पर बलि हो गई है। फलतः आज यह आवश्यक हो गया है कि नारी का वास्तविक मूल्य समझा जाय और उसके नारीत्व को उन्मुक्त किया जाय। यह विचारधारा जैनेन्द्र के उन उपन्यासों में भी मिलती है जो नारी-हृदय की संपूर्ण उपलब्धि को ध्यान में रख कर लिखे गये हैं और पति नाम के प्राणी से अपरिसीम उदारता की मांग करते हैं। पत्नी का जीवन पति की बाँहों में ही सिमट कर नहीं रह जाये यह सारे समाज को उपलब्ध हो ऐसी कुछ मांग उनकी है। इस मांग का अंकुर शरत्-साहित्य में है।

उपर्युक्त निबंध में शरच्चन्द्र ने अपनी मान्यताओं का विवरण देते हुए कहा है, "समाज वस्तु को मैं मानता हूँ किन्तु उसे देवता के रूप में नहीं मानता। बहुत दिनों के ढेर-के ढेर के जमा हुये नर-नारियों के बहुत से मिथ्या बहुत से कुसंस्कार बहुत से उपद्रव इसमें एक होकर मिल गये हैं। मनुष्य के खाने-पीने और रहन-सहन के बारे

में इसका शासन-दण्ड अति-सर्तक नहीं है किन्तु इसकी एकांत निर्मम मूर्ति दिखाई देती है केवल नर-नारियों के प्रेम के अवसर पर। मनुष्य को सबसे अधिक सामाजिक उत्पीड़न इसी जगह सहना पड़ता है। मनुष्य इससे डरता है इसकी कठोरता संपूर्ण रूप से स्वीकार करता है। बहुत दिनों की यह डर हुई यह पथ की समष्टि ही विधिवत् प्राचीन बन जाती है। समाज इससे किसी को छुटकारा देना नहीं चाहता। मर्दों के लिए इतनी मुश्किल नहीं है। मर्द के लिए बचना देने का रास्ता खुला है लेकिन जिसे कहीं कभी किसी तरह छुटकारे का मार्ग नहीं है वह है, केवल नारी। इसी से सतीत्व की महिमा का प्रचार ही विशुद्ध साहित्य हो उठा है किन्तु इस प्रीय देन्डा को ही नवीन साहित्यिक साधना का सर्वप्रधान कर्तव्य मान कर ग्रहण न कर सके तो उसकी निन्दा नहीं की जा सकती किन्तु शैथिल्य के भीतर भी उसके यथार्थ चित्रण की बहुत-सी चीजें छिपी हुई हैं यह सत्य भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता। एकनिष्ठ प्रेम की मर्यादा को नवीन साहित्यिक समझता है उसके प्रति उसके मन में सम्मान और श्रद्धा की सीमा नहीं है किन्तु वह जिस चीज को बरदाश्त नहीं कर सकता वह है बकमा और ढोंग। उसे जान पड़ता है कि इस ढोंग की दरार से भी भविष्य के वंशधर जिस असत्य को अपनी आत्मा में संक्रमित करके जन्म ग्रहण करते हैं, वही उनको जीवनभर के लिए कायर, कपटी निष्ठुर और मिथ्याचारी बना डालता है। सुविधा और प्रयोजन के अनुरोध से समाज में अनेक मिथ्याओं को ही शायद सत्य कह कर चलाना होता है किन्तु इन्हीं कारणों से जाति के साहित्य को कलुषित कर डालने के बराबर पाप थोड़े ही है। (वही पृ ६१) शरत की रचनाओं से यह स्पष्ट है कि उन्होंने स्त्री-पुरुष के प्रेम के क्षेत्र में समाज के उत्पीड़न को व्यापक रूप से और गहराई से देखा था। मनुष्य की असहिष्णुता की पराकाष्ठा वहीं उन्हें दिखाई दी। रवीन्द्रनाथ के साहित्य में इस सम्बंध में ब्रह्म-समाज को हिन्दू समाज से अधिक उदार दिखलाया गया है परन्तु शरत की रचनाओं से यह स्पष्ट है कि ब्रह्म-समाज भी असहिष्णुता से खाली नहीं है। वास्तव में मनुष्य के द्वारा मनुष्य का निष्पीड़न ही इस युग में सहज सत्य हो उठा है। ऐसे समय में न्याय की आशा यदि किसी से हो सकती है तो साहित्यकार से ही। वही नए मूल्यों को जन्म दे सकता है। जीवन गणित के सूत्रों से परिचालित नहीं होता इसीलिए युग-परिवर्तन के साथ स्मृतियों में परिवर्तन आवश्यक है। उपन्यासकार की कला की सार्थकता यही है कि वह परम्परा पर प्रश्न चिह्न लगाये और सूक्ष्म की ओर बढ़े।

शरत को दुर्नीति का प्रचारक कह कर बार-बार लांछित किया गया है। उनकी अधिकांश कहानियाँ वैवाहिक विडम्बनाएँ हैं। विवाह असफल होता है और अप्रत्याशित प्रेम लक्ष्य होता है परन्तु यह सफलता दैहिक न होकर आत्मिक है। "देवदास" "गृहदाह" और "चरित्रहीन" में एकनिष्ठ प्रेम को सतीत्व से बड़ा बताया गया है और लांछित होने पर भी उपन्यास की नायिका अपने भीतर प्रेम की ज्योति जलाए

रखती है। अपने प्रेम पात्र से वह कुछ नहीं चाहती। वह जानती है कि उसका प्रेम समाज-निर्वाहित है परन्तु वह देह के धरातल से ऊपर उठकर अतीन्द्रिय भाव-लोक में विहार करती है और समाज की अवज्ञा को अकुण्ठित मन से ओढ़ लेती है। 'पारो' ने देवदास से क्या चाहा और क्या पाया परन्तु जो उसने पाया उससे उसका सतीत्व कहाँ बाधित हुआ ? देवदास के प्रति एकनिष्ठ प्रेम रखते हुए भी वह अकलुष रही। शरच्चंद्र की भावुकता और आदर्शवादिता ने नारी को पंक से बचा लिया है और उसे अपार सहवेदना और प्रबल सेवाव्रत की ज्योति से मण्डित कर दिया है। पति पत्नी और प्रेमी के त्रिकोण को लेकर शरच्चन्द्र चलते हैं। पतिनिष्ठ नारी भी अमर्यादित प्रेम के आह्वान को अस्वीकार नहीं कर पाती परन्तु शरच्चंद्र इसे नारी की दुर्बलता नहीं उसका बल बना देते हैं। अपने ही मन के विरोधों से लड़ कर वह टूट जाती है। समाज से विद्रोह करना उसके लिए कठिन नहीं है परन्तु अपने से लड़ना उसके जीवन का अभिशाप हो जाता है। फिर भी अंत तक वह दीपशिखा की तरह अकलुष जलती है और समाज की 'छि–छि' उसे छू नहीं पाती।

शरत के उपन्यासों की इस पृष्ठ-भूमि में हम जब उनके इस विचार से अवगत होते हैं कि "परिपूर्ण मनुष्यत्व सतीत्व से बड़ा है" तो हमें आश्चर्य नहीं होता। 'साहित्य में आर्ट और दुर्नीति' निबंध में ही एक स्थान पर उन्होंने इस युक्ति की व्याख्या इस प्रकार की है 'परिपूर्ण मनुष्यत्व सतीत्व की अपेक्षा बड़ा है यह बात एक दिन मैंने कही थी। मेरी इस उक्ति को गिड़ायत गया कर देकर मेरे विरुद्ध बेहद गाली-गलौच किया गया। लोग जैसे एकाएक पागल हो उठे। मैंने अत्यंत सती नारी को चोरी करते झूठा गवाही देते धीर मुठी गवाही देते देखा है और ठीक इससे उलटा देखना भी मुझे नसीब हुआ है। इस सत्य को नीति की पुस्तक में स्वीकार करने की आवश्यकता नहीं। किन्तु बूढ़े लड़के-लड़कियों को कहानी के मिस यही नीति की बातें सिखाने का भार साहित्यकार को अपने ऊपर लेना पड़ तो मैं कहता हूँ कि साहित्य का न रहना ही अच्छा। सतीत्व की धारणा सदा एक ही नहीं रही। पहले भी नहीं थी और बाद को भी शायद एक दिन नहीं रहेगी। एकनिष्ठ प्रेम और सतीत्व ठीक एक ही वस्तु नहीं है यह बात पृ० ८७) यह निश्चय है कि शरद की सतीत्व की परिभाषा मर्म ही नीतिज्ञों को अग्राह्य हो वह तन की वस्तु न होकर मन की दीप्ति बन जाता है। जहाँ मन की पवित्रता है वहाँ तन की मजबूरी मजबूरी ही है न अपवित्रता है न पवित्रता। कहने का तात्पर्य यह है कि समाज-व्यवस्था बाहर को बाँधती है भीतर के अपने नियम हैं और उन्हें कोई भी नियामक नहीं छू सकता। इस दृष्टि से देखने पर मानव-धर्म सतीत्व से कहीं बड़ा हो जाता है क्योंकि वह खोलता है बाँधता नहीं। जैनेन्द्र भी नारी से संपूर्ण नारीत्व की माँग करते हैं केवल मात्र सतीत्व की नहीं। "त्यागपत्र" में असली मृणाल को उन्होंने नारीत्व का प्रतीक बनाया है।

जैनेन्द्र के उपन्यासों में बौद्धिकता के साथ-साथ जो भाव-विदग्धता झलकती है उसका भी मूल-स्रोत शरद में ढूंढ़ा जा सकता है। वास्तव में यह चीज शरद और रवीन्द्र दोनों में है और शरद को रवीन्द्र से ही प्राप्त हुई है। "रवीन्द्रनाथ" शीर्षक अपने निबन्ध में शरच्चन्द्र ने रवीन्द्र के उपन्यास "चोखेरबाली" के अपने मन पर पड़े प्रभाव को इस प्रकार आलेखित किया है "इसके बाद आया बंग-दर्शन के नवीन संस्करण का युग। उसमें उन दिनों रवीन्द्रनाथ की "चोखेरबाली" (आँख की किरकिरी) धारावाहिक रूप से प्रकाशित हो रही थी। उसमें भाषा और भाव प्रकाशन की शैली का एक नया प्रकाश देख पड़ा। उस दिन की वह गहरी और सुतीक्ष्ण आनन्द की स्मृति मैं कभी न भूलूंगा। कोई कुछ इस तरह कहा जा सकता है दूसरे की कल्पना के चित्र में पाठक अपने मन को इस तरह से आँखों से देखना चाहता है यह बात इससे पहले कभी सपने में भी नहीं सोची थी। इतने दिनों में केवल साहित्य का नहीं अपना भी वैसा एक परिचय पाया। बहुत पढ़ने से ही बहुत पाया जाता है यह बात सत्य नहीं है। बहुत थोड़े ही पन्ने तो हैं उनके बीच में जिन्होंने इतनी बड़ी सम्पत्ति उस दिन हम लोगों के हाथ में पहुँचा दी उन के प्रति कृतज्ञता बताने की भाषा नहीं मिलेगी।" (शरद निबंधावली पृ १०१ २) इसमें कोई संदेह नहीं कि रवीन्द्रनाथ की यह क्षमता अपूर्व है। शरद भी रचनाओं में भी वे उसकी पुनरुक्ति नहीं कर सके हैं। फिर भी भावों के उत्थान-पतन और हृदय के आलोड़न-विलोड़न का जैसा सूक्ष्मातिसूक्ष्म और ठलस्पर्शी आंकलन रवीन्द्र में है। वह साधारण मनोविज्ञान की पकड़ के बाहर है। कवि की पारदर्शी दृष्टि ने "हिरण्मयम पात्र" के ऊपर के ढक्कन को हटाकर "सत्य" के दर्शन किए हैं। उसकी तुलना दोस्तोवेस्की और टाल्सटाय की कला से ही हो सकती है। यह कवि की अपनी उपलब्धि थी। शरद उतने सूक्ष्म नहीं बन सके हैं उनमें कवि का मर्मभेदी भावबोध नहीं है। परन्तु भावों के घात-प्रतिघात को सजीव और रससिक्त उन्होंने भरपूर किया है और मन के भीतर झांकने में वे सम्पूर्णतया सफल रहे हैं। रविबाबू कवि होने पर भी अपने औपन्यासिक जगत में ज्ञान-विदग्ध हैं कवि की आँखों से उन्होंने मन के बदलते व्यापारों को देखा है परन्तु आँकते समय वे लेखा-जोखा लेने वाले व्यापारी बन गये हैं। इसके विपरीत शरद प्रेम विभोर हैं वे अपने पात्रों में घुसकर एकरस हो गये हैं। अपना द्वित्व रह ही नहीं गया है। इसी कारण उसकी भाषा रससिक्त है भावभरी है, भीतर पैठने की उसकी क्षमता अपूर्व है। उनकी दृष्टि चाहे जो हो उनकी अभिव्यंजना रसात्मक है।

इस दृष्टि से जैनेन्द्र को देखें तो यह स्पष्ट हो जाता है कि वे न तो शरद के पास ही पहुँच सके हैं न रवीन्द्र की "चोखेरबाली" वाली कला को उन्होंने आत्मसात किया है। वास्तव में उनके साहित्य पर शैली की दृष्टि से उत्तर रवीन्द्र का प्रभाव है। उत्तर रवीन्द्र की भाषा में एक उच्च कोटि का बौद्धिक आभिजात्य है और उसकी अपीम प्रस

लिए सीमित है। जैनेन्द्र की रचनाओं के सम्बन्ध में भी यही बात कही जा सकती है। फिर भी बीच-बीच में शरत की मर्म-भेदिनी अन्तर्दृष्टि और गलिताश्रु भावुकता उनकी लेखनी की नोक पर नजर आई है।

"सुनीता" 'मुखदा' और" विवर्त" को लेकर रवीन्द्र के 'घर-बाहिरे' और "चार अध्याय" की चर्चा चलती रही है। कहीं-कहीं यह चर्चा कटु भी हो गई है। अब यह देख लेना आवश्यक है कि जैनेन्द्र रवीन्द्र को किस दृष्टि से देखते हैं और उन्होंने उनसे क्या पाया है? "रवीन्द्रनाथ ठाकुर" शीर्षक एक वार्ता में जैनेन्द्र ने रवीन्द्र से अपनी दो भेंटों का उल्लेख किया है और इसी प्रसंग में व "घरे-बाहिरे" और "चार अध्याय" के सम्बन्ध में भी कुछ कह गए हैं।

जैनेन्द्र ने बतलाया है कि उन्होंने रवीन्द्र को काफी छोटेपन में पढ़ना शुरू किया। छठी-सातवीं कक्षा में अंग्रेजी में "काबुलीवाला" देखने की याद है। तब उस समय बारह वर्ष के रहे होंगे। पहली बार जब सन् १०—२१ में कवि गुरु से भेंट हुई तो पच्चीस-छब्बीस वर्ष के तरुण थे और "परख" लिख चुके थे। इसी वर्ष यह रचना हिन्दुस्तानी एकादमी द्वारा पुरस्कृत भी हुई। इस भेंट के अवसर पर जब पंडित बनारसीदास चतुर्वेदी के आग्रह पर रवीन्द्रनाथ ने हिन्दी के लेखकों को संदेश देते हुए कहा कि उन्हें लिखने में साफ होना चाहिए, सादा सीधा (अंग्रेजी के शब्द थे स्ट्रेट, सिम्पल और डायरेक्ट) तो जैनेन्द्र ने पूछा आपने डायरेक्ट कहा और सिम्पल भी। आपकी भाषा तो अलंकृत लगती है और गूढ़। सीधी कहां? उसमें तो घेर और पेंच दीखते हैं। कवि ने अपने ढंग से उनका समाधान कर दिया यह कह कर कि वह (जैनेन्द्र) उनका अनुकरण न करें न अन्य किसी का अनुकरण करें तो अपना। अपनी शैली में निजत्व हो। यह जैनेन्द्र के कला-पक्ष को समझने के लिए महत्त्वपूर्ण है क्योंकि जैनेन्द्र की भाषा-शैली में "निजत्व" है और साथ ही घेर और पेंच भी कुछ है। रवीन्द्रनाथ की बौद्धिक अतिशीलित अभिजात्यपूर्ण और विभ्रममयी शैली के प्रति उनका आकर्षण है और मूल तक जाने की चेष्टा में थोड़ी-सी दर्शन-सम्बन्धी दुरूहता अनिवार्य भी है। वास्तव में जैनेन्द्र की भाषा में भी उनके व्यक्तित्व के समान ऐंठ है सरलता और ऋजुता है परन्तु अक्सर चालाकी से कभी दाव खाने की घटना भी है। "सुनीता" में "चोखेरबाली" की बारीक चित्रकारी है परन्तु उनकी बाद की रचनाओं में व्यंग हास-परिहास और संवादों की योजना में उपन्यास कौशल की बुद्धिवादिता है। ये रचनाएं रसपरक न होकर मूल्यात्मक हैं और इनमें समस्याओं पर विशेष आग्रह है। जो हो इसमें संदेह नहीं कि जैनेन्द्र ने जहां शरत से भाव-बोध पाया पीड़ा का दर्शन पाया नारी के मूल्य-सम्बन्धी दृष्टि पाई वहां रवीन्द्र ने कथा खड़ी करने के लिए ढांचे दिए और नई भंगिमामयी भाषा-शैली दी। यह ऋण उतना स्पष्ट नहीं थी। स्वयं शरत पूर्ण रवीन्द्र से प्रभावित है। उन्होंने "चोखेरबाली" की विभ्रममयी मन की चित्रवृत्ति काव्यरसात्मक अभिव्यंजना-शैली की बड़ी प्रशंसा की है और उसकी तरलता एवं भाव

विचक्षणता से वे अपने साहित्य में काफी ले सके हैं परन्तु उत्तर रवीन्द्र पूर्व रवीन्द्र से एक दम भिन्न हैं। यहाँ वे सूक्ष्मदर्शी बुद्धि-व्यवसायी और व्यंग-परिहास पुष्ट-प्राण शैली का प्रयोग करते हैं। इसी शैली में रवीन्द्र का अभिजात्य अधिक सुरक्षित है। शरत सम्माम्य हैं उनको छूते हैं सरसता उनके साहित्य का प्राण है। वे बुद्धिवादी न होने की भावना को भी सहन करने को तैयार हैं। यह अवश्य है कि उन्होंने रवीन्द्रनाथ की औपन्यासिक शैली को अपनाया है जो कथा के बीच में सामाजिक और राजनीतिक समस्याओं पर वाद-विवाद का समय निकाल लेती है परन्तु रवीन्द्रनाथ की तरह वे इन प्रसंगों का विस्तार नहीं करते ('गोरा' इसी से बोझल हो उठा है)। वे प्रेम की व्यथा उभारते हैं 'जग-बीती' नहीं कहते। जैनेन्द्र ने इस विषय में मध्यम मार्ग को ही ग्रहण करना चाहा है यद्यपि वह रवीन्द्र की तर्कवादिता और वैचारिक ऊहापोह की ओर अधिक झुके हैं। इन्हीं अंशों में उनके साहित्य में रस की उपलब्धि भी कम हुई है।

परन्तु शैली ही नहीं वक्तव्य में भी उन्हें रवीन्द्र से बहुत कुछ मिला है। यह स्पष्ट है कि पहली भेंट के बाद ही "सुनीता" उन्होंने लिखी और लिखते समय "घरे बाहिरे" (१९१३) उनके सामने थी। दूसरी भेंट में इस रचना का उल्लेख भी रवीन्द्र के सामने हुआ और जैनेन्द्र ने उनके मंतव्य को समझने के लिए एक प्रश्न भी किया जो यों है 'क्या आपका अभिप्राय यह है कि घर और बाहर के बीच में रेखा होनी चाहिए? किंचित् विरोध और वैमुख्य। 'घरे-बाहरे' का संदीप मानों बाहर की ओर प्रहार है। घर के अंतरंग को उससे अपने को बचाये रखना है। बाहर बहिर्गत और बहिष्कृत ही रहे। अन्दर स्वीकृत होने देना मानो विपदा मोल लेना है। क्या वस्तु-स्थिति और "घरे-बाहरे" की परिणति यही है? इच्छा थी कि पूछूँ कि संदीप को वैसा तुच्छक लहरी का सा रूप दे कर आपने यही बतलाना चाहा है।' रवीन्द्रनाथ ने जो उत्तर दिया है वह साप्ताहिक 'हिन्दुस्तान' में प्रकाशित एक संस्मरण में विस्तृत रूप से आया है, परन्तु इस वार्ता में कवि ने संदीप को पश्चिम से आई वस्तु-वृत्ति का प्रतीक माना है और उसे पराजित होना ही अनिवार्य बताया है। जैनेन्द्र के शब्दों में "उनके कहने का भाव था कि पश्चिम से एक वस्तु-वृत्ति का प्रवेश हुआ है। वह बल को जानती है, वह स्फीत है और दुर्दान्त। वह आखेट के लिए निकली है। मानो सब उसको भूख के लिए भोज्य है। यही उसके होने की सार्थकता है कि वह भाग में आए। बरबस यह वसुधा प्रभुता बनना चाहती है पर मानव संस्कृति क्षण के लिए भूमि भले दे देगी। वह नष्ट न होगी नष्ट न होने। अंत में आत्म सात्मोन्मुख होगी। संदीप में वही वस्तु-वृत्ति है। उसे परास्त और पराजित होना है।" यह साफ़ है कि जैनेन्द्र इस व्याख्या से पूर्ण रूप से संतुष्ट नहीं हैं क्योंकि उन्होंने "घरे-बाहरे" और 'सुनीता' के मंतव्यों को अपने ढंग पर समझाया है और दोनों दृष्टिकोणों की तुलना की है। परन्तु फिर भी रवीन्द्र साहित्य के मूल तत्व को उन्होंने स्वीकार ही किया है। इसकी विवेचना उन्होंने यों की है "चार अध्याय" में क्या है? "घर और बाहर" में क्या

है ? मानो मनुष्य की अहम्मन्यता में छिपी हुई निषेध-वृत्ति का प्रतिरोध और प्रतिक्रमण है। हठपूर्वक कभी और जैसा ने चाहा कि वह अपने स्नेह को अस्वीकार करेगा लेकिन रवीन्द्रनाथ ने बताया कि यह व्यर्थ चेष्टा है। इसमें पराजय निश्चित है और शुभ है। मनुष्य की जय संधि में है, सामञ्जस्य में है, विग्रह और विमर्श में नहीं है। व्यक्ति की स्पर्धा को निखिल के समक्ष उन्होंने सदा परास्त दिखाया है। मानो मानव-दर्प मानव-हीनता का ही परिचायक है और मानव-संपूर्ति प्रेमार्पित उसके आत्मिक्य में ही है। यह उनका संदेश मुझे तो उनकी रचनाओं में स्पष्ट मुखरित दीखता है और अपने शब्दों में अन्य प्रकृति की अकुण्ठित स्वीकृति कहना चाहूँगा।" (वे और वे पृ० १६) क्या जैनेन्द्र के अपने उपन्यासों में यही मूल वक्तव्य नहीं है ? सुनीता में 'सुखदा' में 'विवर्त' में "व्यतीत" में। यही क्यों "त्यागपत्र" में प्रमोद की अहम्मन्यता ही तो मृणाल के स्नेह से हारी है और "कल्याणी" में स्नेह को अस्वीकार करने की मर्मान्तक वेदना ही तो कल्याणी को तोड़ देती है। मानव की प्रकृति ही प्रेममयी है और इसी मूल प्रकृति का निषेध और प्रतिक्रमण की अहंतामयी प्रवृत्ति पर लिखना ही उपन्यास का ध्येय है। आदमी अकुण्ठित मन से अपना सब कुछ दूसरे को दे सके अपने को बचाये नहीं रखे। यही जैनेन्द्र का संदेश है। यही क्या रवीन्द्र का मूल वक्तव्य नहीं है जैसा जैनेन्द्र ने उन्हें समझा है ?

रवीन्द्र का पहला उपन्यास "बौ ठाकुरानीर हाट" (१८८३) है। यह प्रारंभिक रचना है और इस पर बंकिम की उपन्यास-कला का प्रभाव स्पष्ट है। दूसरी रचना "चोखेरबाली" (१९०३) में भी कवि ने बंकिम की भाँति सामाजिक प्रश्न को परिपार्श्व में रखा है परन्तु उसका आलोकन एकदम नवीन है। मन के क्षण-क्षण में योगायोग को बड़ी सूक्ष्मता से पकड़ा गया है और पात्रों के अंतर्जगत् में प्रवेश कर लेखक ने एक नए ही संसार का उद्घाटन किया है जो मनः प्रेरणाओं पर आधारित है। इसी क्रम के लगभग "नौका डूबि" प्रकाशित हुआ जिसमें रोमांस की परंपरा ही निबाही गई है। रवीन्द्र की उपन्यास-कला का उन्मेष हमें "चोखेरबाली" (१९०३) "गोरा" (१९१०) "चतुरंग" (१९१६) और "घरे-बाहिरे" (१९१६) में मिलता है। इन उपन्यासों की सामग्री रसात्मक है और इनमें भाव की विलक्षणता के साथ कुछ मूल समस्याओं पर तर्क-वितर्क भी मिलते हैं। "गोरा" इन रचनाओं में सबसे सुन्दर है और उसको हम निस्संदेह एक महान् कृति कह सकते हैं। परन्तु इसमें भी कथा की शृंखलाएँ खुली रह गई हैं और निष्कर्ष दुर्बल है। शिल्प की दृष्टि से "चोखेरबाली" और "चतुरंग" कहीं श्रेष्ठ हैं। "घरे बाहिरे" के प्रारंभिक पृष्ठों में मनोवैज्ञानिक संघर्ष को धीरे-धीरे और बड़ी भावुकता से चित्रित किया गया है परन्तु उत्तर-पृष्ठों में घटना-चक्र जिस तीव्र गति से घूमता है वह अस्वाभाविक है और उपन्यास के पूर्व भाग से उसका मेल नहीं बैठता। "सुनीता" "सुखदा" और "विवर्त" में कथा की यही स्थिति है क्योंकि ज्ञात-अज्ञात रूप से ये उपन्यास "घरे बाहिरे" से प्रभावित हैं। "सुखदा" और "चार अध्याय" में प्रसंग और भावना का साम्य है। परन्तु इस रचना में भी "घरे-बाहिरे" को एकदम भुला नहीं दिया गया है।

पीकर भी उन्होंने अपने भीतर के अमृत का दान अपनी प्रेमी को किया है। यही बात शरत् के उपन्यासों में भी है। जैनेन्द्र में भी यही बलिदानमयी आत्मदानी नारी उभरी है और खूब उभरी है। वास्तव में जैनेन्द्र को हम प्रेमचन्द की परम्परा से अलग रवीन्द्र-शरत् की परम्परा में रख कर देख सकते हैं। तभी शायद हम उनके साथ अधिक न्याय कर सकेंगे और उनके विचारसूत्रों में पूर्वापर सम्बन्ध स्थापित कर पाएंगे।

"घरे-बाहरे" आत्मकथात्मक उपन्यास है जिसमें विमला (मधुरानी) निखिल और संदीप बारह अध्यायों में अपनी कथा कहते हैं। सभी अध्यायों में तीनों पात्र हमारे सामने नहीं आते परन्तु फिर भी कथा को सीधी गति मिल जाती है। कथा इन्हीं तीनों पात्रों को बीच में रख कर चलती है यद्यपि निखिल के गुरु मास्टर साहब अर्थात् चंद्रनाथ बाबू अमूल्य (संदीप का सहायक किशोर जो अपनी सहज मातृभक्ता से मधुरानी के मन में वात्सल्य जाग्रत करता है) ननद (बड़ी रानी) और कुछ अन्य पात्र भी कथा की चित्रपटी बनाते हैं। कथा निखिल की उदारता मधुरानी के बहिर्गमन और संदीप की क्रान्तिकारिता के पीछे छिपी कामकुण्ठाजन्य दुर्बलता से सम्बन्धित है।

कथा इस प्रकार है निखिल की छोटी-सी जमींदारी है। बहुत कम अवस्था में जब वह कलकत्ते में छात्र था उसका विवाह विमला से हो गया है। वह एम० ए० पास कर लेता है और साथ ही विमला को भी शिक्षिता बनाता है। उसे अंग्रेजी पढ़ने के लिए मिस गिल्बी की नियुक्ति होती है। धीरे-धीरे विमला एक नए संसार से परिचित होती है परन्तु पति प्रयत्न करने पर भी परिवार के पुराने संस्कारों को नहीं तोड़ पाता। निखिल चाहता है कि विमला उसे समानता की भूमि पर मिले[1]। परन्तु विमला इतनी दूर जाने के लिए तैयार नहीं है। उसे अपने सौभाग्य का गर्व है। पति उसे परदे से बाहर ले आना चाहता है कहता है, कि बाहर का संसार तुम्हें चाहता है। घर स्त्री की शक्ति को परिसमाप्त नहीं कर दे,—वह उसके लिए नहीं बनी है। प्रेम की सार्थकता यही है कि वह बाहरी विश्व के बीच में प्रतिफलित हो। वैवाहिक जीवन की प्राचीरों में बन्दी प्रेम अपनी स्वाभाविकता खो देता है। सम्भव है, बाहर की मुक्त हवा उसे कुछ अधिक नहीं दे सके परन्तु इस भय से ऐसा प्रयत्न ही नहीं हो यह ठीक नहीं है'। यही सोच कर

---

1 My husband used to say that man and wife are equal in lo-e because of their equal claim on each other I never argued the point with him, but my heart said that devotion never stands in the way of true equality- it only raises the level of the ground of meeting. Therefore the joy of the high equality remains permanent Ii never slides down to the vulgar level of triviality (The home and the world p 7)

निखिल विमला को कलकत्ता ले जाना चाहता है।

परन्तु इसी समय स्वदेशी आन्दोलन उठ खड़ा हुआ और निखिल की उदारता की परीक्षा शुरू हुई। विमला स्वदेशी आन्दोलन के प्रवाह में बह जाती है परन्तु निखिल इतनी दूर तक नहीं जा सकता। वह "वन्देमातरम्" की भावना को सम्पूर्ण रूप से स्वीकार नहीं कर पाता। देश के एक बड़े सत्य को लेकर वह चलना चाहता है। फलस्वरूप पत्नी और पति के मार्ग भिन्न होते जाते हैं।

तभी संदीप बाबू जिले के प्रमुख कार्यकर्ता और नेता के रूप में सामने आते हैं। संदीप निखिल का कालिज के दिनों का मित्र है। उसके चित्र विमला ने देखे हैं परन्तु उसके भाषण को सुन कर विमला उसके व्यक्तित्व से प्रभावित हो जाती है। उसे अपना भान नहीं रहता कि वह राजा के घर की है। वह बंगाल के नारीत्व की प्रतीक बन जाती है।

संदीप घर आता है और बाहर के बैठके में ठहर कर विमला भी उससे मिलती है। संदीप भी विमला से कम प्रभावित नहीं होता। वह विमला को आकर्षित करना चाहता है, यह कह कर कि तीस वर्ष की आयु में वह मर जायगा अब सताईस का है। यह उसकी जन्मपत्री में है। विमला कहती है कि उस के आशीर्वाद से ग्रह-दोष नष्ट हो जायगी परन्तु संदीप कहता है कि देश की वाणी देवी के मुख से बोले यह वह चाहता है। वह कार्यक्षेत्र में उतर आए और उसके लिए वरदान बन जाए।

धीरे-धीरे संदीप का विमला के प्रति आकर्षण बढ़ता है। वह रंगपुर नहीं जाता वहीं रह जाता है और वहीं से अपने कार्यसूत्रों का संचालन करता है। चन्द्रनाथ बाबू निखिल के मास्टर रह चुके हैं। परिवार से उनका गहरा सम्बन्ध है। वह इस परिस्थिति

---

२ I would have you come into the heart of the outer world to meet reality. Merely going on with your household duties, living all your life in the world of household conventions and the drudging of household tasks—you were not made for that! If we meet and recognise each other in the real world then only will over love be true. (Ibid p. 12)

१ The greedy man who is found of his fish stands no compunction in cutting up according to his need. But the man who loves the fish wants to enjoy it in the world and if it is impossible he waits on the bank and even if he comes back home without a sight of it he has the consolation of knowing that fish is all right. Perhaps is the best of all but if that is impossible then the next best gain is perfect losing. (Ibid, p. 13)

को समझ लेते हैं परन्तु उसे बदलने में असमर्थ हैं। संदीप निखिल की उदारता को उसकी दुर्बलता समझ कर आक्रामक हो उठता है और इससे निखिल के भीतर क्षोभ का जन्म होता है। यह नहीं कि विमला इसे नहीं समझती। परन्तु वह पीछे नहीं लौट सकती। संदीप जब शक्ति का प्रचार करता है तो उसे यह आभासित होता है कि उसी के द्वारा देश को मुक्ति प्राप्त होगी। स्वयं संदीप यह समझ जाता है कि वह वास्तविकता से हट कर [illegible] के बीच में आ गया है परन्तु इस चक्रव्यूह के बाहर जाने का मार्ग वह नहीं जानता। फलस्वरूप द्वन्द्व की सृष्टि होती है। धीरे-धीरे संदीप अन्तःपुर में भी प्रविष्ट हो जाता है और रोकने पर वह दरबान का अपमान करता है। मधुरानी (विमला) भी उसी का पक्ष ग्रहण करती है। निखिल दरबान को दंडित न कर उसे दूसरी जगह भेज देता है परन्तु स्वयं बीच से हट जाता है।

लेखक ने इस विक्षोभ में जो वैमनस्यपूर्ण व्यथा उभारी है जो मन का सूक्ष्म आलोडन-विलोडन उल्लिखित किया है वह अपूर्व है। सारी कथा बड़ी सूक्ष्म गति से चलती है। संदीप की नौकरी प्रतिदिन बल प्राप्त करती जाती है। स्वदेशी आन्दोलन की प्रतिक्रिया भी [illegible] मनोवृत्ति का भी लेखक ने चित्रण किया है जो देशभक्ति के नाम पर अन्य लोगों की स्वतन्त्रता पर गहरा आघात करती है। पंचू निखिल का नौकर है। वह हरीश कुंडू की जमींदारी में रहता है। विदेशी कपड़ा को बेच कर वह अपनी गृहस्थी चलाने लगता है परन्तु उससे कहा जाता है कि वह सारे विदेशी कपड़ों को जला दे। संदीप भी हरीश के साथ है और इस प्रसंग को लेकर निखिल के साथ उसका संघर्ष हो जाता है।

इसी बीच में संदीप मधुरानी से रुपये की माँग करता है। स्वदेशी आन्दोलन का नाम [illegible] गया है और बहुत-सा रुपया चाहिए। पचास हजार रुपये काफी रहेंगे। विमला सोचती है कि जेवर बेच कर इतना धन जुटा दे परन्तु संदीप कहता है कि यह रुपया महाराजा के खजाने से आए। रुपया देश का है उसे मिलना चाहिए। विमला अमूल्य को बुला कर पूछती है कि महाराजा के खजाने से रुपया मिल सकता है या नहीं। अमूल्य जानता है कि खजांची यों ही रुपया नहीं देगा। रुपया बड़े कठिनाई से ही मिलेगा। वह जेब से निकाल कर गीता की एक प्रति विमला के सामने डाल देता है। और फिर पिस्तौल। विमला चकित रह जाती है। वह उसे विरत करती है—वह जेवर देगी। वह अमूल्य को मना कर देती है। उधर संदीप अगले दिन ही पाँच हजार रुपया चाहता है।

एकाएक मधुरानी के मन में एक बात आती है। प्रत्येक 'पूजा' को निखिल मँझली भौजाई के नाम छः हजार रुपये बैंक में जमा करता है। इस वर्ष रुपया खजाने से निकल कर आ गया है परन्तु अभी निखिल को अलमारी में रखा हुआ है फलस्वरूप नहीं भेजा जा सका। विमला आज ही निकाल लेगी। वह यह चोरी करती है और रुपया संदीप के हाथ में दे देती है। रुपया गिन्नियों के रूप में है। चमकते हुए सिक्के जब दिखलाई पड़ते हैं

तो अमूल्य संदीप के लोभ से त्रस्त हो जाता है चाहिए उसे साढ़े तीन हजार ही। वह चाहता है कि शेष रुपया संदीप लौटा दे परन्तु संदीप राजी नहीं है। उधर विमला अमूल्य को बुला कर अपना जेवर देती है कि वह बेच कर छ हजार ला दे जिससे वह उन्हें निखिल की सेफ में वापिस रख दे। परन्तु अमूल्य जेवर न बेच कर खजाने में चोरी कर लेता है और रुपये के साथ जेवर लौटा देता है। खजाने में डाका पड़ने से हलचल मच जाती है और मास्टर के कहने पर निखिल को उन छ हजार की याद आती है जो उसने सेफ में रखे हैं। वह कलकत्ता जाने को तैयार हो जाता है परन्तु अंत में उसे पता लग जाता है कि रुपया दे दिया है। रुपया कहाँ पहुँचा है यह वह जानता है। उधर विमला के जेवर संदीप के हाथ पड़ जाते हैं और वह लौटाए जेवरों को भी देश के काम के बहाने हथियाना चाहता है। देश के काम के लिए उसे अगाध रुपया चाहिए। परन्तु इससे वह विमला की आँखों में गिर जाता है। वह इन जेवरों को अपनी ओर से उपहार के रूप में विमला को देना चाहता है परन्तु अमूल्य को विमला की आँखों में ऊँचा देख कर उसके प्रति प्रतिद्वंद्वी बन जाता है। एक अमली के साथ वह खिंचा होता है।

संदीप निखिल की जमींदारी में हिन्दू-मुसलिम दंगा करा देता है। निखिल अपने प्राणों पर खेल कर उसे शांत करने जाता है और आहत हो कर लौटता है। अमूल्य इस दंगे में गोली का शिकार बन जाता है। अंतिम दृश्य में हम अनुतप्त पत्नी का पति की ओर प्रत्यावर्तन देखते हैं। इस प्रकार इस उपन्यास में "घर" पराजित नहीं हुआ है "बाहर" ही भागा है। इस उपन्यास में रवि बाबू ने नारी के स्वतंत्र कर्तृत्व की सीमाएँ दिखलानी चाही हैं और विमला के प्रत्यागमन से नारी का सनातन दृष्टिकोण ही पुष्ट हुआ है—कि उसका कर्तृत्व पति के साथ है, घर में है बाहर नहीं है।

"चार अध्याय" सौ पृष्ठों का लघु उपन्यास है। जैनेन्द्र की 'भुवनमोहिनी' इस उपन्यास की इला से बहुत मिलती जुलती है और "सुखदा" और "विवर्त" दोनों में इसकी पृष्ठभूमि और कथा का उपयोग हुआ है।

इला के पिता नरेशदास पुत्र पुत्री को विकास के लिए स्वतन्त्र छोड़ देते हैं। वे विलायती विश्वविद्यालय से साइकालोजी की डिग्री लेकर आए थे और आधुनिकता में उनका विश्वास था। प्रोफेसर थे। आचार-विचार में वे बड़े उदार थे परन्तु इला की माँ पुराने संस्कारों में बँधी हुई थी। इला कलकत्ते में बोर्डिंग में रह कर पढ़ी। माँ कुछ दिनों बाद चली गईं और फिर पिता भी चले गए। इला को चाचा सुरेश और चाची मावली का आश्रय मिला। चाचा का उस पर अपार स्नेह था परन्तु चाची सुरमा बेटी के भविष्य के लिए यही अच्छा समझती थी कि इला पास नहीं रहे। उन्हीं दिनों इन्द्रनाथ का आगमन हुआ। देश के छात्र उसे चक्रवर्ती नरेश की तरह मानते थे। इला ने उनके पास पहुँच कर काम चाहा और लड़की की दीप्ति पर चकित हो कर इन्द्रनाथ ने सम्प्रति लड़कियों के लिए खुले नारायणी हाईस्कूल में उसे अध्यापिका का पद दिला दिया। साथ ही इला से यह प्रतिज्ञा ले ली कि वह गृहस्थी के बन्धन में किसी दिन आबद्ध न होगी। वह समाज की नहीं देश की है।

एला कलकत्ते चली गई।

वहां क्रान्तिकारियों के एक दल से उसका परिचय गहरा होता गया। इन्द्रनाथ ही उनका नेता था परन्तु वह नहीं चाहता था कि एला में भावुकता जाग्रत हो। उसके दल में अनुशासन के नियम कड़े थे। वह एला को प्रेरणा-मात्र बनाना चाहता था। परन्तु प्रतीन (प्रतीन्द्र) उसका पुराना बाल सखा था। इन्द्रनाथ के इस सिद्धान्त को वह नारी के लिए अपमानजनक मानता था। "सुखदा" में हरिश और लाल की विचारधारा का जो द्वन्द्व है वही मूल-रूप में यहां उपस्थित है। जैनेन्द्र ने उसे अपेक्षाकृत अधिक विस्तार दे दिया है।

उपन्यास में चार अध्याय हैं। पहले अध्याय में हम एला को कन्हाई बाबू की चाय की दूकान पर क्रान्तिकारी दल 'लड़कों' की प्रतीक्षा करते पाते हैं। इन्द्रनाथ ने उन्हें मना कर दिया है और दल से एला को दूर रखने के प्रयत्न में उसके नाम से एक वेद पत्र में दिया है जिसमें वह बंगाली छात्रों की उच्छृंखलता को लांछित सिद्ध करती है। इन्द्रनाथ का कठोर चरित्र यहां सामने आता है। वह जानता है कि एला प्रतीन से प्रेम करती है परन्तु यह उसके क्रोध का कारण नहीं है। वह कहता है एला से 'किस तरह तुम स्वयं समझोगी कि तुम्हारे हाथ का भाल चन्दन का तिलक लड़कों के मन में कैसी आग बना देता है।" हम कामिनी-कांचन त्यागी नहीं हैं। जहां पर कांचन का प्रभाव पड़ता है, वहां मैं कांचन की अवज्ञा नहीं करता। जहां कामिनी का प्रभाव है, वहां मैंने कामिनी को वेदी पर बैठाया है। परन्तु जब एला पूछती है कि उपद्रवों की आशंका रहने पर भी उसने स्त्री-पुरुष को एकत्र क्यों किया है, तो वह कहता है 'जिस सन्यासी ने शरीर पर भस्म पोत रखा है और जिस भस्म-कुण्ड ने प्रवृत्तियों को राख बना दिया है उन नपुंसकों से काम नहीं चलेगा इसीलिए जब मैं देख चुका कि हमारे दल के किसी अग्नि उपासक ने असावधानी से अपने ही अन्दर अग्निकाण्ड मचाना शुरू कर दिया है तब मैं उसे हटा चुका था। हम लोगों का अग्निकाण्ड सर्वव्यापी है बुझाए हुए मन से वह असम्भव नहीं होगा और उन लोगों से भी वह न हो सकेगा जो लोग आग को बचा रखना नहीं जानते।"

दूसरे अध्याय में हम मन्नू (प्रतीन) एला और अखिल को देखते हैं। अखिल सोलह या सत्रह वर्ष का किशोर है। एला के मन में उसके लिए वात्सल्य है। यहां हम मन्नू के अनुस्मरण के द्वारा एला-मन्नू के प्रेमी जीवन के विकास से परिचित होते हैं और मन्नू-बटु की प्रतिद्वन्द्विता की बात जानते हैं। यही बटु उपन्यास के अन्त में ईर्ष्या-वश मन्नू को पुलिस के हाथ में पकड़ा देता है। प्रतीन का दर्शन इन्द्रनाथ के ठीक विपरीत है। वह बनदेव का मुहरा नहीं बनना चाहता। नारी की महिमा उसके हृदय का ऐश्वर्य है। नारी को देव बना कर जो भावुकतापूर्ण फैला हुआ है उसका फैलाव यद्यपि ऊपर से देखने में थोड़ा जान पड़ता है तो भी हृदय में उसकी गम्भीरता की कोई सीमा नहीं है—वह छिछला नहीं है। वह नारी को शक्ति की प्रेरणा मात्र नहीं बनाना चाहता उसकी भावुकता का सहज योग-दान चाहता है।

तीसरे अध्याय में इन्द्रनाथ की ओर से मना होने पर भी एला अतीन के निवास स्थल पर उससे मिलती है। एला अपना प्यार अतीन के चरणों पर रखना चाहती है अतः वह सोने का कण्ठहार भी उतार देती है कि यह क्रान्ति के काम आए परन्तु अतीन कुछ भी स्वीकार नहीं करता। वह एला के भावुकता-भरे बाहु-बन्धन को तोड़ कर चला जाता है। तभी इन्द्रनाथ आ जाता है और एला की भर्त्सना करता है। कहता है "तुमको मार सकता तो इसी क्षण मार डालता। जाओ घर, वापस चली जाओ। टैक्सी खड़ी है बाहर।"

चौथे अध्याय में स्वयं अतीन एला के निवास-स्थल पर आता है। इन्द्रनाथ की आज्ञा है कि वह उसे मार डाले। बटु पुलिस को ला रहा है और यह डरता है कि पुलिस के हाथ में पड़ कर एला मौन नहीं रह सकेगी। अखिल एला के पास है परन्तु वह उसे दूर भेज देती है। कठोर कर्म का साहस लेकर दाढ़ी लगा कर अतीन बगीचे के मार्ग से घुस आया है और वह एला के सामने प्रकट हो जाता है। अखिल सुरक्षित रहने के लिए बाहर भेज दिया जाता है और धीरे-धीरे एला पर स्थिति खुलती है। स्वयं अतीन के मन में भयंकर द्वन्द्व है। बटु ने कहा है कि यदि एला उससे विवाह कर ले तो हवालात में वह उसकी जमानत देकर दायित्व अपने ऊपर ले लेगा। परन्तु एला ने इस प्रस्ताव को लौटा दिया है। वह अतीन को प्रेम करते हुए मरना चाहती है। अन्तिम क्षणों को रवि बाबू ने अपूर्व भावुकता से पकड़ा है

एला ने अतीन के पैर पकड़ कर कहा "मार डालो मुझको अंतू अपने हाथ से। इससे बड़ा सौभाग्य मेरा कुछ भी नहीं हो सकता।
वह फर्श पर से उठ पड़ी खड़ी होकर अतीन को बार-बार चुम्बन देकर बोली मारडालो इस बार मार डालो।

यह कह कर उसने अपनी छाती के ऊपर की अंगिया फाड़ डाली।

अतीन पत्थर की मूर्ति की तरह कठोर बन कर खड़ा रहा।

एला ने कहा "जरा भी चिंता मत करो अंतू। मैं तो हूँ तुम्हारी पूर्ण रूप से तुम्हारी हूँ मरने पर भी तुम्हारी। ले लो मुझे। गन्दे हाथों को मत लगने दो मेरे शरीर पर। मेरा यह शरीर तुम्हारा ही है।

अतीन ने कठिन स्वर में कहा "जाओ अभी तुरन्त ही सोने के लिए चली जाओ। हुक्म दे रहा हूँ सोने के लिए चली जाओ।

अतीन एला का हाथ बलपूर्वक पकड़ कर उसे सोने के कमरे में ले गया बोला 'सो रहो अभी इस क्षण सो रहो। नींद में सो जाओ।

'नींद नहीं आएगी।"

"नींद आने की दवा है मेरे हाथ में।"

"कुछ जरूरत नहीं है अंतू। मेरी चेतना के अंतिम मुहूर्त को तुम छीन न लो। क्लोरोफार्म ले आए हो। उसको फेंक दो। डरपोक नहीं हूँ मैं तुम्हारी नींद में जागती रह मर सकूँ तुम वही काम करो। अन्तिम चुम्बन आज अनन्त हो गया। अंतू। अंतू।"

दूर से झिल्ली की आवाज सुनाई पड़ी।

"नौका डूबि" उपन्यास में हम एक ऐसी स्थिति पाते हैं जो "सुनीता" में सामने है। सुनीता में हरिप्रसन्न को लेकर जब श्रीकान्त घर में प्रवेश करता है तो वह छोटा कसे स्नान-बंधा बाल लिए आगे झुकाती दिखलाई देती है। "नौका डूबि" में रमेश कलकत्ता से लौट कर गाजीपुर आता है तो वह कमला को इसी तरह परिकरबद्ध देखता है। नया घर बसाने के उत्साह में कमला बराबर सफाई में लगी है और पकड़ी जाती है तो रमेश के हृदय में गुदगुदी होने लगती है। इस सन्दर्भ में कवि के चित्रण से 'सुनीता" का लेखक अनन्यतः प्रभावित है।[१]

"चोखेर बाली' के प्रभाव की विवेचना हमने 'परख' के प्रकरण में की है। इन रचनाओं से जैनेन्द्र ने प्रेरणा-मात्र ली है परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि उनके उपन्यासों की भावात्मक और विचारात्मक रूपरेखा के निर्माण में कवि की रचनाओं का योग-दान महत्वपूर्ण रहा है। उनकी अभिव्यंजना पर रवि बाबू के परवर्ती उपन्यासों की रेखा-विरल सांकेतिक कला का स्पष्ट प्रभाव है और उन्हीं की भांति बौद्धिकता का आग्रह भी है।

---

१ Household displays feminine beauty in its most varied and alluring forms and Kamla at her work reminded Ramesh of a bird freed from its cage and soaring aloft. Her radiant face and th[illegible] finished dexterity with which she went about her tasks gave h[illegible] new sensation of mingled words and delight. It was the first time t[illegible] he had beheld her in the guise of housewife She had as it were e[illegible] into her Kingdom and something of dignity was added to her bea[illegible]

(The Wreck PP 196-[illegible]